सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—१

संपादक—चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी ए०

विवेकानंद–ग्रंथावली।

ज्ञान-योग।

पहला खंड।

अनुवादक—जगन्मोहन वर्म्मा।
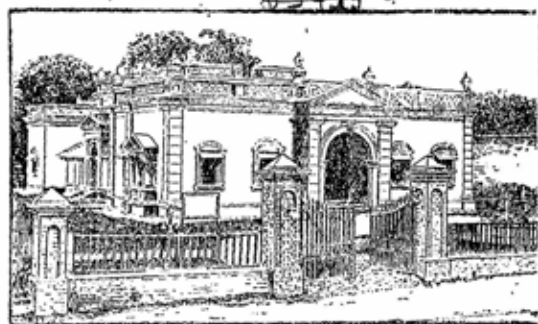
प्रकाशक

काशी नागरीप्रचारिणी सभा।

संवत् १९६८] [मूल्य २॥)

निवेदन ।
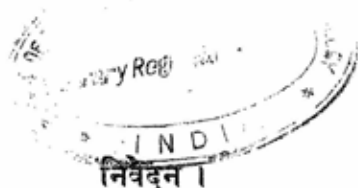
जब नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, ने मुझे सूर्यकुमारी पुस्तकमाला के संपादन करने की आज्ञा दी तब मैंने यह कार्य इसलिये स्वीकार किया कि इसके द्वारा स्वर्गवासिनी श्रीमती सूरजकुँवर (सूर्यकुमारी) देवी की स्मृति चिरस्थायिनी बनाने में यथाशक्ति कुछ न कुछ सहायता मैं भी कर सकूँ। श्रीमती को मैं अपनी स्वामिनी कहूँ, या भगिनी कहूँ या शिष्या कहूँ—किसी न किसी संबंध से श्रीमती के पुण्यमय नाम के साथ मेरी आत्मीयता है।

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित-शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वे दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराजा श्रीरामसिंहजी को छोड़ कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) की चांपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्याएँ और एक

पुत्र । ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा अजीतसिंहजी और रानी चांपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति संचित-कर्मों के परिणाम से दुःखमय ही हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है, अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेंस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगना पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एक-मात्र चीरंजीव प्रतापगढ़ के भँवर श्रीरामसिंहजी से ही मातामह राजा अजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही।

उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवनकाल में दूसरा विवाह नहीं किया किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाय। मेरे पास उनके कई पत्र हैं जिनकी लिपि, भाषा और भाव सब उच्च कोटि के हैं। स्वर्गवास के कुछ समय पूर्व श्रीमती ने मुझे कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथ, व्याख्यान और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैत वेदांत, की ओर श्रीमती की रुचि थी। मैंने श्रीमती के निदेशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इसी संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। मेरे व्यवस्थापत्र बनाते न बनाते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपया श्रीमती के इसी संकल्प की पूर्ति के लिये विनियोग किया। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है।

स्वामी विवेकानंद के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायेंगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। इस ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय नीवी में जोड़ दी जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य और यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान लाभ। इस सत्पुरुषार्थ में किसी भी रूप से सम्मिलित होना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। जो जो पाठक इस ग्रंथमाला के ग्रंथों को पढ़ेंगे वे श्रीमती के हिंदी-प्रेम और पुण्य तथा श्रीमान् के दाक्षिण्य को मेरी तरह सराहेंगे।

इस ग्रंथमाला का पहला ग्रंथ स्वामी विवेकानंद के व्याख्यान (प्रथम भाग) है। मूलपाठ मायावती स्मारक संस्करण से लिया गया है। व्याख्यानों का मायावती संस्करण का क्रम नहीं रक्खा गया है, न तिथिक्रम रक्खा है, किंतु विषयक्रम से एक प्रसंग के व्याख्यान एक भाग या अधिक में साथ साथ दे दिए गए हैं। इस भाग का अनुवाद बाबू जगन्मोहन वर्मा ने किया है और मैंने अनुवाद को सावधानता से मूल से मिला लिया है।

आयुष्मान् राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी तथा स्वर्गवासिनी श्रीमती से मेरा जो व्यक्तिगत संबंध रहा है उससे मैं इस ग्रंथ-

माला के प्रकाशन से बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ। परमेश्वर इसके द्वारा श्रीमती की स्मृति और पुण्यकीर्ति को अक्षय रक्खे और श्रीमान् राजकुमार को अपने आर्यजुष्ट पत्नीव्रत के निबाहने का संतोष प्राप्त हो। 'कीर्तिरक्षरसंबद्धा स्थिरा भवति भूतले'।

अजमेर
४. ६. १९२१

श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी।

व्याख्यान-सूची ।

पृष्ठांक

स्वामी विवेकानन्द ।

विवेकानंद ग्रंथावली।

ज्ञान-योग।

पहला खंड।

(१) धर्म की आवश्यकता।

उन सारी शक्तियों में जो मनुष्य-जाति के भाग्य के विधान के लिये काम कर चुकी हैं और अब तक काम कर रही हैं, कोई ऐसी प्रबल नहीं है जैसी वह है जिसकी अभिव्यक्ति का नाम धर्म है। सारे सामाजिक संविधानों में पश्चाद्भूमि के रूप में, कहीं न कहीं, उसी अद्भुत शक्ति का ही काम है और सबसे बड़ी और दृढ़ उत्तेजना जो कभी मनुष्य-जाति में उत्पन्न हुई है इसी शक्ति के प्रभाव से मिली है। यह हम सब लोगों पर प्रगट है कि बहुतेरी अवस्थाओं में धार्मिक बंधन, जाति के बंधन, देश के बंधन और कुल के बंधन तक से दृढ़तर प्रमाणित हुए हैं। यह प्रसिद्ध बात है कि एक ईश्वर के उपासक और एक धर्म में विश्वास रखनेवाले लोग, एक ही कुल के लोगों और यहाँ तक कि भाई भाई से भी अधिक प्रबलता और दृढ़ता से एक दूसरे की सहायता पर खड़े रहे हैं। धर्म के आदि का पता लगाने के लिये अनेक प्रयत्न किए जा चुके हैं। सारे प्राचीन धर्मों में जिनका

प्रचार अब तक हम लोगों में है इसमें उनका यह कथन मिलता है कि वे सब अपौरुषेय हैं; अर्थात् उनका प्रादुर्भाव किसी मानवी मस्तिष्क से नहीं हुआ है किंतु ऐसे स्थान से हुआ है जो उसकी पहुँच से बाहर है।

आधुनिक विद्वानों में इस विषय की दो बातों पर लोगों की कुछ कुछ सहमति है। उनमें एक तो प्रेत-पूजा है और दूसरी अनंतता का विकाश है। एक पक्ष का कथन है कि धार्मिक भावों का प्रारंभ पितरों की आत्मा की पूजा से हुआ है, दूसरे का कथन है कि उसका प्रादुर्भाव प्रकृति की शक्तियों में पुरुष के गुणों का उपचार करने से हुआ है। मनुष्य अपने पिता पितामहादि की स्मृति बनाए रखना चाहता है, उसकी समझ में वे शरीर के पंचत्व प्राप्त होने पर भी बने ही रहते हैं, वह उन्हें पिंडा-पानी देना चाहता है और एक प्रकार से उनकी पूजा करना चाहता है। उसीसे बढ़ते बढ़ते धर्म का यह रूप प्रगट हो गया है। मिस्र, बाबिलन, चीन और अमेरिका की कुछ जातियों और अन्य अन्य देशों के धर्मों के अध्ययन से यह जान पड़ता है कि उनमें इसके स्पष्ट चिन्ह मिलते हैं कि उनका धर्म इसी पितरों की पूजा ही से निकला था। प्राचीन मिस्रवालों में पहले यही आत्मा शरीर का दुहरा रूप ही मानी जाती थी। मनुष्य के शरीर के भीतर, उनके विचार से एक और शरीर रहता था, जो ज्यों का त्यों उसी रूप का होता था और जब मनुष्य मर जाता था तो यह दूसरा शरीर उस मृत शरीर से निकल जाता था, पर बना रहता था। पर

यह दूसरा शरीर तभी तक बना रहता था जब तक कि उस पहले मृत शरीर से कोई छेड़छाड़ न की जाती थी। और हम देखते हैं कि यही कारण था कि मिस्रवाले मृतक शरीर के ज्यों का त्यों बने रहने के लिये इतना अधिक प्रयास करते थे। यही कारण है कि उन लोगों ने अपने मुर्दों को रखने के लिये इतने इतने बड़े पिरामिड बनाए थे। कारण यह था कि उनकी धारणा थी कि यदि इस शरीर का कोई अंग-भंग हो जायगा तो दूसरे शरीर का भी अंग-भंग अवश्य हो जायगा। यह स्पष्ट रूप में पितर-पूजा है। बाबिलनवालों में भी वही दुहरे शरीर का सिद्धांत मिलता है, पर उसमें थोड़ा सा अंतर था। दुहरे शरीर में प्रेम के कोई भाव नहीं रह जाते थे; वह जीवितों को पिंडा-पानी देने के लिये और अनेक प्रकार से उसे सहायता देने के लिये त्रास दिखाया करता था, यहाँ तक कि उसे अपने लड़के-बालों और अपनी स्त्री तक से किसी प्रकार का स्नेह नहीं रह जाता था। प्राचीन हिंदुओं में भी हमें इस पितर-पूजा के चिन्ह मिलते हैं। चीनियों में भी उनके धर्म का आधार पितर-पूजा ही कही जा सकती है। यही अब तक उस बड़े देश की लंबाई चौड़ाई में व्याप्त हो रही है। इसमें संदेह नहीं कि यह पितर-पूजा ही का अकेला धर्म है जिसका प्रचार चीन देश में सचमुच माना जा सकता है। इस प्रकार यह जान पड़ता है कि एक ओर उन लोगों के सिद्धांत के लिये, जिनका यह पक्ष है कि धर्म का आरंभ पितर-पूजा से हुआ है, एक बहुत अच्छा आधार उपस्थित है।

दूसरी ओर ऐसे विद्वान् लोग हैं जो प्राचीन आर्य्यों के साहित्य से यह सिद्ध करते हैं कि धर्म का प्रारंभ प्रकृति की उपासना से हुआ है। यद्यपि भारतवर्ष में चारों ओर पितर-पूजा का प्रमाण मिलता है पर प्राचीन ग्रंथों में इसका कहीं चिन्ह तक नहीं मिलता। ऋग्वेद संहिता में जो आर्य्यों का सबसे पुराना ग्रंथ है इसका कहीं नाम तक नहीं है। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि उसमें उन्हें प्रकृति की पूजा-मात्र मिलती है। जान पड़ता है कि मनुष्य का मन इन दिखाई देनेवाले विषयों का रहस्य जानने के लिये चेष्टा कर रहा था। उषा काल, संध्या, वायु, तथा प्रकृति की अन्य आश्चर्यजनक और प्रभावशालिनी शक्तियों का और उनके सौंदर्य्य का प्रभाव मनुष्य के अंतःकरण पर पड़ा और वह अपनी सीमा को अतिक्रमण करने और उनके विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करने की उत्कट इच्छा करने लगा। इसी खींचा खींची में उन लोगों ने इन दृश्य विषयों में पुरुषवत् उपचार किया, उनके लिये उन्होंने कभी सुंदर और कभी कल्पनातीत शरीर और आत्मा की कल्पना कर डाली। सारे प्रयत्नों का फल यह हुआ कि यह सब दृश्य विषय चाहे उनमें पुरुष का सा उपचार था या नहीं केवल भाव-मात्र बन गए। यही बात प्राचीन यूनानियों में भी मिलती है; यूनान का सारा देवताख्यान इसी भावगम्य प्रकृति-उपासना से भरा पड़ा है। ये ही बातें जर्मनी, स्कंदनेविया के पुराने लोगों और अन्य सब जातियों में पाई जाती हैं। अतः इस पक्ष के लिये भी कि प्रकृति की शक्तियों

में पुरुष का सा उपचार करने से धर्म का प्रादुर्भाव हुआ यह दृढ़ आधार उपस्थित है।

इन दोनों विचारों की संगति, यद्यपि वे परस्पर विरुद्ध हैं, एक तीसरे आधार पर मिलती है जो मेरे जान में धर्म का वास्तविक मूल है और मैं उसे इंद्रियों के आयतन का उल्लंघन करने की चेष्टा कहना उचित समझता हूँ। चाहे मनुष्य अपने पूर्वजों की आत्मा की खोज करने जाय या मृत प्राणियों की आत्मा की खोज करे, अथवा वह यह देखना चाहे कि शरीर के नाश होने पर क्या होता है या वह उन शक्तियों को समझने की चेष्टा करे जो प्रकृति के अद्भुत दृग् विषयों की ओट में काम कर रही हैं, चाहे जो हो, पर यह बात निश्चित है कि वह इंद्रियों के आयतन का अतिक्रमण करने की चेष्टा करता है। उसे अपनी इंद्रियों पर वा अपने प्रत्यक्ष ज्ञान पर संतोष नहीं होता; वह उससे और आगे जाना चाहता है। इस समाधान को कुछ गूढ़ करने की आवश्यकता नहीं है। मुझे तो यह बहुत सहज जान पड़ता है कि स्वप्न से ही धर्म की पहली झलक आई होगी। स्वप्न ही से मनुष्य नित्यता का भाव अच्छी तरह ले सकता है। क्या स्वप्न एक अत्यंत आश्चर्य-जनक अवस्था नहीं है? और मैं तो जानता हूँ कि बच्चों और सीधे साधे लोगों को स्वप्न और जाग्रत अवस्था में बहुत कम अंतर जान पड़ता है। इससे अधिक और क्या सहज हो सकता है कि उन्हें स्वाभाविक रीति से यह जान पड़ता है कि

स्वप्नावस्था में भी जब शरीर देखने में मुर्दा हो जाता है मन अपने सारे विषय वा पेचदार कामों को ज्यों का त्यों करता रहता है ? कोई आश्चर्य्य की बात नहीं कि मनुष्य ने चट यह निष्पत्ति निकाल ली होगी कि जब वह शरीर नहीं रहेगा मन का काम ज्यों का त्यों होता रहेगा। मेरी जान में तो अपौ-रुषेयता के लिये यही बहुत सहज समाधान हो सकता है और इसी स्वप्न के विचार से मनुष्य के मन में कल्पना की तरंगें ऊँची से ऊँची उठती हैं। इसमें संदेह नहीं कि समय पाकर मनुष्य-जाति के बहुसंख्यक लोगों को यह जान पड़ा कि इन आभासों की प्रामाणिकता वा सिद्धि जाग्रत अवस्था से नहीं हो सकती, और यह कि स्वप्नावस्था में यह बात नहीं होती कि मनुष्य की सत्ता बदल जाती है किंतु वह केवल जाग्रत अवस्था के अनुभवों का सिंहावलोकन करता रहता है।

इस समय तक खोज प्रारंभ हो गई थी और वह खोज आंतरिक थी। मनुष्य लगातार चित्त की भिन्न भिन्न वृत्तियों में बड़ी गंभीरता से खोज करते रहे और उन्हें एक ऐसी अवस्था का पता लगा जो जाग्रत और स्वप्न से कहीं उत्कृष्ट थी। इस अवस्था का उल्लेख संसार के सारे सुव्यवस्थित धर्मों में मिलता है जिसे समाधि वा आत्मबोधि कहते हैं। सारे सुव्यवस्थित धर्मों में लिखा है कि उन धर्मों के प्रवर्तक, नबी और रसूल चित्त की ऐसी अवस्था को प्राप्त हुए थे जो न जाग्रत थी और न स्वप्न। उस

अवस्था में उन्हें अध्यात्मलोक-संबंधी नई नई घटनाओं का साक्षात् हुआ। जैसे हम लोग जाग्रत अवस्था में संसार के विषयों का साक्षात् करते हैं उनको उस अवस्था में उससे कहीं अधिक समीपता से आध्यात्मिक विषयों का साक्षात् हुआ था। उदाहरण के लिये हिंदूधर्म को ले लीजिए। वेद ऋषिप्रोक्त वा दृष्ट कहे जाते हैं। ऋषि लोग साक्षात्कृतधर्मा थे। ऋषि कहते हैं मंत्रों के द्रष्टा को, अर्थात् उन उन विषयों के द्रष्टा को जिनका वर्णन वेद के मंत्रों में है। कहा जाता है कि ऋषियों ने विषयों का साक्षात्कार किया—यदि साक्षात्कार शब्द अतींद्रिय विषयों में घटित हो सकता है—और उन्हीं विषयों का वर्णन उन लोगों ने मंत्रों में किया। इसी सत्यता का उल्लेख यहूदी और ईसाई धर्मों में भी मिलता है।

दक्षिण के हीनयानानुयायी बौद्धों की बातें कुछ इसकी अपवाद-रूप मानी जा सकती हैं। पर जब यह प्रश्न किया जाय कि यदि बौद्धों का विश्वास किसी ईश्वर वा आत्मा पर है ही नहीं तब उनका धर्म इस अतींद्रिय अवस्था से कैसे आसकता है? इसका उत्तर यह है कि बौद्ध लोग भी धर्म को शाश्वत मानते हैं और कहते हैं कि उस धर्म का ज्ञान लौकिक इंद्रियों से नहीं हुआ है किंतु बुद्धदेव को वह बोधि अवस्था में मिला था। जिन लोगों ने बुद्ध के जीवनचरित्र का अध्ययन किया है, और जीवनचरित्रों की तो बात ही क्या जिन लोगों ने 'लाइट आफ एशिया' नामक काव्य तक को पढ़ा है उन्हें स्मरण होगा

कि उसमें लिखा है कि बुद्धदेव बोधिद्रुम के नीचे यह प्रतिज्ञा करके बैठे थे कि जब तक मुझे बोधिज्ञान प्राप्त न होगा मैं इस स्थान से न हिलूँगा। उनके उपदेशों का आधार यही बोधिज्ञान था, उसका आधार लौकिक ज्ञान नहीं।

इस प्रकार सभी धर्मों में यह बलपूर्वक कहा गया है कि मनुष्य अवस्था-विशेष में न केवल इंद्रियों ही की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है किंतु वह अप्रतर्क्य दशा को प्राप्त हो जाता है। वहाँ ऐसी ऐसी बातें उसके सामने आती हैं जिनका न वह कभी अपनी इंद्रियों द्वारा अनुभव कर सकता है और न उन पर तर्क वा बुद्धि ही काम कर सकती है। ये ही बातें संसार के सारे धर्मों की जड़ हैं। इसमें संदेह नहीं कि हम इन बातों का खंडन मंडन कर सकते हैं और उनकी परीक्षा तर्क द्वारा कर सकते हैं पर संसार के सारे प्रचलित धर्मों का यह कथन है कि मनुष्य के चित्त में यह अद्भुत शक्ति है कि वह मनुष्य की इंद्रियों और तर्क वा बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण कर सकता है; इसी शक्ति को उन लोगों ने निर्विकल्प मान कर आगे रखा है।

इस बात पर ध्यान न देकर कि धर्मों का यह कथन कहाँ तक सत्य है, हमें एक बात उन सभों में दिखाई पड़ती है। वह यह है कि सभी सुव्यवस्थित धर्मों में केवल भाव ही की प्रधानता है, वह भौतिक ज्ञान से नितांत विपरीत है। भौतिक विज्ञान की नई नई बातें जो वैज्ञानिक लोग नित्य प्रति अपने अन्वेषणों द्वारा निकाला करते

हैं वैसी नहीं होतीं; उन सब सुव्यवस्थित धर्मों में एक विशुद्ध भाव की सत्ता मानी गई है जो विश्व भर में एक ही भाव की निर्विकल्प सत्ता है। वह सत्ता या तो कोई कूटस्थ उपस्थान होती है जैसे एक सर्वगत सत्ता वा पुरुषविशेष, जिसे ईश्वर कहते हैं; या वह धर्म अथवा परमतत्त्व होती है जो सब रूपों में और सब की एक-मात्र आधारभूत है। आधुनिक समय में लोग बिना चित्त की अतींद्रियावस्था का विचार किए हुए धर्म का उपदेश करने का प्रयत्न करते हैं, पर उन्हें विवश होकर प्राचीनों के पुराने भावों को काम में लाना ही पड़ता है, भेद इतना ही पड़ता है कि वे उन्हें 'धर्म, आदर्शवाद' आदि नए नाम दे देते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भाव इंद्रियों के विषय नहीं हैं। हम लोगों में से किसी ने आदर्श पुरुष-विशेष को देखा न होगा पर हम लोगों से यही कहा जाता है कि उस पर विश्वास करो। हम लोगों में से किसी ने आदर्श आप्तपुरुष को नहीं देखा होगा पर बिना उस आदर्श के हम आगे बढ़ ही नहीं सकते हैं। इस प्रकार इन सारे भिन्न भिन्न धर्मों में यही एक बात निकलती है और वह है एक आदर्श निर्विकल्प सत्ता का भाव, और वही हमारे सामने पुरुषविधि में, अपुरुषविधि में, धर्म के रूप में, उपस्थान के रूप में, वा परमतत्त्व के रूप में रखा गया है। हम सदा उस आदर्श तक पहुँचने के लिये सिर मारते रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य चाहे कोई हो और कहीं का हो, अपना एक न एक अमित बलशाली आदर्श रखता है। सबका एक न एक

असीम आनंद का आदर्श होता है। बहुत से काम जो संसार में हो रहे हैं और उद्योग जो चारों ओर दिखाई पड़ते हैं सब इसी असीम शक्ति वा असीम आनंद की प्राप्ति के लिये लोगों के प्रयत्न के कारण हैं। उनमें किसी किसी को दैवयोग से इसका ज्ञान शीघ्र ही हो जाता है कि यह असीम शक्ति इन इंद्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती। उन्हें इस बात का ज्ञान शीघ्र ही हो जाता है कि उस परमानंद की उपलब्धि इन इंद्रियों से नहीं हो सकती क्योंकि ये इंद्रियाँ भी सीमाबद्ध हैं और शरीर में परिमित हैं, उनसे असीमता का ज्ञान कैसे हो सकता है। अपरिमित का बोध परिमित द्वारा हो ही नहीं सकता और मनुष्य को शीघ्र वा देर में इसका बोध हो जाता है और वह परिमित द्वारा अपरिमित का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा को त्याग देता है। यही त्याग अर्थात् ऐसी चेष्टा का छोड़ना ही आचार या नीतिशास्त्र का आधार है। इसी त्याग के ही आधार पर आचार या नीतिशास्त्र की दीवार खड़ी है। संसार में कभी किसी भी ऐसे आचार या नीतिशास्त्र का उपदेश नहीं हुआ है जिसका आधार यह त्याग न रहा हो।

आचार-शास्त्र या नीति की यह सदा से शिक्षा रही है कि 'मैं नहीं, तू'। इसका उद्देश है 'स्वार्थत्याग'। भेद का पचड़ा जो मनुष्य के साथ लगा है, उसे ऐसी दशा में जब अपनी इंद्रियों द्वारा वह उस अनंत शक्ति वा असीम आनंद के प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, त्यागना पड़ेगा, यही आचार-शास्त्र की शिक्षा है। इंद्रियाँ कहती हैं कि 'स्वार्थ प्रधान' है। अध्यात्म-शास्त्र कहता है कि 'स्वार्थ

को हम पीछे डालेंगे'। अतः समूचे आचार या नीतिशास्त्र की नींव इसी त्याग के आधार पर स्थित है, अर्थात् संसार में अहंभाव का नाश कर दो, उसे बनाए न रहो। पर संसार में तो उस अनंतता का बोध हो ही नहीं सकता, बोध की कौन कहे उसकी संभावना क्या उसका चिंतन तक नहीं हो सकता।

अतः मनुष्य को उस अनंतता का अधिक बोध प्राप्त करने के लिये संसार को त्याग कर एक दूसरे लोक में प्रवेश करना पड़ता है। इस प्रकार नाना प्रकार के आचार या नीतिशास्त्र बनते हैं, पर सबका उद्देश यही होता है कि 'स्वार्थ का सदा के लिये त्याग करना।' अहंकार का सर्वथा नाश करना ही आचार या नीति-शास्त्र का मुख्य उद्देश है। यदि मनुष्यों से यह कहा जाय कि तुम अपनी ममता को छोड़ दो तो वे घबड़ा जाते हैं। जान पड़ता है कि वे ममता को छोड़ने से डरते हैं। लोग आचार के ऊँचे ऊँचे उद्देशों की सत्यता को स्वीकार करते हैं। पर उस समय वे ही लोग क्षण भर के लिये आचार या नीति की परमावधि या लक्ष्य पर दृष्टिपात नहीं करते कि सारे आचार या नीति का मुख्य उद्देश है अहंभाव का नाश करना, न कि उसे पुष्ट करना।

उपयोगितावाद की दृष्टि से मनुष्यों के नैतिक संबंध का निरूपण नहीं हो सकता। सबसे पहली बात तो यह है कि उपयोगिता के विचार से हम किसी नैतिक नियम को बना ही नहीं सकते। बिना उसके जिसे आगेवालों ने अपौरुषेय कहा है और जिसे मैं अतींद्रिय बोध कहता हूँ, कोई नीति या आचार हो ही नहीं सकता।

अप्रमेय के लिये प्रयत्न के विना कोई आदर्श नहीं हो सकता। शास्त्र जो मनुष्य को उसके समाज के नियम में बाँधना चाहते हैं स्वयं मनुष्यों की नीति के नियमों के प्रतिपादन में असमर्थ हैं। उपयोगितावादी यह चाहते हैं कि हम अनंत के पीछे पड़ना छोड़ दें, अतींद्रियता का प्राप्त करना असंभव और मिथ्या है। उनका यह उपदेश है कि नीति-शास्त्र का पालन करो और समाज का हित करो। प्रश्न यह है कि हम भलाई करें तो क्यों करें? भलाई करना तो दूसरी बात है, हमें सबसे पहले कोई आदर्श अवश्य चाहिए। नीति ही परमावधि नहीं है, हाँ वह परमावधि तक पहुँचने का साधन भले हो। यदि वह परमावधि ही नहीं है तो हम उसके पीछे क्यों पड़ें? हम दूसरों के साथ भलाई ही क्यों करें, बुराई क्यों न करें? यदि आनंद ही मनुष्य-जन्म की परमावधि है तो हम आनंद क्या न करें? दूसरे भाड़ में पड़ें। हमें रोकता कौन है? दूसरी बात यह है कि नीति का आधार भी तो बहुत ही संकुचित है। सारी प्रचलित रीति नीति समाज की वर्तमान स्थिति से ली गई है, फिर उपयोगितावादी को क्या अधिकार है कि वह यह कहता है कि नहीं समाज नित्य ही है? बहुत दिनों पहले पूर्वकाल में समाज था ही नहीं और संभव है कि कहीं आगे भी न रह जाय। अधिक संभव है कि यह अपनी अवस्था बदलता जाता हो और उसमें होते हुए हम किसी अच्छे परिणाम की ओर जा रहे हों। तो फिर समाज से जो नियम लिया गया है वह नित्य

तो न ठहरा, वह मनुष्य की प्रकृति पर सर्वतोभावेन व्याप्त नहीं हो सकता। अतः यहाँ तक हो सकता है कि उपयोगितावाद का सिद्धांत केवल समाज की वर्तमान स्थिति के लिये काम दे सकता हो। इसके आगे वह किसी काम का नहीं, कोई उसे पूछेगा तक नहीं। पर वह नीति और आचार-शास्त्र, धर्म और अध्यात्म से निकला है अतः उसका अधिकार समस्त शाश्वत मनुष्य-मात्र पर है। यह व्यक्ति विशेष के लिये तो है पर इसका संबंध सारे शाश्वत मनुष्य-मात्र से है; यह समाज के लिये तो है—पर समाज है क्या ? मनुष्यों का समुदाय। और जैसे व्यक्ति-विशेष के लिये होते हुए उसका संबंध शाश्वत मनुष्य-मात्र से है वैसे ही समाज के लिये होते हुए भी उसका संबंध सारे समाज से है, चाहे वह किसी समय में और किसी दशा में क्यों न हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य को सदा एक आध्यात्मिक धर्म की आवश्यकता है। प्रकृति चाहे जितनी आनंददायिनी क्यों न हो मनुष्य सदा प्रकृति ही के चिंतन में नहीं लगा रह सकता।

यह भी कहा जाता है कि आध्यात्मिक बातों में बहुत अधिक लगे रहने से संसारी कामों में बाधा पड़ती है। बहुत दिनों की बात नहीं है। चीन के महर्षि कानफ्यूसस के समय में यह कहा गया है कि "हमें पहले इस लोक की चिंता करनी चाहिए और जब हमें उससे छुट्टी मिले तब परलोक की चिंता कर लें।" यह बहुत ठीक है कि हमें इस लोक की चिंता

करनी चाहिए। पर जब आध्यात्मिक बातों में बहुत अधिक लगे रहने से इस लोक के कामों में बाधा पड़ती है तब इस लोक के धंधों में विशेष फँसे रहने से तो इस लोक और परलोक दोनों में बाधा पड़ती है। फल यह होता है कि हम लौकायतिक हो जाते हैं। मनुष्य का यह काम नहीं कि वह प्रकृति ही को अपनी परमावधि समझे, उसकी परमावधि और है, जो प्रकृति से कहीं परे है।

मनुष्य तब तक मनुष्य है जब तक कि वह प्रकृति के बाहर निकलने के लिये प्रयत्न करता है। वह प्रकृति दोनों प्रकृति है,—आभ्यंतर और बाह्य। इसमें न केवल वही नियम समाविष्ट है जिसके अनुसार हमारे बाहर संसार में और हमारे शरीर में प्रकृति के परमाणुओं में गति और अन्य क्रियाओं का संचार होता है, अपितु वह सूक्ष्म प्रकृति भी इसी में समाविष्ट है जो हमारे अंतर में है और जो बाह्य जगत् की संचालक शक्ति है। बाह्य प्रकृति को अपने वश में करना अच्छा और बहुत बड़ा काम है, पर अपनी आभ्यंतर प्रकृति को अपने वश में करना उससे कहीं अधिक बड़ा काम है। तारों और ग्रहों की गति के नियम का जानना बड़ा काम है और अच्छा ही है पर विकारों, मनोवृत्तियों और इच्छाओं के नियमों का जानना उससे भी कहीं अच्छा और बड़ा काम है। अंतरात्मा को अपने वश में करना, मन की अति सूक्ष्म वृत्तियों के भेद को समझना और इस अद्भुत रहस्य को जानना केवल

धर्म से हो सकता है। मनुष्य की प्रकृति—मेरा अभिप्राय साधारण मनुष्य की प्रकृति से है—बड़ी प्राकृतिक घटनाओं के देखने की इच्छा करती है। साधारण मनुष्य सूक्ष्म बातों को समझ ही नहीं सकते। क्या ही अच्छा कहा है कि लोग सिंह की प्रशंसा करते हैं जो सहस्रों भेड़ बकरियों के प्राण ले लेता है पर उन्हें एक चण भी इसका ध्यान नहीं आता कि सिंह के चणिक सुख के लिये बकरी बेचारी अपने प्राण से जाती है! प्रशंसा करने का कारण यही है कि लोगों को शारीरिक पराक्रम देख कर आनंद होता है। मनुष्यों के साधारण जीवन की यही दशा है। उन्हें केवल बाह्य पदार्थों का ही बोध होता है और उसी में उन्हें आनंद मिलता है। पर प्रत्येक गोष्ठी में कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनका सुख केवल इंद्रियों के विषय ही में नहीं है किंतु उनके बाहर भी है और ऐसे लोगों को कभी कभी एक ऐसी झलक दिखाई पड़ती है जो प्रकृति से कहीं परे और ऊँची होती है और वे उसे पाने के लिये प्रयत्न करते हैं। यदि हम मनुष्य की जातियों का इतिहास पढ़ें तो उसमें हमें जान पड़ेगा कि किसी जाति का उत्थान तभी होता है जब उसमें बहुसंख्यक लोग ऐसे ही होते हैं और पतन तब होता है जब आनंद की खोज, जिसे उपयोगितावादी चाहे जितना व्यर्थ क्यों न बतावें, बंद हो जाती है। सारांश यह है कि सब जातियों की शक्ति की डोर इसी आध्यात्मिकता के हाथ में है और उस जाति का मरना तभी से प्रारंभ हो जाता है जिस दिन

आध्यात्मिकता का ह्रास होता और भौतिकता वा प्रकृतिवाद जड़ पकड़ने लगता है।

उन खरी खरी बातों और सच्चाइयों के अतिरिक्त जिसकी शिक्षा हमें धर्म से मिलती है और उस संतोष के अतिरिक्त जो हमें धर्म से प्राप्त होता है, धर्म का आचरण मनुष्य के लिये, अन्य विद्याओं की तरह, एक बड़ा ही उपयोगी पदार्थ है। अनंत पदार्थ के पीछे पड़ना, अनंत विषय के ग्रहण करने की चेष्टा करना, इंद्रियों की इयत्ता के बाहर, मानों प्रकृति के अधिकार के बाहर, निकलने का प्रयत्न और आध्यात्मिकता का लाभ—रात दिन अपने को अनंत बनाने का श्रम—यह सब प्रयास मनुष्य के लिये बहुत ही उच्च और उत्कृष्ट है। कितनों को खाने में आनंद आता है। हमें यह कहने का अधिकार नहीं है कि वे न खावें। कितनों को किसी अभीष्ट के मिलने में बड़ा आनंद मिलता है। हमें यह कहने का क्या स्वत्व है कि वे उसे न प्राप्त करें। इसी प्रकार औरों को भी यह स्वत्व नहीं है कि वे उस मनुष्य से जिसे धर्माचरण में आनंद मिलता है यह कहें कि तुम धर्माचरण न करो। जितने ही छोटे प्राणी हैं उन्हें उतना ही इंद्रियों का सुख मिलता है। बहुत कम मनुष्य उस चाव से भोजन पर टूटते होंगे जैसे कुत्ते वा भेड़िये टूटते हैं। मनुष्यों में क्षुद्र प्रकृति के लोगों को इंद्रियों के विषय में सुख मिलता है और शिक्षित पुरुषों को विचार, दर्शन, कला-कौशल और विज्ञान में आनंद मिलता है। अध्यात्म की भूमि इनसे भी कहीं ऊँची है। उसका

विषय अनंत होने से वह भूमि सबसे ऊँची है और जो उसे समझते हैं उन्हें उसमें आनंद भी बड़ा मिलता है। उपयोगितावाद के विचार से लोगों को धर्माचरण करना युक्त ही है, क्योंकि धर्म का सुख संसार के सारे सुखों से उत्कृष्ट है। अतः मुझे शिक्षा के विचार से धर्म का करना बहुत ही आवश्यक जान पड़ता है। हम उसके परिणाम को देख सकते हैं। यह एक बड़ी संचालक शक्ति है जो मनुष्य के मन को चलाती है। अध्यात्म के अतिरिक्त किसी और आदर्श से उतना ओज नहीं आ सकता। जहाँ तक मनुष्य के इतिहास हैं उनसे प्रगट है कि ऐसा ही होता आया है और यह शक्ति ठंढी नहीं पड़ी है। मैं इससे इनकार नहीं कर सकता कि 'मनुष्य केवल उपयोगितावाद की दृष्टि से भी अच्छा और धर्मनिष्ठ हो सकता है। संसार में कितने लोग उपयोगिता के विचार से अच्छे धार्मिक और सज्जन हो गए हैं'। पर संसार की गति बदला करती है। ऐसे लोग जो अपने साथ संसार में बहुत सी आकर्षण-शक्ति लेकर आते हैं, जिनकी आत्मा सैकड़ों और सहस्रों में काम करती है, जिनके जीवन दूसरों में आध्यात्मिक अग्नि प्रज्वलित कर देते हैं—ऐसे लोगों का आश्रय, हम सदा से देखते आ रहे हैं, वही धर्म था। उनमें संचालन-शक्ति धर्म ही से आई थी। धर्म उस अनंत शक्ति को प्राप्त करने के लिये सबसे बड़ा संचालक बल है और उसका प्राप्त करना ही प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध स्वत्व और स्वभाव है। आचार के सुधारने के लिये, शुभ और

महत्त्वपूर्ण कामों के संपादन करने के लिये, लोगों को शांति प्रदान करने के लिये और अपनी आत्मा को शांत रखने के लिये धर्म सब से बड़ी संचालक शक्ति है, अतः इस विचार से उसका अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है। धर्म का अभ्यास बड़ी उदारता से होना चाहिए, उससे कहीं उदारता से जैसे लोग किया करते हैं। संकुचित विचार तथा परस्पर वाद-विवाद करना छोड़ देना चाहिए कि प्रत्येक जत्थे या जाति के ईश्वर पृथक् पृथक् हैं, दूसरों के मिथ्या हैं। ऐसा कहना पक्षपात है जो प्राचीनों के लिये ही था। ऐसे तुच्छ विचारों को त्यागना चाहिए।

ज्यों ज्यों मनुष्य के विचार बढ़ते जाते हैं उसके आध्यात्मिक प्रयत्नों को भी विस्तृत होना चाहिए। अब वह समय आ पहुँचा है जब मनुष्य अपने विचारों को बिना संसार में चारों ओर पहुँचाए लेखबद्ध नहीं कर सकता; बिना भौतिक आधार के हमारा संबंध अब सारे संसार से हो गया है; अतः अब संसार में भविष्य धर्म वही होगा जो सार्वजनिक और विस्तृत होगा।

भविष्य का धार्मिक आदर्श ऐसा होना चाहिए जिसमें संसार भर के अच्छे और महत्त्वपूर्ण गुण भरे हों और जिसमें भविष्य की उन्नति के लिये अपरिमित अवकाश हो। प्राचीन काल की सारी अच्छी बातों की रक्षा करनी चाहिए और उसमें ऐसी अच्छी बातों के आने के लिये आगे को राह खुली रहनी चाहिए जो अछूती बची हुई हैं। धर्मों को व्यापक होना चाहिए और उन्हें एक दूसरे से इसलिये घृणा नहीं करनी

चाहिए कि उनमें पृथक् ईश्वर का आदर्श है। मैंने अपने जीवन काल में बहुत से धार्म्मिक लोगों और बहुत से बुद्धिमान् मनुष्यों को देखा है जिनका ईश्वर में नितांत विश्वास नहीं था। मेरा ऐसा कथन इसलिये है कि हमारे शब्दार्थों में उनका विश्वास न था। संभवतः वे ईश्वर को हमसे कहीं अधिक समझते थे। धर्म के अर्थ के अंतर्गत ये सारे विचार आ जाते हैं; चाहे उनमें पुरुष-विशेष ईश्वर, अपुरुषविधि, अप्रमेय, या अनंत धर्म, अथवा आदर्श पुरुष का भाव क्यों न हो, वे सब धर्म के अंतर्गत हैं। और जब धर्म इतना विस्तृत और उदार हो जायगा तब उसकी उपकार-शक्ति भी सौगुनी बढ़ जायगी। धर्मों में अपार शक्ति होते हुए भी उनके संकुचित और परिमित होने के कारण प्रायः संसार को उनसे लाभ के स्थान में हानि ही होती गई है।

आजकल हम देखते हैं कि बहुत से संप्रदायों और समाजों के लोग जिनका विचार एक ही है इसलिये परस्पर वाद-विवाद करते रहते हैं कि एक अपने विचारों को उस प्रकार प्रगट करना नहीं चाहता जैसे कि दूसरा करता है। अतः धर्म का विस्तार बढ़ाना चाहिए। धर्म के भाव जब सार्वजनिक, विशाल, और अनंत बनेंगे तभी हमें धर्म का पूरा महत्त्व जान पड़ेगा, क्योंकि संसार-धर्म की शक्ति अभी व्यक्त होने लगी है। कभी कभी यह कहा जाता है कि धार्मिक विचार संसार से नष्ट हो रहे हैं, आध्यात्मिक भाव उठे जा रहे हैं। मुझे तो यह जान पड़ता है कि अब वे फैलने लगे हैं। धर्म की शक्ति, उसके उदार और विशुद्ध होने से,

मनुष्य के जीवन के प्रत्येक अंश में प्रविष्ट हो रही है। जब तक धर्म की डोर कुछ चुने हुए लोगों के या पुजारियों के हाथ में थी वह मंदिरों, गिरजों, पुस्तकों, सिद्धांतों, रीति-रस्मों, संप्रदायों और कर्मकांड के भीतर जकड़-बंद था। पर जब हमारा भाव धर्म के संबंध में यह होता है कि वह वास्तविक, या सत्य, आध्यात्मिक, सार्वजनिक है तब वह उसी समय सच्चा और जीवित धर्म हो जायगा; वह हमारी प्रकृति में प्रवेश कर जायगा, हमारी प्रत्येक गति में उसका ही भाव रहेगा, हमारे समाज की नस नस में वह घुस जायगा और अनंत रूप से वह भलाई कराने की एक प्रधान शक्ति बन जायगा, जैसा कि वह कभी न रहा था।

जिस चीज़ की आवश्यकता है वह यह है कि नाना प्रकार के धर्मों में सहानुभूति हो, विशेषतः ऐसी दशा में जब कि हम देखते हैं कि वे सब एक साथ उठते और एक साथ गिरते हैं। सहानुभूति परस्पर के आदर और परस्पर के सम्मान से होती है; जैसा कि आजकल दुर्भाग्यवश हो रहा है। दूसरों की प्रशंसा करना, उन्हें आश्रय देना और उनसे क्षुद्रतापूर्वक सदिच्छा प्रगट करना सहानुभूति नहीं है। और सबसे अधिक इसकी आवश्यकता भिन्न भिन्न प्रकार के धार्मिक व्याख्यानों या प्रवचनों में भी है जो आध्यात्मिक या मानसिक घटनाओं के अध्ययन करने पर किए जाते हैं। दुर्भाग्य है कि अभी तक ये ही आध्यात्मिक भाव धर्म के नाम से निर्दिष्ट किए जाते हैं। धर्म के उन प्रवचनों में भी इसकी आवश्यकता है जिसका सिर बहुत दूर अनिर्दिष्ट आकाश में

और पैर पृथ्वी पर है। मेरा अभिप्राय उससे है जिसे भौतिक विद्या कहते हैं।

इस समता को लाने के लिये दोनों को कुछ न कुछ एक दूसरे के लिये त्याग करना पड़ेगा, कभी कभी बहुत कुछ छोड़ना पड़ेगा, नहीं और भी अधिक छोड़ना पड़ेगा जो कभी कभी असह्य और दुखदायी होगा; पर इसका फल यह होगा कि दोनों में सहिष्णुता बढ़ेगी और वे सत्य में बहुत उन्नति कर ले जायँगे। और अंत को यह विद्या जो देश और काल की सीमा में बद्ध है, मिल जायगा और उसके साथ तन्मय हो जायगी जो उन दोनों से परे है, जहाँ मन और इंद्रियों की पहुँच नहीं है, जो पूर्ण अनंत और अद्वैत है।

---

(२) मनुष्य की वास्तविक प्रकृति।

हम अपनी विषय-वासनाओं में कैसे लिप्त हो रहे हैं ! संसार के सुख-भोग को कोई कैसा ही स्थिर क्यों न समझता हो, किसी न किसी समय मनुष्य वा किसी जाति में यह प्रश्न आप से आप उठ ही पड़ता है कि "क्या यह सुख सत्य है ?"। ऐसे लोगों के सामने भी, जिन्हें विषय-वासना के नित्यानित्य के विषय में विचार करने का अवकाश ही नहीं मिलता, और जो दिन रात इंद्रियाराम में फँसे रहते हैं, मृत्यु आ खड़ी होती है; तब वे विवश होकर यह विचारने लगते हैं कि क्या सांसारिक

सुख सत्य है ? धर्म इसी प्रश्न से प्रारंभ होता है और इसका उत्तर देना ही उसका काम है। बहुत प्राचीन काल से लेकर, जिस समय का कोई लिखित इतिहास ही नहीं है, पुराणों के अद्भुत प्रकाश में और अंत में सभ्यता के धुँधले प्रकाश तक में यही प्रश्न बराबर उठता आया है कि 'इसका परिणाम क्या है ?' 'सत्य क्या है ?'

कठोपनिषद् जो उपनिषदों में से संपूर्ण काव्यमय है, इसी प्रश्न से प्रारंभ होता है कि "मनुष्य के मरने पर यह विवाद होता है। एक पक्ष यह कहता है कि वह सदा के लिये मिट गया, दूसरा पक्ष कहता है कि नहीं वह बना रहता है। इनमें कौन ठीक है ?" इसके अनेक उत्तर दिए गए हैं। सारा अध्यात्म शास्त्र, दर्शन और धर्म के ग्रंथ इसी प्रश्न के उत्तरों से भरे पड़े हैं। साथ ही साथ इसे दबाने और मन की बेचैनी मिटाने की चेष्टा भी की गई जिसमें यह प्रश्न उठता है कि 'इसके परे क्या है ? सत्य वा वास्तविक बात क्या है ?' पर जब तक मृत्यु है इसके दबाने की चेष्टा सदा विफल होती रहेगी। हम कहा करें कि इसके आगे कुछ नहीं है; हम अपनी सारी आशा और लालसा इसी वर्तमान जीवन में आबद्ध कर इसके लिये बड़ा प्रयत्न करें कि जिसमें दूसरे लोक की चिंता हमारे मन में आने न पावे, संभवतः अन्य बाह्य पदार्थों से हमें इस छोटे घेरे में रहने के लिये सहायता भी मिलती रहे, सारा संसार मिलकर हमें रोकता रहे कि हम इस लोक को छोड़ अन्य लोक की चिंता न करने पावें;

फिर भी जब तक मृत्यु बनी है यह प्रश्न बार बार आता ही रहेगा। 'क्या इन सब विषयों का जिनमें हम उन्हें सबसे अधिक सत्य और सबसे अधिक स्थिर समझ कर लिपटे हुए थे मृत्यु के साथ ही अंत हो जायगा ?' सारा संसार एक क्षण में तिरोभूत हो जाता है और हम से जाता रहता है। एक ऊँचे करारे पर जिसके नीचे गहिराई का कहीं ठिकाना न हो यदि कोई खड़ा किया जाय तो वह कितना ही पाषाण-हृदय क्यों न हो उसका मन फिर जायगा और वह यह प्रश्न कर बैठेगा कि 'क्या यह सत्य है ?' सारे जीवन की आशाएँ, जिन्हें मनुष्य ने अपनी सारी शक्तियाँ लगा कर तनिक तनिक करके बनाया था, एक क्षण में तिरोहित हो जाती हैं। क्या वे सत्य थीं ? इस प्रश्न का उत्तर अवश्य देना चाहिए। काल इसकी शक्ति को घटाता नहीं, किंतु उलटे बढ़ाता जाता है। फिर यह इच्छा भी है कि हम सुख प्राप्त करें। हम सबके पीछे सुख की प्राप्ति के लिये दौड़ते फिरते हैं और विषय-वासनाओं के पीछे पागलों की भाँति फिरा करते हैं। यदि आप किसी युवक से जिसका जीवन सफलतापूर्ण हो पूछें तो वह उसे सत्य बतावेगा। वह समझता ही ऐसा है। पर वही जब बुड्ढा होता है और उसे जान पड़ता है कि सारी संपत्तियाँ उसे धोखा देकर छोड़े भागी जाती हैं तो वह कहता है कि यह भाग्य की बात है। अंत को उसे जान पड़ता है कि उसकी कामनाएँ पूरी नहीं हो सकतीं। जिधर वह जाता है चारों ओर अष्टधाती दीवाल देखाई पड़ती है जिसे वह पार

नहीं कर सकता। सारी इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। सब विषय चणिक जान पड़ते हैं। सुख-दुख, धन-ऐश्वर्य्य, बल-पराक्रम यहाँ तक कि जीवन चणिक हो जाते हैं।

मनुष्य के लिये दो बातें रह जाती हैं। पहली बात यह है कि वह शून्यवादी बन जाय और निहलिस्टों की भाँति यह मान ले कि सब शून्य है, हम कुछ नहीं जानते, हमें भूत, भविष्य और यहाँ तक कि वर्तमान के विषय तक में कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो भूत और भविष्य से इनकार करता है और वर्तमान को ही सब कुछ मानता है वह पागल है। यह तो बाप और मा का निषेध कर संतान के भाव के मानने के बराबर है। जिसने भूत और भविष्य का निषेध किया उसे वर्तमान का भी निषेध करना पड़ेगा। मुझे ऐसा मनुष्य मिला ही नहीं जो एक चण के लिये भी शून्यवाद के सिद्धांत पर स्थिर रहा हो। केवल बातें बघाड़ना सहज है।

दूसरी बात यह है कि समाधान के लिये जिज्ञासा करे, सत्य की खोज करे, इस नित्य-परिणामी और चणिक संसार में इस बात का पता लगावे कि सत्य क्या है। इस शरीर में, जो प्रकृति के परमाणुओं से बना है कुछ सार है या नहीं? मनुष्य के मन के इतिहास भर में इसी की जिज्ञासा होती आई है। हमें जान पड़ता है कि बहुत प्राचीन काल से मनुष्य के अंतःकरण में प्रकाश की किरण पहुँची है। उसी समय इसकी टोह मिली है और शरीर के अतिरिक्त उसे किसी ऐसी वस्तु

का पता लगा जो यह बाह्य शरीर नहीं था, चाहे वह इससे मिलती जुलती भले ही रही हो, पर वह इससे कहीं पूर्ण थी और शरीर के नाश होने पर बच रहती थी। ऋग्वेद में अग्नि देवता संबंधी सूक्त में एक मंत्र है। इस मंत्र का प्रयोग दाह के समय होता है। उसका आशय यह है—"अग्नि, आप इसे अपने हाथों उठा कर वहाँ ले जाइए, इसे सर्वांग पूर्ण शरीर, कांतिमय शरीर दीजिए और वहाँ ले जाइए जहाँ पितर लोग रहते हैं, जहाँ कुछ दुःख नहीं है, जहाँ मृत्यु नहीं है।" यही भाव लगभग सारे धर्मों में मिलेंगे, और इतना ही नहीं, साथ ही साथ एक और बात मिलती है। वह यह है कि सभी धर्मवाले यह मानते हैं कि मनुष्य अपनी उच्चावस्था से गिरा है, इस भाव को चाहे पौराणिक-कथा का रूप दें, वा स्पष्ट दर्शन के स्पष्ट शब्दों में कहें अथवा काव्य की रीति में इसे बाँध दें। यहूदियों की धर्मपुस्तक में आदम के स्वर्ग से गिरने की कथा का यही बीज है। हिंदुओं के ग्रंथों में बार बार इसके उल्लेख मिलते हैं। उसमें सत्ययुग की बातें दी हैं कि उस युग में कोई मनुष्य अपनी इच्छा के विरुद्ध नहीं मरता था, अपने शरीर को जब तक चाहता था रख सकता था, उसका अंतःकरण शुद्ध और बलसंपन्न होता था, न कोई पाप था और न दुःख था। आधुनिक युग उसी सत्ययुग का उलटा और विकृतरूप है। इसके साथ ही साथ महौघ (महाप्रलय) की कथा भी सब जगह मिलती है। इस कथा से यह सिद्ध होता है कि सभी धर्मवालों ने इस वर्तमान युग को पूर्वयुग का

विकारमात्र माना है। युग दिन दिन बिगड़ता जाता है और अंत को एक ओघ (बाढ़) आता है और सारे मनुष्यों को नष्ट कर देता है। फिर नई रीति से अवसर्पिणी काल का संचार होता है। धीरे धीरे उन्नति होती जाती है और वही शुद्धता प्राप्त हो जाती है और सत्ययुग आ जाता है। प्राचीन धर्मपुस्तकों में जो ओघ की कथा है उसे आप सब लोग जानते हैं। उसी कथा का प्रचार प्राचीन बाबिलन, मिस्र, चीन और हिंदुस्तानवालों में भी था। कहते हैं कि महर्षि मनु एक दिन गंगा के किनारे स्नान करने गए थे। उनके पास एक छोटी मछली अपनी रक्षा के लिये आई, मनुजी ने उसे अपने कमंडल में रख लिया। मनुजी ने उससे पूछा कि तू क्या चाहती है; मछली ने उत्तर दिया, कि बड़ी मछलियाँ मुझ पर खाने के लिये झपटती हैं, मैं अपनी रक्षा के लिये आप के पास आई हूँ। मनुजी उसे अपने आश्रम पर लाए और दूसरे दिन वह बढ़ कर कमंडल में भर गई, और बोली— यह कमंडल छोटा है मैं इसमें रह नहीं सकती। मनुजी ने उसे एक ताल में छोड़ दिया, पर वह दूसरे ही दिन तालाब में न अँट सकी, फिर तो मनुजी ने उसे नदी में छोड़ा पर दूसरे दिन वह नदी में भी न अमा सकी। फिर मनुजी ने उसे समुद्र में छोड़ दिया। अब मछली बोली "मनु, मैं इस विश्व की कर्त्री हूँ, मैंने यह रूप इसलिये धारण किया है कि आकर तुम्हें चेता दूँ कि मैं संसार का प्रलय करूँगी। आप एक नौका बनाइए और सब जंतुओं का एक एक जोड़ा उसमें रख लीजिए और आप अपने

कुल समेत उस नौका में सवार हूजिए। पानी के ऊपर मेरी सींग निकली रहेगी। उसमें अपनी नाव बाँध देना और जब प्रलय का अंत हो जाय तब नाव से निकल कर पृथ्वी पर सृष्टि का विस्तार करना। इस प्रकार ओघ आया और संसार का प्रलय हो गया, केवल मनु अपने कुल समेत सारे जंतुओं के जोड़े और सारी वनस्पतियों का बीज लिए बच रहे। जब प्रलय बीत गया तो उन्होंने संसार में आकर सृष्टि का विस्तार किया। इसी लिये हम लोग मनुष्य कहलाते हैं, मनुष्य का अर्थ है मनु की संतान।

मनुष्य के पास भाषा ही एक ऐसी वस्तु है जिससे वह आंतरिक भाव को प्रकट कर सकता है। मुझे पूरा विश्वास है कि बच्चा जो स्पष्ट बोल तक नहीं सकता उच्च कोटि के विचार को प्रकट करने की चेष्टा करता है, पर बात यह है कि न तो उसकी जीभ खुलती है और न उसके पास प्रकट करने की सामग्री ही है। सब से बड़े दार्शनिक की भाषा और बच्चे की अस्फुट बोली में केवल मात्रा में ही अंतर है, प्रकार में कुछ अंतर नहीं है। जिसे आप वर्तमान काल की अति शुद्ध नियमबद्ध और युक्तियुक्त भाषा कहते हैं उसमें और प्राचीनों की अव्यक्त, गूढ़ और पुराणोचित भाषा में केवल मात्रा ही का अंतर है। उन सब की आड़ में महत्त्व-पूर्ण भाव है और उसी को मानों व्यक्त करने की सब चेष्टा करते हैं। प्रायः इन पुराणों की तह में ढेर की ढेर सचाइयाँ छिपी हैं और मुझे खेद के साथ

कहना पड़ता है कि आधुनिक समय की सुंदर और साफ़सुथरी भाषा की आड़ में अत्यंत निःसार बातें पड़ी हैं। अतः हमें किसी चाज़ को केवल इसलिये फेंक न देना चाहिए कि वह केवल पौराणिक गाथाओं में संश्लिष्ट है और वह वर्तमान समय के अमुक अमुक महात्माओं की समझ में नहीं आती। यदि धर्म पर इसलिये ठट्ठा लगा सकते हैं कि बहुत से लोगों को अमुक अमुक ऋषियों के बनाए पुराणों को मानने के लिये बाधित किया जाता है तो आजकल के लोगों पर अधिक हँसना चाहिए। आजकल यदि कोई मूसा, बुद्धदेव, वा ईसूमसीह के वाक्यों को उद्धृत करता है तो लोग उसका ठट्ठा उड़ाने लगते हैं। पर यदि वह कहीं हक्सले, टिंडल, वा डारविन का नाम ले लेता है तो वह बात बिना घी के उतर जाती है। हक्सले ऐसा कहते हैं, इतना मात्र बहुतों के लिये पर्य्याप्त है। सचमुच हम पक्षपात से मुक्त हो गए! वह तो धार्मिक पक्षपात था और यह क्या है वैज्ञानिक पक्षपात! बस पक्षपात से अध्यात्म का जीवनदायक भाव उत्पन्न होता था और इस पक्षपात से लोभ और काम का। वह पक्षपात ईश्वरोपासना का था और यह पक्षपात निकृष्ट अर्थ, ख्याति या बल की उपासना का है। यही भेद है।

अब पुराणों को देखिए। उनमें कथाओं की आड़ में यही एक बात प्रधान देख पड़ती है कि मनुष्य अपने पूर्व की उच्चावस्था से गिरा है। आजकल की बात देखी जाय तो आधुनिक

अनुसंधान से इस बात का बिलकुल निराकरण होता है। विकासवादी लोग इसका नितांत खंडन करते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य का विकास अस्थिरहित जंतुओं से हुआ है, अतः पुराण की बातें ठीक नहीं हैं। भारतवर्ष के पुराणों में एक कथा है, जिससे इन दोनों बातों का समाधान हो जाता है। भारतवर्ष के पुराणों में कालचक्र का सिद्धांत है अर्थात् ऊर्मि के रूप में काल का प्रवाह चलता है। प्रत्येक ऊर्मि में चढ़ाव उतार होता है अर्थात् एक समय यह ऊपर उठता है फिर यह नीचे गिरता है। इस प्रकार फिर चढ़ता और उतरता रहता है। इस गति का नाम चक्र वा कालचक्र है। सचमुच यह आधुनिक अनुसंधान के अनुसार भी ठीक है कि मनुष्य केवल विकाश ही का फल नहीं हो सकता है। विकाश में आरोह और अवरोह दोनों होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक गण यह कहते हैं कि किसी यंत्र से वही शक्ति प्राप्त होती है जो उसमें पूर्व से ही रखी गई थी। असत् से सत् का भाव नहीं हो सकता, जहाँ कुछ है ही नहीं वहाँ मिलेगा क्या। यदि कोई मनुष्य अनस्थि के विकाश का फल है तो आप्तपुरुष बुद्ध और ईसा का ही विकार अनस्थि जंतु अवश्य होंगे। यदि ऐसा नहीं है तो ऐसे महापुरुष आए तो कहाँ से आए? असत् से सत् का भाव तो हो ही नहीं सकता। इस प्रकार प्राचीन ग्रंथों की बातों का समाधान आधुनिक विचार से हो जाता है। वह शक्ति जो भिन्न रूपों में धीरे धीरे व्यक्त होती जाती है और

अंत को वहीं परिपूर्ण होकर आत्मपुरुष के रूप में प्रकट होती है क्या वह असत् से उत्पन्न हो सकती है ? कदापि नहीं । वह अवश्य कहीं न कहीं रही होगी। यदि अनस्थि जंतु वा एकेंद्रिय जंतु में, जिसे प्रोतोप्लाजा कहते हैं, आप उस शक्ति का आधार मानें तो उसमें भी किसी न किसी प्रकार से शक्ति का संचार हुआ होगा। इस विषय में बड़ा वाद-विवाद मच रहा है कि यह प्रकृति-समुदाय जिसे हम शरीर कहते हैं क्या उस शक्ति के व्यक्तीकरण का हेतु है जिसे हम जीवात्मा या बुद्धि आदि कहते हैं, अथवा जीवात्मा मन और बुद्धि ही शरीर के व्यक्तीकरण के हेतु हैं। संसार के धर्मों का तो यह कथन है कि जीवात्मा वा मन ही इस शरीर का कारण है, शरीर, जीवात्मा या मन का कारण नहीं है। आधुनिक विद्वानों के एक समुदाय का मत है कि जिन्हें हम मन आदि कहते हैं वे केवल शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों के एक नियम विशेष में रहने से ही उत्पन्न होते हैं। अब यदि दूसरे पक्ष की बात पर ध्यान दिया जाय जिसका यह कथन है कि जीवात्मा या मन बुद्धि या विचार, चाहे जो उसका नाम रख लो, उस यंत्र से उत्पन्न होता है जो प्रकृति के रासायनिक और भौतिक संश्लेषण का परिणाम है जिससे हमारे शरीर और मस्तिष्कादि बने हैं, तो इस प्रश्न का संतोषजनक समाधान नहीं होता। फिर वही प्रश्न आ खड़ा होता है कि शरीर को कौन बनाता है ? किस शक्ति से परमाणु मिलकर शरीर के रूप

में प्रगट होते हैं ? वह कौन सी शक्ति है जो प्रकृति से द्रव्य संचय करके हमारे शरीर को एक आकार का और दूसरे के शरीर को दूसरे आकार का बनाती है ? इतना अनंत भेद क्यों होता है ? यह कहना कि जीवात्मा शरीर के परमाणुओं के संश्लेषण का परिणाम है मानों गाड़ी को घोड़े के आगे जोतना है। संश्लेषण हुआ तो कैसे हुआ; उस संश्लेषण के लिये शक्ति कहाँ से आई ? यदि आप यह कहें कि इस संश्लेषण का कारण कोई और शक्ति थी और जीवात्मा उस प्रकृति के संश्लेषण का परिणाम था और जीवात्मा, जिसने प्रकृति के कुछ अंशों का संश्लेषण कर दिया, स्वयं संश्लेषण का परिणाम था, तो यह कोई युक्ति-युक्त उत्तर नहीं है। सिद्धांत ऐसा स्थिर करना चाहिए जिससे यदि सबका नहीं तो अधिक बातों का समाधान हो जाय और किसी प्रचलित सिद्धांत का विरोध न हो। यह कहना कहाँ युक्ति-युक्त है कि जीवात्मा जो प्रकृति से पदार्थ लेकर शरीर का निर्माण करता है वही होता है जो उस शरीर में व्यक्त हो जाता है। इस बात का, कि विचार-शक्ति जो शरीर में व्यक्त है केवल अणुओं के अवस्था-विशेष में रहने का परिणाम है और उसकी कहीं पृथक् सत्ता है ही नहीं, कुछ अर्थ ही नहीं है; द्रव्य से शक्ति का विकाश हो ही नहीं सकता। वरन् इसका सिद्ध करना संभव है कि जिसे हम द्रव्य वा प्रकृति कहते हैं वह है ही नहीं, उसकी सत्ता ही नहीं है। यह केवल शक्ति की एक अवस्था-मात्र है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि घनता, कठिनता,

और द्रव्यों की अन्य अवस्थाएँ केवल गति के परिणाम-मात्र हैं। द्रव पदार्थों में ऊर्ध्वगति की मात्रा बढ़ने से उनमें कठिनत्व की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। वायु का परिणाम, जिसमें ऊर्ध्वगति होती है, जैसे घूर्णवायु वा टार्नेडो, इतना कठिन हो जाता है कि उससे टकर लगकर कठिन पदार्थ भी टूट जाते वा कट जाते हैं। मकड़ी के जाले के तंतु में यदि बड़े वेग से गति उत्पन्न की जाय तो वह लोहे की शृंखला से भी अधिक कठिन हो जायगा और उससे कठिन से कठिन वृक्ष भी कट सकेगा। इन सब बातों पर विचार करने से यह सुगमता से सिद्ध किया जा सकता है कि जिसे हम प्रकृति या द्रव्य कहते हैं वह कुछ है ही नहीं। पर इसके विरुद्ध केवल प्रकृति से शक्ति की उत्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती है।

वह शक्ति क्या है जो हमारे शरीर में व्यक्त होती है? यह हम सब लोगों पर प्रगट है कि वह चाहे जो शक्ति हो वह परमाणुओं को जोड़ बटोर कर हमारे और तुम्हारे शरीर को बनाती है। कोई दूसरा इस मानवी शरीर की रचना करने नहीं आता। मैंने यह नहीं देखा है कि खाए कोई और तृप्ति हो मुझे। मैं ही अन्न को खाकर उसे पचाता हूँ और उसके रस को लेकर रक्त, मांस, मज्जा और अस्थिरूप में उसे परिणत करता हूँ। यह कौन सी अद्भुत शक्ति है? भूत और भविष्य का भाव ही कितनों के कलेजे को हिला देता है। कितनों को तो वे केवल कल्पनामात्र जान पड़ते हैं। वर्तमान काल ही को ले लीजिए। वह कौन सी शक्ति है

जो हमारे भीतर काम कर रही है। हमें यह भी ज्ञात है कि सारे प्राचीन साहित्यों में यह शक्ति, शक्ति की यह अभिव्यक्ति जो एक अत्यंत उज्ज्वल वा प्रकाशमय पदार्थ मानी गई थी, इसी शरीर के आकार प्रकार की थी और इस शरीर के पंचत्व प्राप्त होने पर रह जाती थी। इसके पीछे धीरे धीरे यह उच्च विचार आने लगा कि यह प्रकाशमय वा सूक्ष्म शरीर, शक्ति का ज्ञापक न था। जिसके रूप है वह अवश्य प्रकृति के परमाणुओं के योग से बनता है और उसके भीतर उसके संचालन के लिये किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता है। यदि इस शरीर को बनाने के लिये किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा है जो उससे पृथक् है तो इस प्रकाशमय सूक्ष्म शरीर को भी उसी प्रकार उसके बनाने के लिये किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा होगी जो उस शरीर से पृथक् हो। उसी वस्तु को आत्मा कहा गया था। यही आत्मा थी जो उस सूक्ष्म शरीर द्वारा मानो इस स्थूल शरीर पर काम करती थी। वह सूक्ष्म शरीर मनोमय कोश कहलाता था और आत्मा उससे परे थी। वह मन नहीं थी, मन की प्रेरक थी और मन के द्वारा शरीर को प्रेरणा करती थी। आपमें भिन्न आत्मा है, मुझमें भिन्न है; सबमें भिन्न भिन्न आत्माएँ हैं और सूक्ष्म शरीर भी भिन्न भिन्न हैं। उसी सूक्ष्म शरीर से हम सब स्थूल शरीर को प्रेरणा करते हैं। इस आत्मा और इसके स्वभाव के विषय में प्रश्न पर प्रश्न किए गए हैं। वह आत्मा जो न मन है न शरीर, क्या वस्तु है ? बड़े बड़े

वाद विवाद हुए। नाना भाँति की कल्पनाएँ की गईं, नाना प्रकार के दार्शनिक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। आज हम उन्हीं विचारों का सारांश जो आत्मा के संबंध में है आप लोगों के सामने रखना चाहते हैं। भिन्न भिन्न दर्शनों का इस विषय में एक-मत है कि वह आत्मा चाहे जो हो, पर रूप और आकृति-रहित है और वह पदार्थ जो रूप और आकृति-रहित होता है, सर्वगत होता है। मन से ही काल की उत्पत्ति है और देश (आकाश, दिशा) तो मन ही में है। बिना काल के परिणाम (कार्य-कारण-भाव) हो ही नहीं सकता, बिना क्रम के बोध के परिणाम का भाव ही नहीं हो सकता। अतः देश, काल और परिणाम मन में हैं और आत्मा मन से परे और अरूप है, अतः आत्मा अवश्य देश, काल और परिणाम से परे है। अब यदि वह देश, काल और परिणाम से परे है तो वह अनंत अवश्य है। यहीं से हमारे दर्शन के उच्च विचारों का आरंभ होता है। अनंत दो हो ही नहीं सकते। यदि आत्मा अनंत है तो एक ही आत्मा हो सकती है और आत्मा की भिन्नता का भाव अर्थात् तुममें और आत्मा है मुझमें और आत्मा है इत्यादि मिथ्या है। अतः परम-पुरुष एक ही है। वह अनंत है और सर्वगत आत्मा है। और यह व्यक्तिगत पुरुष उसी परम-पुरुष का परिमित अंश-मात्र है। इस विचार से पुराणों का यह वाक्य यथार्थ है कि यह मनुष्य कितना बड़ा क्यों न हो उसी परम-पुरुष की एक झलक-मात्र है। परम-पुरुष वा आत्मा का न तो कोई कारण है, न कार्य्य, वह देश, काल से परे है, अतः

वह मुक्त है। न वह कभी बंधन में था और न बंधन में आ सकता है। यह मनुष्य, मनुष्य की आत्मा, जो उस पुरुष की आभामात्र है, देश, काल और परिणाम से बद्ध है और इसी लिये बंधन में है। अथवा हमारे आचार्य्यों की भाषा में वह बद्ध दिखाई पड़ती है पर वास्तव में बद्ध नहीं है। यही सर्वगतत्व, यही आध्यात्मिकत्व, यही अनंत हमारी आत्माओं में तत्त्व बात है। प्रत्येक आत्मा अनंत है, अतः जन्म मरण का कोई प्रपंच नहीं है। कुछ लड़कों की परीक्षा हो रही थी। परीक्षक ने उनसे कुछ कठिन प्रश्न पूछे थे और उन्हीं प्रश्नों में एक यह भी था कि पृथ्वी गिर क्यों नहीं पड़ती ? प्रश्नकर्ता का इस प्रश्न से अभिप्राय था गुरुत्व के संबंध में पूछना। कितने लड़कों ने बिलकुल उत्तर ही नहीं दिया, कुछ लोगों ने उत्तर दिया कि इसका कारण गुरुत्व वा और कुछ है। एक तीक्ष्णबुद्धि बालिका थी। उसने इसके उत्तर के बदले यह प्रश्न पूछ मारा कि 'यह गिरे तो कहाँ गिरे ?' प्रश्न ही असंबद्ध है। पृथ्वी गिरती तो किस स्थान पर गिरती ? पृथ्वी के लिये ऊपर जाना और नीचे आना कुछ है ही नहीं। अनंत आकाश में कहीं ऊपर नीचे नहीं है। ये केवल सापेक्ष बातें हैं। अनंत के लिये गमनागमन कहाँ ? यह कहाँ से आवे और कहाँ जाय ? अतः जब मनुष्य भूत और भविष्य के ध्यान को त्याग देता और शरीर के भाव को भूल जाता है क्योंकि शरीर होता है और जाता है और परिमित है, तब वह उच्च आदर्श को प्राप्त होता है। शरीर आत्मा नहीं है और

मन भी आत्मा नहीं है क्योंकि मन तो बढ़ता घटता रहता है। वह परमात्मा ही है जो नित्य और अजर अमर है। शरीर और मन सदा बदलते रहते हैं और सचमुच परिणाम के विकारों के वैसे ही अलग अलग नाम हैं जैसे एक बहती हुई नदी में उसके तरंगादि होते हैं। इस शरीर के परमाणु लगातार प्रति क्षण बदलते रहते हैं, किसी का शरीर दो चार क्षण तक वैसाही वा समान नहीं रह सकता, पर फिर भी हम उसे वही शरीर समझते हैं। यही दशा मन की है, एक क्षण में वह प्रसन्न और दूसरे क्षण में वह अप्रसन्न होता है; क्षण भर में दृढ़ और क्षण भर में दुर्बल, सदा जलावर्त की भाँति अपनी दशा बदलता रहता है। वह आत्मा नहीं हो सकता, आत्मा तो अनंत है। परिणाम तो परिमित में हुआ करता है। यह कहना कि अपरिमित में विकार होता है असंबद्ध है। उसमें विकार हो ही नहीं सकता। आप चलायमान हो सकते हैं, मैं चलायमान हो सकता हूँ, हमारे शरीर परिमित हैं, इस विश्व के सब अणु प्रवाह की नित्य अवस्था में हैं, पर सारे विश्व को एक मानने से उसमें गति नहीं हो सकती, परिणाम नहीं हो सकता। गति एक सापेक्ष वस्तु है। मुझमें किसी अन्य की अपेक्षा गति है। इस विश्व का अंग ही अन्य की अपेक्षा बदल सकता है, पर यदि सारे विश्व को एक मान लो तो फिर उसके अंशों में किसकी अपेक्षा से गति हो सकती है? इससे पृथक् तो कुछ है ही नहीं। अतः अनंत एकत्व अविकारी है, अचल, केवल और सीमारहित है। यह पुराना भ्रम

है, चाहे यह संतोषजनक जान पड़ता हो, कि हम परिमित हैं और नित्य परिणामवाले हैं। तब लोग डर जाते हैं जब उनसे यह कहा जाता है कि तुम व्यापक परमात्मा हो, सर्वगत हो, सब पदार्थों के द्वारा तुम काम करते हो, सब पैरों से चलते हो, सब मुँहों से बोलते हो, सब मनों से चिंतन करते हो।

लोग जब यह सुनते हैं तब डर जाते हैं। वे लोग बार बार प्रश्न करते हैं कि क्या यह उनका अपनी व्यक्तिता को सचमुच छोड़ना नहीं है? व्यक्तिता क्या है? मैं इसकी जाँच करना चाहता हूँ। एक बच्चे के मूँछ नहीं होती, जब वह बड़ा होता उस समय उसके दाढ़ी-मूँछ निकलती है। अब उसकी व्यक्तिता यदि इसी शरीर में है तो जाती रही। मेरी एक आँख फूट जाती है, मेरा एक हाथ टूट जाता है, अब यदि मेरी व्यक्तिता शरीर में थी तो वह नष्ट हो गई। फिर तो एक मद्यप मद्यपान नहीं छोड़ सकता, उसकी व्यक्तिता चली जायगी। फिर तो चोर साधु भी न बनेगा, उसकी व्यक्तिता नष्ट हो जायगी। इस भय से तो फिर कोई अपनी लत न छोड़ेगा। यह सब हमारी व्यक्तिता नहीं है, हमारी व्यक्तिता अनंतता है। वही एक ऐसी दशा है जो बदलती नहीं। सारी वस्तु नित्य बहती हुई धारा की अवस्था में है। प्रत्यभिज्ञा में भी व्यक्तिता नहीं है। मान लीजिए मेरे सिर में चोट लगी, उस आघात से मुझे सब बीती बातें भूल गईं; अब तो मेरी व्यक्तिता जाती रही, मैं न रहा। मुझे अपनी उस अवस्था का कुछ भी स्मरण नहीं आता, जब मैं दो तीन

वर्ष का था। अब यदि प्रत्यभिज्ञा और सत्ता एक ही ठहरी तब तो जो कुछ मैं भूला वह गया। अपने उस जीवन में जिसका मुझे स्मरण नहीं, मैं जीता ही न था। यह व्यक्तिता का बहुत संकुचित भाव है। हमारी व्यक्तिता अभी पृथक् पृथक् नहीं है। पर हम पृथक् पृथक् व्यक्तिता की ओर चले जा रहे हैं, वह व्यक्तिता अनंतता है। वही मनुष्य की सच्ची प्रकृति, सच्चा रूप है। वही जीवित है जिसका जीवन विश्वमात्र में है; जितना ही हम अपने जीवन को परिमित पदार्थों पर लगाते हैं उतना ही हम मृत्यु के संनिकट पहुँचते जाते हैं। हम उसी समय जीवित हैं जब हमारा जीवन विश्व में, दूसरों में है; और इस छोटे जीवन में जीना मृत्यु है, केवल मृत्यु है। यही कारण है कि लोग मृत्यु से इतना भय खाते हैं। मृत्यु का भय तभी जाता रहता है जब मनुष्य यह साचात् कर लेता है कि जब तक विश्व में एक जीवन है मैं जीता हूँ। जिस समय कोई कहता है कि 'मैं ही सबमें हूँ, सब प्राणियों में हूँ, मैं सब जीवनों में हूँ, मैं ही विश्व हूँ' उसी समय उसमें निर्भयता आ जाती है। सदा बदलती वस्तुओं में अमरता की कल्पना करना असंभव है। संस्कृत के एक प्राचीन दार्शनिक का कथन है कि "यह केवल आत्मा है जो व्यक्त हो रही है, क्योंकि वह अनंत है; अनंतता का विच्छेद नहीं है, अनंतता अखंड है। यह वही है, नित्य अखंड; और वही मनुष्यरूप में है, वही परम-पुरुष है। यह मनुष्य केवल उसी सत्ता के स्फुट और व्यक्त करने का प्रयत्न-मात्र है जो परे है; और

आत्मा में परिणाम नहीं है। यह परिणाम जो हो रहा है—बुरे का भला होना, पशु का मनुष्य होना, इसे चाहे कैसा मान लो—आत्मा में नहीं होता है। यह प्रकृति का परिणाम और आत्मा की अभिव्यक्ति है। मान लीजिए कि हमारे और आप के बीच एक पर्दा है, उस पर्दे में एक छोटा छेद है, उस छेद में से मुझे दो चार के मुँह देख पड़ते हैं। मान लीजिए कि छेद बड़ा होता जा रहा है तो जैसे जैसे वह बड़ा होता जायगा मुझे वैसे वैसे अधिक दिखाई पड़ता जायगा और जब पर्दा बिलकुल न रह जायगा तो मैं आप लोगों के सामने आ जाऊँगा। आपमें कोई परिणाम नहीं हो रहा था, यह छेद था जिसमें परिणाम हो रहा था और आप धीरे धीरे व्यक्त होते जाते थे। यही दशा आत्मा की भी है। कोई पूर्णता प्राप्त नहीं हो रही है। तुम स्वयं पूर्ण और मुक्त हो। धर्म और ईश्वर के विचार और परलोक की जिज्ञासा किस लिये है? मनुष्य को ईश्वर की क्या आवश्यकता है? क्यों मनुष्य को सब जाति में और समाज की सब दशाओं में एक आप्त आदर्श की, चाहे वह मनुष्य के रूप में हो, या ईश्वर हो वा कोई और हो, आवश्यकता है? इसका कारण यही है कि वह भाव तुम्हारे अंतःकरण में भरा है। यह तुम्हारी अंतरात्मा की बात थी, और तुमने उसे जाना नहीं, तुमने उसे कोई बाहरी बात समझा। यह तुम्हारे अंतःकरण में ईश्वर ही था जो तुम्हें अपनी जिज्ञासा के लिये और साक्षात् करने के लिये प्रेरित कर रहा था। उसे तुमने इधर उधर बहुत ढूँढ़ा,

मंदिर में, गिरजे में, पृथ्वी पर, आकाश में, सब जगह ढूँढ़ कर थक गए और सारे चक्कर लगा कर फिर वहीं पहुँच गए जहाँ से चले थे। उस समय तुम्हें जान पड़ा कि जिसको हम सारे संसार में ढूँढ़ते फिरते थे, जिसके लिये गिरजों और मंदिरों में झँखते और सिर पटकते फिरते थे, जिसे हम गूढ़ातिगूढ़ भेदों में छिपा हुआ गूढ़ भेद समझते थे वह हमारे समीप से समीप हमारी ही आत्मा है—हमारे जीवन, आत्मा और शरीर की वही सत्ता है। यही तुम्हारी प्रकृति है। उसे स्वीकार करो, उसे साक्षात् करो। शुद्ध होने की आवश्यकता नहीं, तुम स्वयं शुद्ध हो। प्रकृति वह पर्दा है जिसकी ओट में सत्यता छिपी है। सारे शुभ संकल्प और कर्म जो तुम करते हो वे मानो पर्दे का फाड़ना-मात्र हैं और ज्यों ज्यों वह फटता है त्यों त्यों पवित्रता, अनंतता, ईश्वर, पर्दे की आड़ से अधिक अधिक प्रगट होते जाते हैं। यह मनुष्य का सारा इतिहास है। ज्यों ज्यों पर्दा सूक्ष्म होता जाता है त्यों त्यों पीछे से अधिक प्रकाश आता जाता है। क्योंकि प्रकाश उसका धर्म है। उसे हम जान नहीं सकते, उसके जानने के लिये व्यर्थ सिर मारते हैं। यदि वह ज्ञेय होता तो ऐसा होता ही नहीं, क्योंकि वह सनातन अधिष्ठान है। ज्ञान परिमित है उसे बाह्य विषय का बोध होता है। वह सबका सनातन अधिष्ठान, विश्व का नित्य साक्षी और तुम्हारी आत्मा है। ज्ञान मानो नीची श्रेणी है, एक तरह का पतन है। हम वही शाश्वत अधिष्ठान हैं, हम उसे कैसे जान सकते हैं? यही मनुष्य की सच्ची प्रकृति है, वह उसे भिन्न

भिन्न रूप से प्रगट करने की चेष्टा कर रहा है; नहीं तो नीति की इतनी पुस्तकें क्यों होतीं ? सारी नीति का समाधान कहाँ है ? सारी नीति की पद्धतियों का केंद्र-स्वरूप एक भाव है और वही भिन्न भिन्न रीतियों से वर्णित है। वह यह है कि दूसरों के साथ भलाई करो। मनुष्य का प्रधान उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह मनुष्यों के ऊपर दया करे, पशुओं पर दया करे। पर यह सब उसी शाश्वत सत्यता की भिन्न भिन्न व्याख्याएँ हैं जो यह है कि "मैं विश्व हूँ, यह विश्व एक ही है।" अन्यथा कारण ही क्या है कि मैं और मनुष्यों के साथ भलाई करूँ। मुझे कौन बाध्य करता है ? सहानुभूति ही है जो सर्वत्र समानता का भाव रखने के लिये बाध्य करती है। कठिन से कठिन हृदयवाले को भी कभी न कभी दूसरों पर दया आ ही जाती है। यहाँ तक कि वही मनुष्य जो यह सुनकर घबड़ा उठता है कि यह कल्पित सत्ता वा व्यक्तिता एक भ्रम-मात्र है, इस दृष्ट व्यक्तित्व पर डटे रहने की चेष्टा करना अधम कर्म है, वही पुरुष पूछते ही तुमसे यह कहेगा कि आत्मत्याग ही सारे धर्मों का मूल है। और पूर्ण आत्मोत्सर्ग क्या है ? अर्थात् इस कल्पित सत्ता वा पार्थक्य को छोड़ना, स्वार्थ का त्याग करना। यह मैं और मेरे का भाव, जिसको अहंकार और ममता कहते हैं, पुराने पक्षपातों का फल है और जितना इस दृष्टात्मा का भाव मिटता जाता है उतनी ही सत्य आत्मा की प्रगटता होती जाती है। यही सच्चा आत्मोत्सर्ग है, यही सारे धर्म की शिक्षा का तत्त्व, आधार और बीज है और चाहे मनुष्य इसे माने वा न माने सारा

संसार इसी ओर इसका कम वा अधिक अनुष्ठान करता बढ़ता जा रहा है। केवल मनुष्य-जाति के बहुसंख्यक लोग इसे अज्ञातरूप में कर रहे हैं। वे यह ज्ञानपूर्वक करें। यह जानकर कि यह अहंकार और ममता सच्ची सत्ता नहीं, सच्ची आत्मा नहीं, केवल अवच्छेदमात्र है वे स्वार्थ त्याग करें। केवल उस अनंत सत्ता की एक झलक से जो इसकी ओट में है, केवल उस अग्नि की एक चिनगारी से, जो सब है, मनुष्य की यह सत्ता प्रगट हुई है; वही नित्यता ही इसकी सच्ची प्रकृति है, वही इसका स्वरूप है।

इस ज्ञान की उपयोगिता, परिणाम और फल क्या है? आधुनिक युग में हमें प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता के विचार से देखना पड़ेगा—कि इससे हमें कितना लाभ होता है। भला किसी को अधिकार क्या है कि वह सत्यता की परख लाभालाभ वा रुपए के विचार से करना चाहे? मान लीजिए कि लाभ नहीं है तो इतने मात्र से क्या उसकी सत्यता में कमी हो गई? उपयोगिता सचाई की परख नहीं है। परंतु इसमें लाभ भी सबसे अधिक है। सब कोई सुख ही चाहते हैं, पर अधिक लोग सुख को ऐसे पदार्थों में खोजा करते हैं जो क्षणिक और मिथ्या हैं। सुख कभी इंद्रियों के विषय में नहीं मिला है। संसार में ऐसा कोई भी मनुष्य न होगा जिसे इंद्रियों के विषय में वा इंद्रियजनित विषय-भोग में सुख मिला हो। सुख केवल आत्मा में है। अतः मनुष्य-जाति का सब से अधिक लाभ है आत्मा का सुख प्राप्त करना। दूसरी बात यह है कि अविद्या ही दुःख का मूल है, इसीसे सारे दुःखों की उत्पत्ति

है और मुख्य अविद्या यह है कि मनुष्य यह समझता है कि अनंत पदार्थ शांत होने के ये हैं। यही सारी अविद्या की जड़ है कि हम अजर अमर शुद्ध बुद्ध पूर्ण आत्मा होते हुए भी यह मान रहे हैं कि हम मन हैं, हम शरीर हैं—यही सारे स्वार्थों का मूल है। ज्योंही हमारी समझ में यह आ जाता है कि मैं शरीर ही हूँ, मैं दूसरों को हानि पहुँचा कर इस शरीर को साफ सुथरा रखने और इसे पालने पोसने का प्रयत्न करने की इच्छा करता हूँ—त्यों ही हममें और तुममें भेद पड़ जाता है। भेद का भाव आया कि सारी बुराइयों का मार्ग खुला और परिणाम दुःख हुआ। इसकी उपयोगिता यही है कि यदि आज मनुष्यों की थोड़ी सी संख्या भी स्वार्थ, क्षुद्रता और संकोच के भाव को त्याग दे तो कल ही यह संसार स्वर्ग हो जाय; पर कला-कौशल और भौतिक विज्ञान की उन्नति से यह कदापि न होगा। इनसे केवल दुःख बढ़ते जायँगे, जैसे तेल से आग बढ़ती है। बिना आध्यात्मिक ज्ञान के सारा भौतिक विज्ञान आग में ईंधन डालने के समान ही है। यह केवल स्वार्थी के हाथ में किसी ऐसे एक और शस्त्र का दे देना मात्र है जिससे वह दूसरों के लिये आत्मोत्सर्ग करने की जगह पराये धन को अपनाले, दूसरों का गला काट कर आप चैन उड़ावे।

फिर प्रश्न यह है कि क्या यह सिद्धांत काम की चीज़ है? क्या आजकल के समाज में इसके अनुसार काम हो सकता है? सत्य समाज के पैरों पड़ने नहीं जाता, चाहे वह समाज

पुराने समय का हो वा आजकल का हो। समाज भले ही सत्यता के सामने अपना सिर झुकावे अन्यथा उसका नाश ध्रुव है। समाज का संगठन सत्यता पर होना चाहिए पर सत्यता कहीं समाज के अनुसार नहीं हुआ करती। यदि समाज में निःस्वार्थता के समान उत्तम सचाई के अनुसार काम नहीं हो सकता तो ऐसे समाज में रहने की अपेक्षा उसे छोड़ कर जंगल में जाकर रहना कहीं अच्छा है। ऐसा ही करनेवाला साहसी कहा जा सकता है। साहस दो प्रकार का होता है। एक साहस तो तोप का सामना करने का। दूसरा साहस है आध्यात्मिक दृढ़ निश्चय का। एक महाराज को जिसने भारत पर आक्रमण किया था उसके आचार्य्य ने यहाँ के ऋषियों के पास जाने और उनका दर्शन करने के लिये कहा। बड़ा खोजा पर एक वृद्ध पुरुष एक शिला पर बैठा हुआ मिला। महाराज ने उससे थोड़ी सी बात की और उस पर उसकी बुद्धिमत्ता का बड़ा प्रभाव पड़ा। महाराज ने महात्मा से अपने साथ चलने के लिये प्रार्थना की। ऋषि ने उत्तर दिया कि नहीं मैं न जाऊँगा। मुझे इस वन में बड़ा आनंद है। महाराज ने कहा मैं राजाधिराज हूँ, मैं आपको धन-संपत्ति, मान और पद प्रदान करूँगा। ऋषि ने कहा कि मुझे इन वस्तुओं की आवश्यकता ही नहीं है। फिर तो महाराज ने कहा यदि आप न चलेंगे तो मैं आपको मार डालूँगा। अब तो स्वामी शांत भाव से मुसकरा कर कहने लगा, महाराज आप कैसी मूर्खता की बात कर रहे

हैं। आप मुझे मार नहीं सकते, न मुझे सूर्य सुखा सकता है, न आग जला सकती है और न तलवार काट सकती है, मैं जन्म मरण से रहित अजर अमर सर्वशक्तिमान् और सर्वगत आत्मा हूँ। यही आध्यात्मिक साहस है, इसके अतिरिक्त अन्य सिंह और व्याघ्र के से साहस हैं। सन् १८५७ में एक महात्मा स्वामी रहते थे। एक मुसलमान बागी ने स्वामी जी को छूरा भोंक दिया। हिंदू बागी उस मुसलमान को पकड़ कर स्वामीजी के पास लाए और बोले, कहिए तो मार दें। पर स्वामीजी ने उसे शांत भाव से देखा और वे कहने लगे 'भाई तू वही है, तू वही है' और यह कह कर मर गए। यह एक दूसरा उदाहरण है। अपने स्नायु के बल की प्रशंसा करने से क्या लाभ और पश्चिमीय शिक्षा की उत्कृष्टता की डींग मारने से क्या फल, यदि आप अपने समाज में सत्य की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते, यदि आप अपने समाज को ऐसा नहीं बना सकते जिसमें सत्य प्रतिष्ठित हो सके? अपनी महिमा की बढ़ बढ़ कर बातें करने से क्या हो सकता है, यदि आप खड़े होकर यह नहीं कह सकते कि यह साहस व्यवहार के काम का नहीं है। रुपए पैसे के सिवाय क्या कोई चीज काम की नहीं है? यदि यह ठीक है तो फिर समाज पर आप डींग क्यों मारते हैं? वही समाज सर्वश्रेष्ठ है जिसमें सत्य से सत्य का काम है। यही मेरी अनुमति है कि यदि आपका समाज इस योग्य न हो कि

उसमें सत्य की प्रतिष्ठा होती हो तो उसे इस योग्य बनाओ और जितना ही शीघ्र बना सको अच्छा है। स्त्री पुरुषो, इस विचार से खड़े हो जाओ, सत्य में विश्वास करने का साहस करो, सत्य का अनुष्ठान करने का साहस करो। संसार में दो चार सौ वीर पुरुष और स्त्रियों की आवश्यकता है। ऐसी वीरता करो जिससे सत्य के जानने का उत्साह हो, जिससे जीवन में सत्यता दिखलाने का साहस उत्पन्न हो, जिससे मृत्यु को देख कर घबराना न पड़े, किंतु लोग मृत्यु का स्वागत करें और यह समझें कि हम आत्मा हैं, जो विश्व में व्याप्त है और जिसे कोई मार नहीं सकता। तभी आप मुक्त होंगे। तभी आपको अपनी आत्मा के स्वरूप का बोध होगा। इस आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन सबसे पहले करना योग्य है।

आजकल लोगों की यह प्रवृत्ति हो रही है कि वे कर्म की बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं और ज्ञान की निंदा करते हैं। कर्म बहुत अच्छा है पर वह ज्ञान से होता है। स्नायुओं द्वारा शक्ति को व्यक्त करने का नाम कर्म है। पर जहाँ ज्ञान ही नहीं है वहाँ कर्म कहाँ से होगा। मस्तिष्क को उत्तम ज्ञान और उत्कृष्ट आदर्शों से भर दो और उस पर दिन रात ध्यान रक्खो। उसी से बड़े बड़े कर्म प्रगट होंगे। अशुद्धता की बात मत करो, यह कहो कि हम शुद्ध हैं, हम इस भ्रम में स्वयं पड़ गए थे कि हम परिमित हैं हमारा जन्म मरण है और इसी से भयभीत थे।

यह कथा है कि एक सिंहिनी गर्भिणी थी। वह अपने खाद्य के लिये जा रही थी कि उसने भेड़ों के झुंड को देखा और उस पर झपटी। इसी उद्योग में दैवयोग से उसे प्रसव हुआ और वह मर गई, बच्चा वहीं पड़ा रहा। भेड़ों ने उसे अपना दूध पिला कर पाला और वह उनके बच्चों के साथ रहता और घास चरा करता था। भेड़ों की तरह मैं मैं भी करता था। बहुत दिनों में बढ़ते बढ़ते पूरा सिंह हो गया पर वह अपने को भेड़ ही समझता था। एक दिन एक सिंह अपना खाद्य ढूँढ़ता हुआ भेड़ों के झुंड की ओर आ निकला। भेड़ें उसे देखते ही भागीं और वह सिंह भी उन्हीं के साथ भागा। उस सिंह को पहले सिंह को भेड़ों के झुंड में उनके साथ भागते देख बड़ा आश्चर्य हुआ। वह उसके पास जाकर यह कहने के प्रयत्न में था कि तू भेड़ नहीं है, सिंह है, पर वह उसे देखते ही भागा और उसे कहने का अवकाश न मिला। वह अवसर की ताक में था कि एक दिन वह सिंह जो भेड़ों में रहता था उसे सोता मिला। वह उसके पास गया और कहने लगा, भाई तुम भेड़ नहीं हो, सिंह हो। पर उस सिंह ने उसकी एक न मानी और यह कहता रहा कि मैं भेड़ हूँ। वह मैं मैं करता भागा। सिंह उसे पकड़ कर जलाशय के पास ले गया और कहने लगा कि इसके पानी में अपनी और मेरी परछाँही तो देख, फिर कहना कि मैं भेड़ हूँ। अब तो उसे छाया देख कर विवेक उत्पन्न हो गया। उसने सिंह की छाया

और अपनी छाया को देख कर जो मिलाया तो उसे झट यह ज्ञान हो गया कि मैं सिंह हूँ। वह गर्जने लगा और उसका मैं मैं करना जाता रहा। इसी तरह तुम सिंह हो, आत्मा हो, शुद्ध, अनंत और पूर्ण हो। तुममें विश्व की शक्ति है। तुम क्यों कलप रहे हो? तुम्हारा न जन्म है, न मरण। तुम झंखते क्यों हो? न तुम्हारे लिये कोई व्याधि है, न दुःख है, तुम आकाशवत् अनंत हो, रंग रंग के बादल आते हैं और क्षण में इधर उधर भाग जाते हैं पर आकाश का रंग सदा नीला रहता है। आप कहेंगे कि हमें फिर ऐसी दूषित प्रतीति क्यों होती है? उत्तर यह है कि कहीं लकड़ी का एक ठूँठ था। एक चोर रात को उस राह से निकला और उसने उसे चौकीदार समझा। एक प्रेमी अपनी प्रिया के लिये वहाँ प्रतीक्षा कर रहा था, उसने उसे अपनी प्रेमिका जाना। एक बालक जिसने सुन रक्खा था कि भूत अँधेरे में रहते हैं, उसे देख कर काँपने चिल्लाने लगा। पर वह रहा ठूँठ का ठूँठ। मान लीजिए कि एक कोठरी में एक बालक अशर्फियों का थैला लिए खेल रहा है। एक चोर वहाँ जाय और कुछ अशर्फियों को चुरा ले जाय। क्या बच्चे को इसका अनुमान होगा कि वह अशर्फियाँ चुरा ले गया? बात यों है कि जो भाव हमारे भीतर होता है वही हमें बाहर दिखाई पड़ता है। बालक में चोर का भाव था ही नहीं, उसे वह बाहर भी नहीं देख पड़ता। यही दशा ज्ञान की है। संसार की बुराई का नाम न लीजिए, इसके पापों का ध्यान न कीजिए। इसका पश्चात्ताप

कीजिए कि आपको बुराई देख पड़ती है। फिर पश्चाताप कीजिए कि आपको संसार में बुराई ही दिखाई पड़ रही है, पर यदि आप संसार की सहायता कर सकते हैं तो उससे घृणा मत कीजिए। इसे और अधिक निर्बल न बनाइए, क्योंकि पाप क्या है, दुःखादि क्या हैं, केवल इसी निर्बलता के फल न ? ऐसे उपदेशों से संसार दिन दिन निर्बल होता जा रहा है। मनुष्यों को बचपन ही से यह शिक्षा दी जाती है कि तुम निर्बल और पापी हो। उन्हें यह शिक्षा दीजिए कि तुम प्रभावशाली अमृतत्व की संतान हो, चाहे तुम अत्यंत दीन हीन हो। उनके मस्तिष्क में स्पष्ट प्रबल और उपयोगी विचार बचपन ही से भर दो। ऐसे विचारों को ग्रहण करने के लिये सदा उद्यत रहो, निर्बल और स्तब्ध करनेवाले विचारों को अपने पास कभी न फटकने दो। अपनी आत्मा से कहो 'सोहं, सोहं' मैं वही हूँ, मैं वही हूँ। यही ध्वनि अपने मन में दिन रात करते रहो, इसी का जप करो। इसी का राग सुनो और अंत अवस्था में भी यही शब्द निकले 'सोहं'। यही सत्य है। संसार का अनंत बल तुम्हारा ही है। उस अज्ञानमय पक्षपात को जो तुम्हारे अंतःकरण में छाया हुआ है त्याग दो। हम लोगों को वीर बनना चाहिए। सत्य को जानो और सत्य ही का अनुष्ठान करो। चाहे परमावधि दूर हो, फिर भी जागो, उठो और जब तक परमावधि तक न पहुँचो, दम न मारो।

---

(३) माया और भ्रम ।

आप लोगों में लगभग सबने माया का शब्द सुना होगा। प्राय: इस शब्द का प्रयोग भ्रम के अर्थ में होता है । पर माया का सिद्धांत एक स्तंभ है जिसके ऊपर वेदांत का आधार है, अत: इसे यथार्थ रूप से समझना नितांत आवश्यक है। थोड़ा सा धैर्य्य धरिए क्योंकि इसके अर्थ में भ्रम होजाने का डर है । माया का प्रयोग वेदों में प्राचीन काल में भ्रम के अर्थ में मिलता है पर उस समय माया के ठीक सिद्धांत का कहीं पता तक न था । हमें प्राय: ऐसे वाक्य वहाँ मिलते हैं कि इंद्र ने अपनी माया से बहुत से रूप धारण किए । इसमें संदेह नहीं कि वहाँ माया का अर्थ कुछ जादू के ऐसी चीजें हैं और इसी अर्थ में अनेक स्थलों में वहाँ इस शब्द के प्रयोग मिलते हैं । फिर आगे चलकर माया का शब्द देख नहीं पड़ता, पर इसी समय में इसके भाव का उदय होना प्रारंभ हो गया था और आप्यायित हो रहा था । इसके अनंतर यह प्रश्न उठाया गया कि 'हमें विश्व के रहस्यों का ज्ञान क्यों नहीं हो सकता' और इसका गंभीर-भाव-पूर्ण यह उत्तर दिया गया कि 'कारण यह है कि हम व्यर्थ बका करते हैं, हम इंद्रियों के विषय में संतुष्ट हैं, इस इच्छा के पीछे दौड़ रहे हैं मानों हम सत्य को कुहरे से ढाँक रहे हैं । यहाँ माया का शब्द बिल्कुल ही आया नहीं है, पर इससे यह भाव निकलता है कि हमारा अज्ञान एक प्रकार का कुहरा

है जो हमारे और सत्य के बीच में आगया है। फिर इसके बहुत पीछे एक सबसे पीछे के उपनिषद में हमें माया का शब्द फिर मिलता है, पर इस बार इस शब्द के भाव में बहुत परिवर्तन हो गया था और बहुत से नए विचार इसके साथ लग गए थे। सिद्धांत निकले, उनका पुनर्वचन हुआ, दूसरे सिद्धांत उठे और होते होते अंत को माया का अर्थ बँध गया। हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् में यह मिलता है कि 'प्रकृति को माया और ईश्वर को मायी जानो'। दार्शनिकों की ओर देखिए तो यह जान पड़ता है कि माया के शब्द का ग्रहण अनेक प्रकार से यथेच्छ अर्थों में किया गया है और होते होते हम आदि शंकराचार्य तक पहुँचते हैं। बौद्धों ने भी माया के सिद्धांत में बहुत कुछ कतर-ब्योंत किया पर बौद्धों के हाथ में पड़ कर यह बहुत कुछ बाह्यशून्य-वाद के सिद्धांत सा हो गया और आजकल माया का वही अर्थ लिया जाता है। ज्यों हिंदू के मुँह से माया का शब्द निकला उसी चण लोग समझ जाते हैं कि संसार भ्रम है। ऐसा अनुवाद होने का हेतु है, क्योंकि यह भाव बौद्धों के द्वारा आया है और बौद्धों में दार्शनिकों का एक भेद था जिनका सिद्धांत था कि बाह्यशून्य है अर्थात् यह जगत् बाहर कुछ है ही नहीं। पर वेदांत का माया शब्द अपने अंतिम विस्तीर्ण अर्थ में न तो बाह्यशून्यवाद है और न परमार्थवाद है और न यह कोई सिद्धांत ही है। यह तो केवल एक सत्य बात है, अर्थात् हम क्या हैं, और हमें संसार में क्या दिखाई पड़ता है। जैसा कि

मैं पहले कह चुका हूँ कि वैदिक ऋषियों का ध्यान सिद्धांतों पर चलने और सिद्धांतों को निकालने पर था। उन्हें उधेड़ बुन का समय न था, वे पदार्थों की तह में जाना चाहते थे। कोई और उन्हें प्रेरणा कर रहा था और वे रुक नहीं सकते थे। उपनिषद् ऐसे विषयों से भरा पड़ा है जिन्हें हम आधुनिक विज्ञान कह सकते हैं; पर बात यह है कि उनका वर्णन भ्रमात्मक है किंतु विशेषता यह है कि सिद्धांत नितांत ठीक है। उदाहरण के लिये आकाश की बात लीजिए जिसे आजकल 'ईथर' कहते हैं। यह अत्यंत नवीन आधुनिक विज्ञान की बात है। पर वह आधुनिक विचार से कहीं अधिक प्रोन्नत दशा में हमारे प्राचीन साहित्य में मिलती है। पर वहाँ वह केवल सिद्धांत के रूप में है। अब उसके सिद्धांत को प्रयोगों से प्रमाणितकरनेका प्रयत्न किया गया है तो उसमें अनेक भ्रांतियाँ हो गई हैं। सर्वव्यापी जीवन का सिद्धांत, जिस जीवन के विश्व के समस्त जीवन एक व्यंजना मात्र हैं, वैदिक काल में ही ज्ञात हो चुका था, उसका वर्णन ब्राह्मण ग्रंथों में मिलता है। संहिता में एक सूक्त है जिसका देवता प्राण है। उसमें प्राण को सारे जीवनों की अभिव्यक्ति का कारण कहा गया है। आपको यह सुन कर आश्चर्य होगा कि वेदों में इस पृथ्वी पर जीवन का प्रारंभ कैसे हुआ। इस विषय में उन्हीं सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है जिन्हें आजकल के युरोप के कुछ वैज्ञानिकों ने निर्धारित

किया है। इसमें संदेह नहीं कि आप लोगों में से बहुधा लोगों को यह ज्ञात होगा कि जीवन के अन्य ग्रहों से आने का एक सिद्धांत है। कितने ही वैदिक ऋषियों ने इसका निश्चय कर लिया था कि जीवन चंद्रलोक से आता है।

मूल विषय पर आकर हमें यह जान पड़ता है कि वैदिक ऋषि बड़े बड़े और विशदीकृत सिद्धांतों के निर्धारण करने में बड़े साहसी और निर्भीक थे। बाह्य जगत् की दृष्टि से विश्व के रहस्य का उनका समाधान इतना संतोषजनक था जितना कि चाहिए। आधुनिक विज्ञान की सविस्तर उपपत्तियों से इस प्रश्न का समाधान एक पद भी आगे न बढ़ सका, कारण यह है कि नियम ही दूषित हैं। यदि आकाश का सिद्धांत प्राचीन काल में दूषित ठहरा और विश्व के रहस्य का समाधान न कर सका तो उसकी उपपत्ति के प्रसार से सत्य का अधिक निर्धारण नहीं हो सकता। यदि इस विश्व में एक व्याप्त जीवन होने का सिद्धांत दूषित ठहरा तो उसकी उपपत्ति के प्रसार से कुछ अधिक फल सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उपपत्ति का फैलाव होने से सिद्धांत में कोई अंतर नहीं पड़ सकता। हमारे इस कहने का मुख्य तात्पर्य्य यह है कि सिद्धांत के निश्चय करने में हिंदू ऋषि आजकल के विद्वानों के समान, और कहीं कहीं तो उनसे भी अधिक, निर्भीक थे। उन लोगों ने कितने बड़े बड़े सामान्यवाद निकाले हैं, जहाँ तक अभी लोगों की पहुँच ही नहीं हुई और उनमें से कितने तो केवल सिद्धांत-मात्र रह

गए हैं जिनका आधुनिक विज्ञान को अभी तक पता भी नहीं लग पाया है। उदाहरण के लिये देखिये उन लोगों को आकाश के सिद्धांत का पता चला, पर वे उसे छोड़ आगे बढ़ गए, मन को उन्होंने आकाश का एक सूक्ष्म भेद मान लिया। उससे आगे बढ़ कर उन्होंने आकाश की एक सूक्ष्म अवस्था की कल्पना कर डाली। पर यह कोई समाधान न था, यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना ही रहा। बाह्य जगत् का ज्ञान कितना ही हो उससे इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता था। पर वैज्ञानिकों का कथन है कि हमने अन्वेषण प्रारंभ किया है, दस पाँच हज़ार वर्ष ठहरो, हम इसका समाधान कर देंगे। वेदांती कहता है कि नहीं, ठहरना व्यर्थ है क्योंकि मन परिमित है, उसकी गति एक परिमाण से बाहर नहीं जा सकती। देश, काल और परिणाम से बाहर उसकी पहुँच नहीं है। कोई मनुष्य अपने शरीर से बाहर नहीं कूद सकता, कोई मनुष्य परिमाण के बाहर नहीं जा सकता। यह परिमाण देश, काल के नियम से निर्धारित है। देश, काल और परिणाम के समाधान करने की सारी चेष्टाएँ विफल हैं, कारण यह है कि इन तीनों की सत्ता निर्धारण करने के लिये इन्हें मान कर ही चेष्टा करनी पड़ेगी। फिर तो संसार की सत्ता का क्या अर्थ होगा? यही न कि इसकी सत्ता है ही नहीं। इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यही तो होता है कि इसकी कोई स्वतंत्र वा पृथक् सत्ता नहीं है। इसकी सत्ता हमारे आपके और औरों के मन की अपेक्षा ही है। हमें इस संसार का बोध पाँच इंद्रियों से होता है, पर यदि हमारे और

इंद्रियाँ होतीं तो हमें इसका कुछ और अधिक ज्ञान होता। अतः इसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है, यह कोई सत् पदार्थ नहीं है अर्थात् इसकी ऐसी सत्ता नहीं है जो परिणाम-रहित अचल और अनंत हो। इसे असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि हम देखते हैं कि यह है और इससे हमारे काम चल रहे हैं। इसमें सत् और असत् दोनों भाव मिलते हैं।

इस सूक्ष्म बात को छोड़िए और सामान्य बातों पर आइए। नित्य के व्यवहार को देखिए। हमारे जीवन में सत् और असत् दोनों के भाव हैं। यह विरोध-दशा ज्ञान की भी है। देखने में प्रतीत होता है कि मनुष्य यदि चाहे तो सब कुछ जान सकता है, पर थोड़ा ही आगे बढ़ने पर उसके आगे एक अष्टधाती दीवाल पड़ जाती है जिसे वह पार नहीं कर सकता है। उसके सारे काम एक वृत्त में बँधे हैं, वह उस वृत्त से बाहर निकल नहीं सकता। उसके आगे वे प्रश्न जो उसे अत्यंत प्रिय और आवश्यक हैं समाधान के लिये पड़े चिल्लाया ही करते हैं और वह उनका समाधान नहीं कर पाता। इसका कारण यही है कि वह अपनी बुद्धि के आगे नहीं बढ़ सकता। पर फिर भी वही इच्छा उसके मन में कहीं अधिक प्रबलता से उत्पन्न होती है। पर उस समय सिवाय इसके और कोई उपाय ही नहीं दिखाई पड़ता कि वह उन इच्छाओं का निग्रह करे। श्वास प्रतिश्वास हममें स्वार्थ का भाव उदय होता रहता है, पर हमारे अंतःकरण में जहाँ स्वार्थ के भाव उदय होते हैं वहीं कहीं से यह भी शब्द सुनाई पड़ता है

कि 'निःस्वार्थ ही अच्छा काम है' । बच्चा जब उत्पन्न होता है वह भोला भाला होता है । सब कुछ उसे अच्छा ही प्रतीत होता है, वह सुख की नींद सोता है। जवानी में वह और सबको अच्छा ही समझता है । उसे इसका ज्ञान नहीं होता कि मृत्यु कोई चीज है या हार वा पतन भी किसी का नाम है । बुढ़ापा आता है और जीवन उसे भार जान पड़ने लगता है । सारे स्वप्न जाते रहते हैं, उसे चारों ओर दुःख ही दुःख वा बुराई ही बुराई देख पड़ती है । इस प्रकार हम प्रकृति की ठोकर खा कर एक छोर से दूसरी छोर पर पहुँच जाते हैं, हमें इसका भी कुछ ज्ञान नहीं कि कहाँ जा रहे हैं । मुझे इस अवस्था पर ललितविस्तर की एक प्रसिद्ध गाथा का स्मरण आता है । लिखा है कि बुद्धदेव का जन्म मनुष्यों के तारण के हेतु हुआ था पर उसे अपने राजभवन के सुखों में पड़ने से उसका स्मरण जाता रहा था। एक देवता आया और उसने उसका उद्‌बोधन कराने के लिये एक गाथा का गान किया । उस गाथा का सारा अभिप्राय यह है कि हम भवसागर की परिणामवती धारा में बहे जा रहे हैं, वह न कहीं ठहरती है और न उसमें कहीं आश्रय है ।इसी प्रकार हमारा जीवन भी चला जा रहा है, उसमें कहीं विश्राम का ठिकाना नहीं है । हमें क्या करना चाहिए ? जिसके पास खाने पीने को भरपूर है उसे सब चैन ही चैन है, वह दुःख का नाम नहीं लेता, दुःख के नाम से उसे डर लगता है । उसके सामने संसार के दुःख और चिंता का नाम न लीजिए, उसके पास जाकर यही कहिए सब चैन ही चैन है ।

वह कहता है कि देखो मैं चैन से हूँ, मेरा घर बहुत सुंदर है, मुझे जाड़े और भूख की चिंता नहीं है। इन भयानक बातों को मेरे सामने मुँह पर न लाया करो। पर कितने ऐसे हैं जो जाड़े और भूख के मारे मर रहे हैं। यदि आप उनके पास जायँ और उनसे कहें कि सब सुख ही सुख है तो वे आपकी बात सुनेंगे भी नहीं। भला वे यह कब चाहेंगे कि दूसरे मौज उड़ावें और वे दुःख में पड़े झीखें ? अतः हम सुखवाद और दुःखवाद की खींचाखींची में पड़े हैं।

इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात मृत्यु है। सारा संसार मृत्यु की ओर जा रहा है, सबका नाश होता है। हमारी सारी उन्नति, अभिमान, सुधार तथा सुख, संपत्ति और ज्ञान का वही परिणाम है। सबका अंत वा नाश ध्रुव है। यही निश्चय और ध्रुव है। नगर बसते हैं और उजड़ जाते हैं, राज्यों का उदय और अस्त होता है, ग्रह नक्षत्र खंड खंड होकर छिन्न भिन्न हो जाते हैं और धूर में मिल जाते हैं जो उड़ कर दूसरे ग्रहों के वायुमंडल में पहुँच जाती है। यह काम अनंत काल से होता आ रहा है, सबका अंत मृत्यु वा नाश है। नाश ही जीवन का, सौंदर्य्य का, धन का, धर्म का, सबका अंत है। धर्मात्मा मरते हैं, पापी मरते हैं, राजा मरते हैं, रंक मरते हैं, सब मृत्यु के मुँह में जा रहे हैं पर जीने की यह आशा बनी है। हमें इसका बोध नहीं होता कि क्यों लोग जीवन पर इतने लट्टू हो रहे हैं, पर क्या करें इसे छोड़ भी नहीं सकते, यही माया है।

माता बच्चे का पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से करती है। उसका सारा जीवन, सारी आत्मा, उस बालक में रहती है। बच्चा बढ़कर जवान होता है, दैव-योग से दुराचारी नर-पिशाच निकल जाता है और अपनी माता की नित्य ताड़ना करता है, उसे लातों से मारता है, पर फिर भी माता उसका प्रेम नहीं छोड़ती, जब उसमें विवेक का उदय होता है तो प्रेम का भाव आकर उसे दबा देता है और उसके सब अवगुण उसे गुण दिखाई पड़ते हैं। वह यह नहीं जानती कि यह प्रेम नहीं है जिसके वश में वह ऐसा कर रही है, जिसे वह त्याग नहीं सकती है; वह चाहे जितना प्रयत्न करे वह उस बंधन से नहीं छूट सकती और यही माया है।

सब मृगतृष्णा में पड़े दौड़ रहे हैं, सब सोच रहे हैं कि अब लिया अब लिया, प्रत्येक बुद्धिमान यह समझता है कि उसकी सफलता की आशा लाख में एक बिस्वा-मात्र भी नहीं है पर फिर भी वह उसके लिये सिर मारता है, यही माया है।

मृत्यु नित्य संसार से ढो ढो कर लोगों को ले जा रही है, फिर भी हम यह समझते हैं कि हम अजर अमर हैं। एक बार एक यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा कि इस पृथ्वी पर सबसे अधिक अचंभे की कौन बात है। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि संसार में सब मरते जा रहे हैं पर फिर भी लोग यह समझे बैठे हैं कि हम अमर हैं। यही माया है।

यही परस्पर विरोध हमारी बुद्धि में, हमारे ज्ञान में, कहीं

तक कहें हमारे जीवन की प्रत्येक बात में चारों ओर से दिखाई पड़ता है। एक सुधारक आता है और उन बुराइयों को जो किसी जाति में हैं दूर करना चाहता है, पर उनका परिहार होते होते हजारों और बुराइयाँ दूसरी जगह उत्पन्न हो जाती हैं। एक गिरनेवाले घर की ऐसी दशा हो रही है कि एक स्थान पर मरम्मत करो तो वह दूसरे स्थान पर गिर पड़ता है, दूसरे स्थान पर करो तो तीसरे स्थान पर वही बात हो जाती है। भारतवर्ष के संशोधक गला फाड़ फाड़ कर विधवा-विवाह न होने की बुराइयाँ दिखलाते हैं, उसके लिये आँसू बहाते हैं। इधर पश्चिम में विवाह न करना और कुमारी रहना ही समाज में घुन बन रहा है। एक ओर अविवाहिताओं का विवाह कराओ, उनको दुःख हो रहा है। दूसरी ओर विधवाओं का विवाह कराओ, वे पड़ी विकल हो रही हैं। पुरानी गठिया हो रही है, सिर से दूर करो धड़ में हो जाती है, धड़ से अच्छी हो पैर में, कहीं न कहीं अवश्य रहेगी। सुधारक आते हैं और कहते हैं कि विद्या, धन और उन्नति किसी एक के हाथ में नहीं रहनी चाहिए, उन पर सबका अधिकार है। वे यथासाध्य उन्हें सबके हस्तगत कराने के लिये उद्योग करते हैं। इनसे कुछ लोगों का कल्याण भी होता है पर ज्यों ही उन्नति आती है भौतिक सुख की कमी होने लगती है। सुख के ज्ञान के साथ ही साथ दुःख का ज्ञान भी आही जाता है। हम किधर जायँ ? भौतिक उन्नति का जितना ही सुख हमको एक स्थान पर होता है दूसरे स्थान

पर उतना ही उससे विकार भी उत्पन्न होता है। यह नियम है। बालकों को संभव है कि इसका ज्ञान न हो पर जो लोग बूढ़े हैं, जिन्हें संसार का कुछ अनुभव है, वे इसे जानते हैं। और यही माया है। ये काम नित्य हुआ करते हैं और इनके भेद का समझ में आना असंभव है। यह ऐसा क्यों है ? इसका उत्तर देना असंभव है। न्यायानुसार यह प्रश्न किया ही नहीं जा सकता। इसमें 'क्यों' और 'कैसे' नहीं हो सकता है। हम जानते हैं कि यह है और इसे हम मेट नहीं सकते, यहाँ तक कि इसका ग्रहण करना और इसके ठीक रूप को अपने मन में अंकित करना तक हमारे अधिकार के बाहर है। फिर हम इसका समाधान कैसे कर सकते हैं ?

माया इस विश्व की वास्तविक दशा का वर्णन है कि यह कैसे हो रहा है। लोगों से जब ये बातें कही जाती हैं तो वे डर जाते हैं। पर हमें जीवट करनी चाहिए। बातों को छिपाना उनका प्रतीकार ढूँढ़ने के लिये अच्छा नहीं है। जैसे जब शशक के पीछे कुत्ते दौड़ते हैं तो वह अपना सिर कहीं नीचे छिपाकर यह जान कर बैठ रहता है कि मैं बच गया। इसी प्रकार हम उसी शशक की भाँति सुख में अपने को छिपा कर बैठ रहते हैं, पर यह कोई प्रतीकार नहीं है। इसका कुछ लोग विरोध भी करते हैं पर यह स्मरण रखो कि विरोध करनेवाले प्राय: ऐसे ही लोग हैं जिनके पास पुष्कल सुख की सामग्री है। इस इँगलिस्तान में दुःख का ध्यान करना भी कठिन है। सब यही

कहते मिलते हैं कि संसार कैसा सुखमय है, कैसी उन्नति हो रही है, पर उनका संसार अपने ही तक है। पुराने प्रश्न फिर आते हैं कि संसार में ईसाई धर्म ही सत्य होगा, क्योंकि ईसाइयों ही का अभ्युदय हो रहा है। पर बात उलटी पड़ती है। ईसाइयों का अभ्युदय उन दूसरी जातियों के दुर्भाग्य पर अवलंबित है जो ईसाई नहीं हैं। किसी न किसी पर मार अवश्य पड़ेगी। मान लीजिए कि सारा संसार ईसाई हो जाय तो ईसाई लोग निर्धन हो जायँगे क्योंकि फिर तो कोई ऐसा रहेगा नहीं जो ईसाई न हो, फिर मार कौन खायगा? अत. इस न्याय से तो अंत को हानि ही हुई। चर के अन्न अचर हैं, मनुष्य के अन्न पशु हैं और अत्यंत नीचता यह है कि मनुष्य अपनी जाति ही के प्राणियों को खा लेते हैं, बली दुर्बल को खाता है। यह संसार भर में हो रहा है। यही माया है। इसका समाधान क्या है? हम इसका नित्य समाधान ढूँढ़ा करते हैं और सुनते हैं कि अंत को अच्छा होगा। यदि मान भी लिया जाय कि यह सत्य है तो प्रश्न उठता है कि भलाई करने की यह पैशाचिक रीति क्यों? इन पैशाचिक कर्मों के स्थान में भलाई ही से भलाई क्यों न की जाय? मनुष्यों की संतान आगे सुखी होगी पर अभी यह सब दुःख क्यों है? इसका कोई समाधान नहीं। यही माया है। हम यहाँ भी सुनते हैं कि यह विकाश का एक लक्षण है कि बुराई नष्ट हो रही है और जब धीरे धीरे बुराई नष्ट हो जायगी तो भलाई ही रह जायगी। सुनने में तो यह बात बहुत भला लगती है पर यह

उन लोगों के घमंड को और बढ़ा देती है जिनके पास सुख की सारी सामग्री भरी पड़ी है, जिनके कान तक नित्य के बखेड़ों के शब्द नहीं पहुँचते हैं और जो विकाश की चक्की में नहीं पिस रहे हैं। यह बात ऐसे भाग्यशालियों के लिये अच्छी और संतोष-जनक अवश्य है। सब लोग भले ही दुखी रहें, उनकी बला से, भले ही मरें वे किस काम के हैं। बहुत अच्छा, पर यह उपपत्ति भी ऊपर से नीचे तक भ्रमात्मक है। इससे पहले तो यह बात मान ली गई है कि यह भलाई बुराई जो संसार में देख पड़ती है दो पृथक् पृथक् सत्ताएँ हैं। दूसरे इसमें यह भी मान लिया गया है कि भलाई बढ़ रही है और बुराई घटती जा रही है, यह पहली से भी गई बीती बात है। जिसे विकास कहते हैं उससे यदि इस प्रकार बुराई घटती जा रही है तो एक समय आपसे आप ऐसा आ जायगा जब बुराई नाश हो जायगी और भलाई ही भलाई रह जायगी। कहना तो सहज है पर क्या यह सिद्ध भी किया जा सकता है कि बुराई घट रही है? उदाहरण के लिये देखिए मनुष्य को जो जंगल में रहता है, जो अपने मन को प्रोन्नत नहीं कर सकता है जो पुस्तक नहीं पढ़ सकता जो लिखने का नाम तक नहीं जानता। यदि उसे कठिन घाव लगता है तो वह चट अच्छा हो जाता है। पर हमें यदि कुछ गड़ जाय तो हम मर जाते हैं। यंत्रों के कारण चीजें सस्ती हो रही हैं, वे उन्नति और विकाश की ओर हमें लिए जा रही हैं, पर उनसे सहस्रों मनुष्यों का नाश हो रहा है।

एक मनुष्य धनवान् हो जाता है पर लाखों दीन-हीन हो रहे हैं, सारी मनुष्य-जाति गुलाम बनाई जा रही है। यही उन्नति का मार्ग है। पाशविक मनुष्य का जीवन विषय-भोग ही है। उसे पेट भर खाने को न मिले तो उसे दुःख है। उसके शरीर में कोई विकार हो तो उसे दुःख है। इंद्रियों से उसके सुख दुःख की उत्पत्ति और विनाश है। ज्यों ज्यों वह मनुष्य उन्नति करता जाता है, त्यों त्यों उसके सुख की परिधि बढ़ती जाती है त्यों त्यों उसके दुःख की परिधि भी उसी मात्रा से बढ़ती है। जंगल का रहनेवाला मनुष्य न तो बाह के नाम को जानता है, न उसे न्यायालय में जाना आता है, न वह कर देना जानता है, न समाज की निंदा प्रशंसा का उसे बोध है और न उस पर दिन रात उन अत्याचारों का शासन है जिन्हें मानवी पैशाचिक कर्मों ने उत्पन्न किया है और जो प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण को चलनी बना रहे हैं। उसे इसका ज्ञान तक नहीं है कि मनुष्य कैसे अपने मिथ्या ज्ञान और अभिमान के कारण पशुओं से सहस्र गुना घोर अत्याचारी हो जाते हैं। इससे यह जान पड़ता है कि ज्यों ज्यों हम अपनी इंद्रियों के सुख में मग्न होते जाते हैं त्यों त्यों हमारे सुख-भोग की शक्तियाँ अधिक प्रबल होती जाती हैं, पर इतना ही नहीं, हमें दुःख के सहन करने की शक्तियाँ भी बढ़ानी पड़ती हैं। नाड़ियाँ सूक्ष्म हो जाती हैं और अधिक दुःख सहन कर सकती हैं। प्रत्येक समाज में हम देखते हैं कि अनजान मनुष्य को जब भला बुरा कहा जाता है तब वह उसे

बुरा नहीं मानता किंतु वह ठोक पीट को ही मानता है। पर सभ्य मनुष्य एक बात भी नहीं सह सकते, वे आपे से बाहर हो जाते हैं। सुख की ग्राहकता के साथ ही साथ दुःख भी बढ़ गया है। इससे विकाश-वाद के सिद्धांत की विशेष पुष्टि नहीं होती है। ज्यों ज्यों हम अपने सुख पाने की शक्ति को बढ़ाते जा रहे हैं त्यों त्यों हम अपने दुःख सहने की शक्ति को भी बढ़ाते जाते हैं। और कभी कभी तो मुझे यह जान पड़ता है कि यदि हम अपने सुखी होने की शक्ति को गणित के श्रेढ़ी व्यवहारानुसार बढ़ाते हैं तो हममें दुखी होने की शक्ति भी ज्यामितिक श्रेढ़ी के व्यवहार की रीति से बढ़ती है। हम जो उन्नति की ओर जा रहे हैं यह जाते हैं कि जितना ही हम आगे जाते हैं उतना ही दुःख और सुख के आगे बढ़ने के लिये अवकाश मिलता जाता है। और यही माया है।

इससे हमें जान पड़ता है कि माया संसार को समझने के लिये एक सिद्धांत नहीं है; यह केवल वर्त्तमान अवस्था का ज्यों का त्यों वर्णन है, अर्थात् हमारी सत्ता का आधार ही विरोधपूर्ण है, हम जिधर जाते हैं विरोध ही विरोध मिलता है, जहाँ भलाई है बुराई भी वहाँ अवश्य है, जहाँ बुराई है वहाँ कुछ भलाई भी अवश्य ही है। जहाँ जीवन है, मृत्यु भी उसके साथ छाया सी लगी हुई है। जो हँसता है वह रोवेगा, जो रोता है वह अवश्य हँसेगा। इस प्रकार की बातों का कोई परिहार नहीं हो सकता। हम यह भले ही समझा करें कि ऐसा देश होगा जहाँ सब अच्छा

ही अच्छा हो, बुराई न हो और वहाँ हम केवल हँसा ही करेंगे, रोवेंगे नहीं। यह असंभव है, इस अवस्था में ऐसा होना असंभव है और अवस्था जैसी है वैसी ही बनी रहेगी। जहाँ हममें हँसी उत्पन्न करने की शक्ति है उसके साथ ही रुलाई उत्पन्न करने की शक्ति भी छिपी है। जहाँ आनंद उत्पन्न करने की शक्ति है वहीं कहीं दुखी करने की शक्ति भी दबी पड़ी है।

अतः वेदांत दर्शन का न यह सिद्धांत है कि सब सुख ही सुख है और न यह है कि सब दुःख ही दुःख है। यह दोनों बातें कहता है और वस्तुओं को जिस रूप में वे हैं उसी रूप में लेता है; यह स्वीकार करता है कि संसार सुख दुःख, भलाई बुराई से बना है; एक के बढ़ने से दूसरा अवश्य ही बढ़ जायगा। संसार न कभी बिलकुल अच्छा और न बिलकुल बुरा हो सकता है; क्योंकि ऐसा भाव ही असंबद्ध प्रलाप है। इस विश्लेषण से यह निश्चय होता है कि भले और बुरे दोनों अलग अलग नहीं हैं और न इनकी कहीं पृथक् सत्ता ही है। संसार में कोई एक भी वस्तु ऐसी नहीं जिसे तुम भला और विशुद्ध भला कह सको और न कहीं कोई ऐसी चीज़ है जिसे बुरा ही बुरा कह सको। वही बात जो आज भली लगती है कल बुरी लग सकती है। वही वस्तु जिससे एक को सुख मिलता है दूसरे को दुःख दे सकती है। जिस आग से बच्चा जल जाता है उसीसे भूखे मनुष्य के लिये खाना पक सकता है। उन्हीं धमनियों से जिनसे सुख का अनुभव होता है दुःख का भी

बोध होता है। बुराई के रोकने का उपाय यही है कि भलाई भी रोकी जाय। जीवन बिना मृत्यु और सुख बिना दुःख केवल असंबद्ध प्रलाप है। इसके अतिरिक्त वे कहीं अकेले मिलते भी नहीं। इसका कारण यह है कि दोनों एक ही की भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियां हैं। जिसे हम कल अच्छा मानते थे मैं नहीं जानता वह आज भी अच्छा ही होगा। जब मैं अपने जीवन पर दृष्टिपात करता हूँ और देखता हूँ कि भिन्न भिन्न समय में मेरे क्या क्या उद्देश रह चुके हैं तब मुझे ऐसा ही जान पड़ता है। एक समय मेरा यह आदर्श था कि जोड़ी पर चढ़के निकलूँ। दूसरे समय मैंने यह सोचा कि यदि मैं कोई अच्छी मिठाई बनाता तो कैसे आनंद की बात होती; अंत को मैंने सोचा कि यदि मेरा विवाह हो जाता और मैं स्त्री-पुत्र-धन-ऐश्वर्य्य-सम्पन्न होता तो क्या ही आनंद की बात होती। आज मैं अपने उन सब उद्देशों पर हँस रहा हूँ कि कैसी बच्चों की सी मूर्खता थी। वेदांत कहता है कि एक समय आवेगा जब हम लौटकर अपने उद्देशों को देखकर हँसेंगे जिनके कारण हमें अपनी व्यक्तिता छोड़ने से भय लगता था। अब यदि सत्य यही है तो हम एक आशातीत असंगति की अवस्था में पड़े हैं—न सत् न असत्, न दुःख न सुख, पर उन दोनों का संश्लेष। फिर तो वेदांत वा दूसरे दर्शनों और धर्मों का काम ही क्या रहा? और सबसे बढ़ के फिर सत्कर्म करने का क्या काम है? ये प्रश्न मन में उत्पन्न होते हैं। यदि यह ठीक है कि तुम बिना बुराई

लिए भलाई नहीं कर सकते और जब जब तुम सुख के लिये यत्न करोगे सदा दुःख होगा तो लोग तुमसे प्रश्न करेंगे कि 'भलाई करने का काम ही क्या है ?' इसका उत्तर यही है कि पहले तो हमें बुराइयों को कम करने का उद्योग अवश्य करना चाहिए, क्योंकि सुखी होने का यही एक-मात्र उपाय है। सबका यह बात अपने जीवन में कभी न कभी आज वा कल जान पड़ती है। मंद-बुद्धियों को इसके जानने में कठिनाई और कुशाग्र-बुद्धियों को सुगमता होती है। दूसरी बात यह है कि हमें अपना कर्म करना चाहिए और इस असंगति-मय जीवन से छुटकारा पाने का यही एक-मात्र साधन है। भलाई और बुराई की दोनों शक्तियाँ तब तक विश्व को हमारे लिये बनाए रहेंगी जब तक कि हम अपनी नींद से न जागेंगे और यह घरौंदा बनाना न छोड़ देंगे। हमें यह शिक्षा लेनी पड़ेगी और इसमें हमें बहुत दिन लगेंगे। जर्मनी में इसके लिये प्रयत्न हो रहा है कि इस आधार पर एक दर्शन बनाया जाय कि अनंत ही सांत हो गया है। इँगलिस्तान में ऐसा ही प्रयत्न हो रहा है। इन दार्शनिकों के पक्ष का निचोड़ यह है कि "अनंत अपने को इस विश्व में व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है और एक ऐसा समय आ जायगा जब अनंत अपने इस काम में कृतकार्य्य हो जायगा"। बहुत ठीक है, हम अनंत और व्यक्त, प्रगट आदि शब्दों का प्रयोग करते आए हैं, पर दार्शनिक लोग तो हमसे इस बात के लिये कि सांत अनंत को

पूर्णतया व्यक्त कर सकता है, न्यायानुसार मूल आधार माँगेंगे। पूर्ण और अनंत केवल परिमित होने से ही यह विश्व हो सकता है। सब वस्तुएँ जो इंद्रियों से, मन से वा बुद्धि से जानी जाती हैं अवश्य परिमित होती हैं। सांत का अनंत होना केवल अयुक्त है, ऐसा हो ही नहीं सकता।

इसके विरुद्ध वेदांत का कथन है कि हाँ यह तो ठीक बात है कि पूर्ण वा अनंत सांत में व्यक्त होने का प्रयत्न भले ही करता है पर एक समय आवेगा जब उसे जान पड़ेगा कि यह असंभव है और उसे हार कर भागना पड़ेगा; इसी हार कर भागने का अर्थ त्याग है और यही त्याग धर्म का सच्चा आरंभ है। आजकल के समय में त्याग की बात करना भी दुर्लभ है। अमेरिका में मेरे विषय में यह कहा गया था कि मैं वह मनुष्य हूँ जो एक ऐसे देश से आया है जो पाँच हज़ार वर्ष हुए मर गया और उसकी समाधि दे दी गई और वह त्याग की बातें करता है। ऐसा ही अंग्रेज दार्शनिक भी कहता है। फिर भी यह ठीक है कि धर्म का यही एक-मात्र पथ है। त्याग करो और छोड़ो। ईसा ने क्या कहा है "जो अपना जीवन मेरे लिये खोवेगा उसे वह मिलेगा"। उसने बारंबार यह उपदेश किया कि आप्तता का एक-मात्र पथ त्याग ही है। एक समय आता है जब अंतःकरण अपनी दीर्घ और घोर निद्रा से जागता है, बच्चा खेलना छोड़ता और अपनी माता के पास जाने की इच्छा करता है। उसे इसकी सत्यता का बोध हो

जाता है कि 'कामना उपभोग से शांत नहीं होती, यह वैसे ही बढ़ती जाती है जैसी आग घी डालने से बढ़ती है'। यह बात सारे इंद्रिय-जनित सुखों, बुद्धि-विषयक सुखों और उन सुखों पर चरितार्थ होती है जिसे मनुष्य अपने मन द्वारा अनुभव कर सकता है। वे सब कुछ नहीं हैं, वे माया के अंतर्गत हैं, इस जाल के अंतर्गत हैं जिससे हम कभी निकल नहीं सकते। इस में अनंत काल तक भ्रमा करें और कहीं ओर छोर का पता नहीं; ज्यों ही हम थोड़े से सुख के लिये प्रयत्न करते हैं हमारे ऊपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। यह कितना भयानक है। जब मैं इसका ध्यान करता हूँ तब मैं बिना माया के सिद्धांत का चिंतन किए नहीं रह सकता। इसका एकमात्र समाधान यही है कि यह सब माया है। संसार कितना दुःखी है। यदि आप भिन्न भिन्न जातियों में जाकर देखें तो आपको जान पड़ेगा कि एक जाति अपनी बुराई को एक साधन से निवृत्त करने की चेष्टा करती है तो दूसरी दूसरे साधन से उसकी निवृत्ति की चेष्टा करती है। अनेक जातियों ने एक ही बुराई को लेकर उसकी निवृत्ति के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न किए हैं पर किसी को सफलता नहीं हुई है। यदि यह एक ओर कम हुई है तो दूसरी ओर ढेर की ढेर बुराई उत्पन्न हो गई है। यह ऐसे ही हो रहा है। हिंदुओं ने अपनी जाति को अत्यंत शुद्ध रखने के लिये बाल विवाह की प्रथा निर्धारित की, पर आगे चल कर उनकी जाति गिर गई। पर साथ ही मैं इसका निषेध नहीं

कर सकता कि बाल विवाह से जाति की बड़ी शुद्धता रहती है। आपकी क्या सम्मति है? यदि आप किसी जाति को विशुद्ध रखना चाहते हैं तो आप स्त्री पुरुषों की शारीरिक अवस्था को बाल विवाह से निर्बल करते हैं। इसके विरुद्ध क्या इँगलिस्तान में आप लोग उनसे अधिक अच्छे हैं? नहीं, कारण यह है कि शुद्धता ही जाति का जीवन है। क्या आपको इतिहास में यह नहीं मिलता कि किसी जाति की मृत्यु का पहला चिन्ह अशुद्धता है? जब वह पहुँच गई तब तो जाति का अंत आँखों के सामने ही है। तो इन दुःखों का परिहार हमें कहाँ मिलेगा? यदि माता पिता अपने संतानों का विवाह करें तो ये दुःख कम हो सकते हैं। भारतवर्ष की कन्याएँ रसिका न होकर अपने कर्तव्य में कहीं अधिक परायण होती हैं। पर उनके जीवन में बहुत कम रसिकता रहती है। फिर भी यदि लोग अपने मनोनुकूल ही विवाह के लिये वरण करें तो उससे यह जान नहीं पड़ता कि बहुत सुख मिलेगा। भारतवर्ष की स्त्रियाँ प्रायः बड़ी प्रसन्न हैं, वहाँ पति पत्नी के बीच झगड़े के बहुत मुकद्दमे नहीं होते। इसके विपरीत अमेरिका के संयुक्त प्रदेश में जहाँ सबसे अधिक स्वतंत्रता का प्रसार है ऐसे कुलों और विवाहों की संख्या बहुत अधिक है जहाँ पति और पत्नी में दुःख ही दुःख देख पड़ता है। दुःख यहाँ है, वहाँ है और सर्वत्र है। इससे क्या प्रगट होता है? यही कि इन सब उद्देशों से भी अधिक सुख की प्राप्ति नहीं हुई है। हम सब सुख के लिये हाथ पैर

मार रहे हैं और ज्यों ही हमें एक ओर से कुछ सुख मिलता है दूसरी ओर से दुःख आ जाता है।

तो क्या हम भलाई करने के लिये काम ही न करें ? नहीं, अवश्य करें और सदा से अधिक उत्साह से करें, पर इस ज्ञान से हमारा यही लाभ है कि इससे हमारा उन्माद जाता रहेगा। अँग्रेज लोग फिर उन्मत्त न होंगे और हिंदुओं को गालियाँ न दिया करेंगे। उन्हें दूसरी जातियों की रीति नीति का आदर करना आ जायगा। उन्माद कम होगा और सच्चा काम अधिक होगा। उन्मत्त काम नहीं कर सकते। उनकी काम करने की तीन चौथाई शक्ति नष्ट हो जाती है। दृढ़ विचारवाले, शांत और कर्तव्यपरायण पुरुष ही काम कर सकते हैं। अतः इस विचार से काम करने की शक्ति बढ़ेगी। यह जान कर कि यह वस्तुओं का स्वभाव है अधिक शांति होगी। दुःख वा बुराई के देखने से हम घबड़ा नहीं जायँगे और छाया के पीछे न दौड़ेंगे। यह जान कर कि संसार इसी प्रकार अपने मार्ग पर चला जायगा हममें संतोष आवेगा। मान लीजिए कि सब मनुष्य अच्छे हो जाँय तो पशु भी मनुष्य हो जायँगे और फिर उनकी भी वही दशा होगी जो मनुष्यों की है और यही दशा स्थावरों की भी होगी। पर एक बात निश्चित है कि एक बड़ी नदी समुद्र की ओर बहती जा रही है; उस नदी के पानी की सब बूँदें जो उसमें हैं एक समय अनंत सागर में पहुँच जायँगी। इसी प्रकार इस जीवन में भी, जिसमें सुख, दुःख, चिंता, हँसी

खुशी और रोना आदि सब हैं, यह एक बात निश्चित है कि सब अपनी परमावधि की ओर दौड़े जा रहे हैं, और यह बात केवल समय चाहती है कि हम, आप, स्थावर, जंगम और जीवन के जितने कण हैं वे सब उसी पूर्णता के अनंत समुद्र में अवश्य पहुँचेंगे, निर्वाण को, ईश्वर को प्राप्त करेंगे।

अब उसी बात को फिर दोहराते हैं कि वेदांत का सिद्धांत न तो सुखवाद है न दुःखवाद। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि संसार केवल सुखमय वा केवल दुःखमय है। इसका कथन इतना ही है कि हमारी बुराई हमारी भलाई से कम काम की नहीं है और न हमारी भलाई, बुराई से अधिक उपयोगी है। वे परस्पर संबद्ध हैं, सापेक्ष हैं। यह संसार है और इसे जानकर आप शांतिपूर्वक काम करेंगे। यह क्यों? हम काम क्यों करें? यदि यहाँ के पदार्थों की यही दशा है तो हम काम क्यों करें? हम इस सिद्धांत के माननेवाले क्यों न हो जायँ कि हमें प्रकृति से आगे का ज्ञान नहीं हो सकता है? पर आजकल के इस सिद्धांत के माननेवाले लोग भी ऐसा कह सकते हैं कि इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं है, इसका हमारे शब्दों में यही भाव है कि हम माया की बुराई से नहीं उबर सकते। अतः वे लोग शिक्षा देते हैं कि संतोष करो और जीवन को सुखपूर्वक बिताओ। यहाँ पर फिर भ्रम है और भारी भ्रम—नितांत अकारण भ्रम है। और वह यह है कि जीवन से तात्पर्य्य क्या है? क्या आपका अभिप्राय जीवन से उतना

ही है कि जब तक हम अपनी इंद्रियों से काम लेते रहते हैं ? इस विचार से तो हममें और पशुओं में कोई अंतर ही नहीं ठहरा। हमें विश्वास है कि यहाँ कोई भी ऐसा न होगा जिसका जीवन इंद्रियों के सुख-भोग मात्र तक हो। फिर तो जीवन का अभिप्राय इंद्रिय-सुखों से कुछ और अधिक ठहरा। हमारे अनुभव, विचार, आकांक्षाएँ सब हमारे जीवन के अंश हैं; क्या बड़े बड़े आदर्शों और पूर्णता को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना हमारे जीवन का प्रधान अंग नहीं है ? ऊपर कहे सिद्धांतवालों के मत से तो हमें जैसा जीवन है उसी का सुख भोगना चाहिए। पर इस जीवन का अंत में जाकर अभिप्राय यही ठहरा कि आदर्श की खोज की जाय, क्योंकि जीवन का सार तो पूर्णतया प्राप्त करना ही ठहरा। हमें उसे अवश्य प्राप्त करना चाहिए और इसलिये हमारा यह सिद्धांत होना ठीक नहीं है कि हमें प्रकृति से अधिक ज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसे लोगों के मत के अनुसार जीवन से आदर्श की प्राप्ति का अंश बिलकुल घट जाता है और इसके विषय में उनका कथन है कि इसकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अतः इसकी खोज करना ही व्यर्थ है। इसी का नाम माया है; यही प्रकृति है, यही विश्व है। सब मतों के लोग कुछ न कुछ प्रकृति के बाहर जाने की चेष्टा करते हैं; सब धर्म, चाहे वे संकुचित विचार के हों वा विकसित विचार के, चाहे उनका आधार पुराण हो, प्रतीक हो, देवाख्यान आदि क्यों न हो, अथवा उनका उपदेश महात्मा, ऋषि, महापुरुष, नबी अथवा

दर्शन के ज्ञान के आधार पर क्यों न हो, सबका एक मात्र लक्ष्य यही है कि प्रकृति के अधिकार के बाहर निकलें। इसका सारांश यही है कि धर्मों का उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्त करना है। इसकी शिक्षा हमें, हम ज्योंही आँख खोलते हैं त्योंही मिलती है, उसी समय हम जान जाते हैं कि हम बंधन में हैं; हमें यह भी ज्ञान होता है कि हममें कोई ऐसी चीज़ है जो बाहर निकलना चाहती है जहाँ शरीर उसके साथ नहीं जा सकता है पर वह करे तो क्या करे, उस पिंजड़े में बंद है, यहाँ तक कि निकृष्ट धर्मों में, जहाँ मृत पितरों और अन्य भूतों प्रेतों की पूजा होती है, जो नितांत उद्धत हैं और क्रूर तथा अपने संबंधियों के घर में कोने अँतरे छिपे रहते हैं, जो रक्तपात और मद्य के लोलुप हैं—वहाँ भी हमें यही बात देख पड़ती है अर्थात् स्वतंत्रता प्राप्त करने की इच्छा। उस मनुष्य का जो देवताओं की पूजा करता है यही हेतु है कि वह देखता है कि देवता उससे कहीं बढ़कर स्वतंत्र हैं। द्वार का कपाट बंद रहे तो देवता उसके भीतर जा सकते हैं, दीवाल उन्हें रोक नहीं सकती। स्वतंत्रता के भाव बढ़ते जाते हैं और अंत को पुरुष विशेष ईश्वर का रूप धारण कर लेता है जिसका प्रधान भाव यही होता है कि ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जो प्रकृति वा माया की सीमा से परे है। मेरी आँखों के सामने ऐसा दिखाई पड़ता है मानों एक पर्णशाला में भारत के महर्षिगण बैठे यह विचार कर रहे हैं और उनमें जो सबसे वयोवृद्ध और तपोवृद्ध है इस प्रश्न का समाधान

नहीं कर सकता है। एक बालक उनके मध्य उठ खड़ा होता है और कहता है—हे अमृत-पुत्रो, सुनो, हे द्युलोक के वासियो, सुनो, मुझे इसका समाधान मिल गया है और वह यह है कि 'उसके जानने से, जो अंधकार से परे है, हम मृत्यु को पार कर सकते हैं।'

यही माया सब कहीं है, यह बड़ी डरावनी है। पर हमें इसी में रहकर काम करना है। उस मनुष्य की बातें जो यह कहता है कि जब संसार में भलाई ही भलाई रह जायगी, तब हम आनंद करेंगे, वैसी ही हैं जैसे कोई गंगाजी के किनारे बैठा हुआ यह कहता हो कि मैं नदी को उस समय पार करूँगा जब इसका सारा पानी समुद्र में चला जायगा और यह सूख जायगी। माया के साथ साथ चलना हमारा मार्ग नहीं है, माया से प्रतिकूल चल कर ही सिद्धि है। जानने की दूसरी बात यह है। हमारा जन्म प्रकृति की सहायता करने के लिये नहीं है किंतु उसे जीतने के लिये है। हम उसके बाँधनेवाले हैं पर स्वयं उसके बंधन में पड़े हैं। यह घर क्यों बना है? प्रकृति ने घर नहीं बना दिया। प्रकृति कहती है कि जंगल में जाओ और वहाँ रहो—मनुष्य कहता है कि हम घर बनावेंगे, प्रकृति से संग्राम करेंगे और वैसा ही कर दिखलाता है। मनुष्यता के सारे इतिहास में लगातार प्रकृति के नियमों के साथ मनुष्य के संग्राम ही की चर्चा है और मनुष्य की अंत में विजय है। अध्यात्म लोक में भी उसी संग्राम का दृश्य दिखलाई पड़ता है, वहाँ अध्यात्म-पुरुष और पशु-पुरुष का संग्राम, प्रकाश और

अंधकार का संग्राम हो रहा है और वहाँ भी मनुष्य ही की विजय है। वह मानों प्रकृति में से होकर धका मारता निकला जा रहा है। हम देखते हैं कि वेदांत के आचार्य्यों को माया से परे एक और स्थान जान पड़ता है और यदि हम वहाँ पहुँच जायँ तो वहाँ हमें माया का बंधन नहीं रहता। यही भाव किसी न किसी रूप में सब धर्मों में मिलता है। पर वेदांत के अनुसार यह विचार धर्म का आदि है, अंत नहीं। पुरुष-विशेष ईश्वर का भाव, जो इस विश्व का शासक और उत्पन्न करनेवाला कहा गया है, अर्थात् माया वा प्रकृति के प्रभु पुरुष का भाव, वेदांत के सिद्धांत का अंत नहीं है, किंतु आदि है। यह भाव बढ़ता जाता है और अंत को वेदांती को यह निश्चय हो जाता है कि जिसे मैंने बाहर समझा था वह मैं ही हूँ और वह सचमुच मुझमें है। मैं नित्य मुक्त हूँ पर ससीमता वा अज्ञान के कारण मैंने अपने को बद्ध समझ छोड़ा था।

---

(४) माया और ईश्वर की भावना।

हम यह देख चुके हैं कि माया का सिद्धांत जो वेदांत के अद्वैतवाद का एक आधार है किस प्रकार संहिताओं में भी बीज रूप से वर्तमान है। उपनिषद् में जो जो उस भाव में परिवर्धन हुए वे सबके सब किसी न किसी रूप में संहिता में पाए जाते हैं। आप लोगों में बहुत लोग अविद्या के सिद्धांत से परिचित हो गए हैं और जानते हैं कि कभी कभी

इसका अर्थ भ्रम लिया जाता है, यहाँ तक कि जब कोई विश्व को माया कहता है तब उसका अर्थ यही समझा जाता है कि यह भ्रम है। इस शब्द का यह अर्थ न अच्छा ही है और न ठीक। माया कोई सिद्धांत नहीं है, वह जैसी विश्व की स्थिति है उसकी घटनाओं का एक वर्णनमात्र है; माया के समझने के लिये हमें संहिता में जाकर उसके बीजरूप भाव से ही आगे बढ़ने की आवश्यकता है। हमें यह भी ज्ञात है कि देवताओं का भाव कैसे आया है। इसी के साथ हमें यह भी ज्ञात है कि ये देवता पहले केवल शक्तिशाली सत्तामात्र थे, अधिक नहीं। आप लोगों में कितनों को प्राचीन ग्रंथों में, चाहे वे यूनानियों के हों, यहूदियों के हों वा पारसियों वा औरों के हों, यह पढ़कर भय लगता है कि देवता कभी कभी ऐसा कर्म करते थे जिससे हमें घृणा होती है। पर जब हम उन ग्रंथों को पढ़ते हैं तब हम यह नितांत भूल जाते हैं कि हम उन्नीसवीं शताब्दी के मनुष्य हैं और देवताओं को हुए सहस्रों वर्ष बीत चुके हैं। हम इसे भी भूल ही जाते हैं कि जो लोग उन देवताओं को पूजते थे उन्हें उनके कर्म में कुछ भी असंगति नहीं जान पड़ती थी, उन्हें उनमें कोई बात ऐसी नहीं देख पड़ती थी कि जिससे वे डरते। इसका कारण यह था कि जैसे पूजनेवाले थे वैसे ही उनके देवता भी थे। मैं यह भी कहूँगा (और यह एक ऐसा उपदेश है जिसे हमें जन्मभर स्मरण रखना चाहिए) कि दूसरों को हम सदा अपने ही आदर्श पर परखते हैं। यह उचित नहीं।

प्रत्येक को उसके निज के आदर्श पर परखना चाहिए, न कि दूसरे के आदर्श पर। हम अपने पड़ोसियों के साथ व्यवहार में भी यही भ्रम लगातार करते रहते हैं और मेरी तो यह सम्मति है कि आपस में बहुत से झगड़े बखेड़े इसी कारण उठा करते हैं कि हम दूसरों के देवताओं को अपने देवताओं की कसौटी पर, दूसरों के आदर्श को अपने आदर्श की कसौटी पर और दूसरों के उद्देश को अपने उद्देश की कसौटी पर कसा करते हैं। किसी विशेष स्थिति में मैं कोई विशेष बात करता हूँ और जब किसी दूसरे को मैं वही काम करते देखता हूँ तब यह समझता हूँ कि उसने भी उसी उद्देश से वह काम किया है, पर मुझे इसका कुछ स्वप्न में भी ध्यान नहीं रहता कि यद्यपि कार्य्य वही है पर बहुत से कारणों से एक ही कार्य्य की उत्पत्ति हो सकती है। यह हो सकता है कि उसने उस कर्म को किसी और उद्देश से किया हो जो उस उद्देश से बिलकुल भिन्न हो जिससे मैंने उसे किया था। इसी प्रकार प्राचीन धर्मों की जाँच करने में हमें उस विचार से काम ही न लेना चाहिए जिससे हम अनुरक्त हैं, पर हमें उनके विचार और जीवन की उस समय की अवस्था में पैठना चाहिए।

पुरानी (ईसाई) धर्मपुस्तक में नृशंस और निर्दयी 'जेहोवा' के भाव से कितने लोगों को डर लगता है, पर क्यों ? उन्हें यह मानने का क्या अधिकार है कि प्राचीन यहूदियों का जेहोवा आजकल के ईश्वर के रूढ़िसिद्ध भाव को अवश्य प्रदर्शित करे ? इसके साथ ही हमें यह भूल न जाना चाहिए कि एक समय

आवेगा कि लोग हमारे पीछे हमारे ईश्वर और धर्म के भाव पर वैसे ही हँसेंगे जैसे प्राचीनों के भाव पर हम हँस रहे हैं। पर इन भिन्न भिन्न विचारों के बीच एकता का सुनहला तार है जिसमें सब पिरोये हुए हैं और उस सुनहले तार का पता लगाना वेदांत का काम है। भगवान ने कहा है कि 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'। चाहे आधुनिक विचार की दृष्टि में ये भाव कितने ही असंगत और घृणित क्यों न प्रतीत होते हों, यह वेदांत का काम है कि जिस तार में वे पोए हैं उसका निश्चय करे। ये भाव प्राचीन काल के योजनानुसार सौम्य थे और हमारे आधुनिक विचारों से अधिक बीभत्स नहीं थे। बात यह है कि जब हम उन्हें उनकी योजना से हटाने और अपनी निज की अवस्था पर लगाने की चेष्टा करते हैं तब उनकी बीभत्सता प्रगट हो जाती है, क्योंकि अब पूर्व काल की अवस्था नहीं है, वह नष्ट हो गई। जैसे पुराने यहूदी उन्नति करके आजकल के तीक्ष्ण-बुद्धि और चतुर यहूदी बन गए हैं, प्राचीन आर्य्य बुद्धिमान हिंदू हो गए हैं, उसी प्रकार जेहोवा ने भी उन्नति की है और देवताओं ने भी उन्नति की है। हमारी यह बड़ी भूल है कि हम पूजनेवालों का विकाश तो मानते हैं पर पूज्यों का विकाश नहीं मानते। हम उनको वह उन्नति करने का सौभाग्य नहीं देते जो उनके उपासकों ने की है। इसका भाव यह है कि हम और आप भाव के द्योतक होने से बड़े हैं, वे देवता लोग भी जो भाव के द्योतक हैं बड़े हैं। यह आपको अद्भुत बात जान पड़ेगी

कि देवता बढ़ सकते हैं। वे बढ़ नहीं सकते, वे निर्विकार हैं। इसी भाव से तो कूटस्थ पुरुष भी नहीं बढ़ता। पर मनुष्य के भाव जो देवताओं के प्रति हैं नित्य बदलते और बढ़ते रहते हैं, हम आगे इस पर विचार करेंगे कि कूटस्थ पुरुष जो प्रत्येक मनुष्य की ओट में है क्योंकर अचल, निर्विकार, शुद्ध और सदा एकरस रहता है; इसी प्रकार देवताओं के संबंध में हम जो भाव रखते हैं वे केवल एक अभिव्यक्ति हैं और वह भी हमारी उपज की। उसकी ओट में कूटस्थ ईश्वर है जो सदा निर्विकार, सदा शुद्ध, अव्यय है। पर अभिव्यक्ति में सदा विकार होता रहता है और वह कूटस्थ को जो उसकी ओट में है अधिक अधिक व्यक्त करती जाती है। जब वह उसे जो उसकी ओट में है अधिक प्रगट करती है तो हम उसे उन्नति वा वृद्धि कहते हैं और जब वह उसे अधिक छिपाती है तो हम उसे अवनति वा ह्रास कहते हैं। इस प्रकार जैसे हम बढ़ते हैं देवता भी बढ़ते हैं। साधारण विचार की दृष्टि से जैसे हम उन्नति करते जाते हैं वा बढ़ते जाते हैं, अपने को व्यक्त करते रहते हैं, वैसे ही देवता भी अपने को व्यक्त करते जाते हैं।

अब हम इस अवस्था में पहुँच गए हैं कि माया के सिद्धांत को समझें। कहने में संसार के सारे धर्म इस प्रश्न के विचार के लिये उठाते हैं कि विश्व में वैषम्य क्यों है? संसार में यह बुराई क्यों है? हमें यह प्रश्न आदिम धर्म के विचारों के आरंभ में नहीं मिलता है। इसका कारण यह है कि आदिम

मनुष्यों को संसार इतना असंगत नहीं देख पड़ता था। उस समय की स्थिति उनके लिये विषम न थी; कहीं मत-भेद का नाम नहीं था; उनके सामने भले और बुरे में विरोध न था। उस समय उनके अंतःकरण में विधायक और निषेधक के मध्य में एक भाव था। आदि मनुष्य प्रकृति का मनुष्य था। वह जो उसे सूझता था कर डालता था; जो बात मन में आती थी उसे विचारने के लिये नहीं ठहरता था। अपनी प्रवृत्तियों को रोकने का बहुत कम प्रयत्न करता था। यही दशा देवताओं की थी। वे प्रकृति की संतान थे। इंद्र आता और असुर को छिन्न भिन्न कर देता है। जेहोवा एक मनुष्य से कुढ़ता है तो दूसरे से रूठता है, क्यों ऐसा करता है इसे कोई नहीं पूछता। पूछने की लत का उस समय नाम नहीं था। जो वह करता था वही ठीक समझा जाता था। भले बुरे का भाव ही नहीं था। हमारी संसारी दृष्टि से देवताओं ने कितने ही बुरे काम किए; इंद्रादि देवताओं ने बारंबार अनेक बुरे कर्म किए पर इंद्रादि के उपासकों ने उन्हें बुरा नहीं समझा और इसी लिये उनसे प्रश्न भी नहीं किया।

नीति के विचार की उन्नति के साथ ही झगड़ा चला। मनुष्य में एक विशेष भाव का उदय हुआ जिसे भिन्न भिन्न भाषाओं में और भिन्न भिन्न जाति के लोगों में भिन्न भिन्न नाम देते हैं। उसे ईश्वर की प्रेरणा कहिए, शिक्षा का फल कहिए, या जो चाहिए कह लीजिए, पर उसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य की स्वाभा-

विक वृत्तियों पर वह अवरोध करने की शक्ति रखता था। हमारे मन में एक वृत्ति ऐसी थी जो कहती थी कि करो। उसी की आड़ में एक और शब्द था जो यह कहता था कि न करो। हमारे अंतःकरण में कुछ इस प्रकार के भाव हैं जो सदा हमारी इंद्रियों के मार्ग से बाहर निकलने की चेष्टा करते रहते हैं, उसके पीछे एक शब्द, चाहे वह शब्द कितना ही सूक्ष्म और धीमा क्यों न हो, सुनाई पड़ता है जो यह कहता है कि मत करो। प्रकृति के इन दोनों विकारों का नाम संस्कृत भाषा में प्रवृत्ति और निवृत्ति है। प्रवृत्ति बाहर की ओर चक्कर काटना और निवृत्ति भीतर की ओर चक्कर काटना है। प्रवृत्ति से कर्म की उत्पत्ति होती है। प्रवृत्ति से धर्म की उत्पत्ति होती है। निषेध से धर्म का प्रारंभ होता है। निषेध से अध्यात्म भाव होता है। जब निषेध था ही नहीं धर्म का प्रारंभ नहीं था। इसी निषेध से मनुष्य के भाव, उन लड़ाकू देवताओं का जिन्हें वे पूजते थे बिना विचार किए ही, बढ़ने लगे।

मनुष्यों के मन में फिर थोड़े से स्नेह का उदय हुआ। यह बहुत कम था और अब भी वह बहुत अधिक नहीं है। पहले इसका व्यवहार केवल जत्थे मात्र के साथ था जिसमें बहुत थोड़े लोग थे; ये देवता जत्थे के साथ प्रेम करते थे और प्रत्येक देवता जत्थे का देवता था और वह उसी जत्थे की रक्षा करता था। कभी कभी जत्थे के लोग अपने को उस देवता का वंशज मानते थे जैसे भिन्न भिन्न जातियों में भिन्न वंशों के लोग यह मानते

हैं कि हम लोग उन वंशों के प्रवर्तक के वंशज हैं। प्राचीन काल में लोग कहते थे कि हम न केवल जत्थे के देवता के वंशज हैं किंतु सूर्य्य और चंद्र के वंश में हैं और अब भी कुछ लोग हैं, जो ऐसा कहते हैं।

प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में सूर्य्य वंश के बड़े बड़े राजाओं की कथाएँ मिलती हैं। वे लोग पहले सूर्य्य और चंद्र के उपासक थे और धीरे धीरे उनमें यह विचार चल पड़ा कि हम सूर्य्य चंद्र और अन्य देवतों के वंशधर हैं। इस प्रकार जब जत्थे का भाव उदय होने लगा तब मनुष्यों में थोड़ा सा स्नेह आया, कुछ थोड़ा सा एक दूसरे के प्रति कर्तव्य का भाव आया, कुछ थोड़ा समाज-संगठन भी हो गया। तब फिर यह भाव आप से आप उत्पन्न हो गया कि बिना एक दूसरे की बात को सहन किए या अपने आपको रोके हम एक साथ कैसे रह सकेंगे? भला एक मनुष्य दूसरे के साथ कैसे रह सकता है बिना इसके कि वह अपनी प्रवृत्तियों को रोके, अपने को अपने वश में रखे, और जो उसके मन में आवे उसके करने से विराम करे? बिना इसके यह असंभव है। इस प्रकार से निग्रह का भाव उनमें आया। इसी निग्रह के भाव के आधार पर समाज की सारी रचना है और यह हम सब जानते हैं कि वह स्त्री वा पुरुष जिसने वृत्ति-निवृत्ति, (रोकने), वा रीति-सहन (सहने) की शिक्षा नहीं प्राप्त की है, प्रायः अत्यंत दुःख का जीवन बिताता है।

अब जब धर्म का भाव आया तो मनुष्य की बुद्धि में किसी एक पदार्थ की झलक दिखाई पड़ी जो कि उससे कहीं उच्च और न्यायानुसार था। वे पुराने देवता जो प्रचंड झगड़ालू, मद्य-मांस-प्रिय थे, जिन्हें मांस के चटचटाने की चिरांध और मद्य की धारा भली लगती थी, अनुपपन्न जान पड़े। कभी कभी इंद्र इतना मद्य पी लिया करता था कि धरती पर लोट अंडबंड बकता था। अब उन देवताओं के भार को मनुष्य सह नहीं सकते थे। निदान की जिज्ञासा करने की मति उत्पन्न हो गई थी और देवताओं को भी आ कर जिज्ञासा का पात्र बनना पड़ा। भिन्न भिन्न कामों के करने के लिये निदान पूछा गया और निदान वहाँ कुछ था ही नहीं। अत: उन्हें उन देवताओं को त्यागना पड़ा अथवा यों कहिए कि उन के भावों को और उच्च करना पड़ा। उन लोगों ने मानों देवताओं के सारे कर्मों और गुणों का पर्य्यालोचन किया और जो जो उन्हें अनुकूल जान न पड़े उन्हें निकाल दिया और केवल उतने मात्र रख लिए जो उन्हें भले और अनुकूल जान पड़े; ऐसे भावों को मिला कर उन्होंने एक समष्टि बना ली और उसका नाम देवदेव वा देवताओं का देवता रख दिया। अब उपासना का देवता केवल शक्ति का साधारण प्रतीक ही न रह गया किंतु कुछ और ही होगया। वह एक सदाचारी देवता बन गया। वह मनुष्यों से स्नेह रखता और मनुष्यों की भलाई करता। पर देवता का भाव फिर भी बना ही रहा।

इन लोगों ने उसकी व्यवहार-साधुता के धर्म को और अधिक बढ़ा दिया और उसकी शक्ति को और अधिक कर दिया। अब वह विश्व में सबसे अधिक साधुवृत्त सत्ता और प्राय: सर्वशक्तिमान भी बन गया।

पर इस कतरब्योंत से काम नहीं चला। ज्यों ज्यों ज्ञान बीन बढ़ती गई समाधान में कठिनाइयों का भी कुछ ठिकाना न रहा। देवताओं का गुण गणित श्रेढ़ी की मात्रा से बढ़ता था तो कठिनता और वितर्क ज्यामितिक श्रेढ़ी की मात्रा से बढ़ जाते थे। जेहोवा को वह कठिनाई नहीं पड़ती थो जिसका सामना विश्व के ईश्वर को करना पड़ा। यह प्रश्न अब तक चला जाता है कि विश्व के सर्वशक्तिमान और सर्वप्रिय ईश्वर के होते ये पैशाचिक बातें क्यों हो रही हैं ? सुख की अपेक्षा इतने अधिक दु:ख क्यों हैं? और भलाई के अतिरिक्त इतनी अधिक बुराई क्यों है ? चाहे हम इन सब बातों की ओर से अपनी आँखें मूँद लें, पर बात जो है सो है, संसार बड़ा ही दारुण है। सच पूछो तो यह तंतलुस* का नरकवास है। इस संसार में हम में उग्र प्रवृत्ति है, विषय भोग की उत्कट लालसा है, पर करें क्या, उन्हें पूरा नहीं कर सकते। हम में एक उमंग

* जर्मन देश के पुराणों में लिखा है कि तंतलुस तारतरस के भीतर ठेढ़ी भर पानी में खड़ा था। उसके सिर के ऊपर फलों से लदी डाल थी। पर दुर्भाग्यवश जब वह प्यास के मारे पानी पीना चाहता तो पानी सूख जाता और जब भूख से फल तोड़ने के लिये हाथ उठाता तो डाली ऊपर चली जाती थी। इस दशा में वह जन्म भर रहा।

उठती है और इससे हम, अपनी इच्छा के न होते हुए भी, आगे बढ़ते हैं, पर पैर बढ़ाया कि चोट पड़ी। यहाँ हमारी वही गति हो रही है जो तंतलुस की थी। आदर्श हमारे मन में आए, ऐसे आदर्श जो इंद्रियों के विषयभूत आदर्शों से कहीं ऊँचे थे पर करें तो क्या करें, हम उन्हें व्यक्त करना चाहते हैं तो कर ही नहीं सकते। इसके विपरीत हम चारों ओर के दुःखों के बोझ के नीचे दबे जा रहे हैं। पर यदि हम आदर्श बनाना छोड़ दें और संसारी झमेलों में फँसें तो हमारी दशा पशुओं सी हो जाती है और हमारा सत्यानाश हो जाता है। किसी प्रकार सुख नहीं। जो लोग संसार ही में रहना चाहते हैं उनके भाग्य में तो दुःख ही दुःख है, वे दुःख के लिये जनमे हैं। उनसे भी सहस्रों गुना दुःख उन लोगों को होता है जो सत्य पर वा अच्छी बातों पर दृढ़ रहने का साहस करते हैं, और जो संसार के पाशव जीवन से किसी अच्छी अवस्था के चाहने का साहस करते हैं। ये बातें सच्ची हैं पर इनका कोई समाधान नहीं है। इनका समाधान यहाँ हो ही नहीं सकता। पर वेदांत इनसे बचने का उपाय वा मार्ग बताता है। इसे आप स्मरण रखें कि मैं आपको सच्ची बात बतलाना चाहता हूँ जिससे कदाचित् आप डर जायँगे पर यदि आप जो मैं कहूँ उसे ध्यान में रखें, उस पर सोच विचार करें और चलें तो उससे आपका हित होगा। वह आपको ऊँचा कर देगा, और आपको इस योग्य कर देगा कि आप सत्य को समझ सकें और उसमें प्रतिष्ठित हो सकें।

यह एक सच बात है कि यह संसार तंतलुस की नरक-यातना है, हमें इस विश्व का कुछ भी ज्ञान नहीं है; पर साथ ही हम यह नहीं कह सकते कि हम इसे जानते ही नहीं। मैं यह नहीं कह सकता कि यह जंजीर वास्तव में है, जब मैं जानता हूँ कि मैं उसे जानता ही नहीं; संभव है कि यह मेरे मन का भ्रम हो, मैं स्वप्न देख रहा हूँ। मैं स्वप्न देखता हूँ कि मैं तुमसे बातें करता हूँ और तुम मेरी बातें सुन रहे हो। कोई यह सिद्ध नहीं कर सकता कि यह स्वप्न नहीं है। संभव है कि मस्तिष्क भी सो रहा हो, किसी ने अपने मस्तिष्क को देखा तो है ही नहीं। हम सब इसे मान ही तो लेते हैं। यही दशा सब बातों की है। मैं अपने शरीर को भी मान ही लेता हूँ। साथ ही मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैं जानता ही नहीं। यह ज्ञान और अज्ञान के बीच का बोध, यह अद्भुत संध्या, सत्य और असत्य का मिश्रण, कहाँ जाकर मिलते हैं हमें पता नहीं। हम स्वप्न देखने की अवस्था में चले जारहे हैं, जागने और सोने के बीच की दशा में हम अपना जीवन कुहरे में बिता रहे हैं; यही हम सब की दशा है। यही दशा सारे इंद्रियजनित ज्ञान की है। यही दशा सब दर्शनों की है, यही दशा सारे ज्ञान और विज्ञान की है जिन पर हम डींग मारा करते हैं। यही विश्व है।

आप प्रकृति वा आत्मा वा मन वा जो कुछ चाहें कहें बात एक ही है, हम नहीं कह सकते कि वह है और न यही कह सकते हैं कि नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि

वह एक है और न यही कह सकते हैं कि अनेक है। यह प्रकाश और अंधकार का मेल अविविक्त, अज्ञेय, अविभाज्य है, उन्हीं की यहाँ यह नित्य लीला हो रही है। यह तथ्य भी है और तत्क्षण अतथ्य भी है, यह जाग्रत अवस्था और साथ ही स्वप्नावस्था भी है। यह तथ्य की बात है और इसी का नाम माया है। हम माया में उत्पन्न होते हैं, उसी में रहते हैं, उसी में सोच विचार करते हैं और उसी में स्वप्न देखते हैं। हम दार्शनिक हैं तो इसी में हैं, अध्यात्मवेत्ता हैं तो इसी में हैं, कहाँ तक कहें असुर हैं तो भी इसी माया में हैं और देव हैं तो इसी माया में हैं। अपने विचारों को जहाँ तक हो सके फैलाइए, उन्हें जहाँ तक हो सके ऊँचा बनाइए, उन्हें असीम वा जो आपके मन में आवे कह लीजिए पर आपके विचार अंत को इसी माया में ही रहेंगे। यह अन्यथा नहीं हो सकता और मनुष्य का सारा ज्ञान इसी माया का सामान्यवाद है और जैसी वह देख पड़ती है उसी के जानने की चेष्टा कर रहा है। यह नाम रूप का खेल है। सब कुछ जिसके रूप हैं, सब कुछ, जिसका आपके मन में कोई भाव उत्पन्न होता है इसी माया के अंतर्गत है, क्योंकि जो देश काल और परिणाम से बद्ध है वह भाव के अंतर्गत है।

अब तनिक ईश्वर के प्राचीन भावों की ओर देखिए कि उनकी क्या गति हो गई है। हम तुरत देखते हैं कि किसी ऐसी सत्ता का भाव जो हमसे निरंतर प्रेम करती है—सदा से

नि:स्वार्थ, सर्वशक्तिमान है और इस विश्व की शासक है—अब हमें संतोषप्रदायक नहीं हो सकता है । दार्शनिक का प्रश्न है कि वह न्यायी, दयालु ईश्वर कहाँ है ? क्या वह नहीं देखता कि उसके करोड़ों बाल-बच्चे, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी आदि, नाश हो रहे हैं; भला इस संसार में ऐसा कौन है जो एक पल भी बिना हिंसा किए जी सकता हो ? क्या बिना सहस्रों प्राणियों की हिंसा किए कोई एक साँस भी ले सकता है ? आप इसी कारण जीते हैं कि करोड़ों का नाश होता है। आपके जीवन के एक एक क्षण से और आपके एक एक साँस लेने से सहस्रों का नाश है; आपके जीवन का एक क्षण करोड़ों की मृत्यु का कारण है । तुम्हारे एक एक श्वास में करोड़ों जीवों की हत्या होती है, वे क्यों मरते हैं ? एक प्राचीन हेत्वाभास है कि वे क्षुद्र जंतु हैं । मान लीजिए कि वे क्षुद्र ही सही, उनकी क्षुद्रता विवादास्पद है । कौन जानता है कि चींटी मनुष्य से बड़ी है वा मनुष्य चींटी से बड़ा है ? कौन इसे ऐसा या वैसा सिद्ध कर सकता है ?

इन प्रश्नों को जाने दीजिए । मान लीजिए कि वे क्षुद्र ही सही, पर वे मरें तो क्यों मरें ? छोटे हैं तो उन्हें तो और जीना चाहिए । क्यों न ऐसा हो ? उन्हें तो इंद्रियों का और भी अधिक बोध है, उन्हें सुख दु:ख का हमसे आपसे सहस्रों गुना अधिक बोध होता है । हम लोग कौन हैं जो इतने चाव से भोजन करते हैं जैसे कुत्ते वा भेड़िये करते हैं ? कोई नहीं। कारण यह है कि

हमारी शक्तियाँ इंद्रियों ही में नहीं हैं, वे बुद्धि में हैं, आत्मा में हैं। पर पशुओं में तो उनकी सारी शक्ति इंद्रियों ही में है। वे सुख के पीछे पागल हो जाते हैं, विषय-सुख यों तन्मय होकर भोगते हैं कि हम मनुष्य लोगों को उसका स्वप्न में भी ध्यान नहीं होता, और उन्हें दुःख का बोध उतना ही होता है जितना सुख का। सुख और दुःख का प्रभाव बराबर होता है। यदि सुख का बोध पशुओं को इतना अधिक होता है जितना मनुष्यों को नहीं होता तो इसका प्रतिफल यह निकलता है कि पशुओं को दुःख से जो वेदना होती है वह यदि मनुष्यों से बहुत अधिक नहीं है तो समान तो अवश्य ही है। बात यों है कि मनुष्यों को मरते समय जो वेदना होती है वह वेदना पशुओं में सहस्रों गुनी अधिक बढ़ जाती है। फिर भी हम, बिना उनके दुःखों का विचार करने का कष्ट उठाए हुए, उनको मारते हैं। यह माया है। यदि हम यह मान लें कि एक पुरुषविशेष ईश्वर है जो सबका कर्ता है तो यह समाधान और सिद्धांत जो यह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि बुराई से भलाई होती है, संतोषप्रदायक नहीं है। बीस सहस्र भली चीज़ें हों पर वे बुरे से क्यों हों? इस सिद्धांत से हम दूसरों का गला इसलिये काट सकते हैं कि हम अपनी पाँच इंद्रियों का सुख चाहते हैं। यह कोई उपपत्ति नहीं है। बुराई से भलाई क्यों हो? यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना है; इसका समाधान नहीं हो सकता। भारतवर्ष के दर्शनों को यह स्वीकार करना पड़ा है।

वेदांत सब धर्मों से निर्भय धर्म था और है। यह कहीं

रुकता नहीं और इसमें एक विशेषता है। पुरोहितों में कोई ऐसा न था जो उन सब मनुष्यों का जो सच कहने का उद्योग करें मुँह थाम सकता। यहाँ धार्मिक स्वतंत्रता सदा पूर्ण थी। भारतवर्ष में केवल समाज के विषय में पक्षपात का बंधन था; पर पश्चिम में समाज बहुत स्वतंत्र है। सामाजिक बातें भारतवर्ष में बहुत जकड़ बंद हैं पर धार्मिक विचार स्वतंत्र हैं। इँग्लिस्तान में मनुष्य जो चाहे पहिन सकता है, जो चाहे खा सकता है, कोई कुछ बोलता नहीं; पर यदि गिरजे में जाना वह भूल जाय तो रूढ़िदास उसके पीछे पड़ जायँगे। उसे पहले वे बातें माननी पड़ेंगी जो समाज धर्म के विषय में कहता है और फिर वह सत्य का ध्यान कर सकता है। भारतवर्ष में इसके विरुद्ध है। यदि कोई किसी ऐसे मनुष्य के साथ खा ले जो उसकी जाति का नहीं है तो समाज अपने सारे दलबल के साथ उस पर टूट पड़ता है और उसका उस समय वहीं तहस नहस कर देता है। यदि कोई उसके विपरीत कपड़ा पहिनना चाहता है जैसा उसके बाप दादा आगे से पहिनते आते हैं तो बस वह गया। मैंने सुना है कि एक मनुष्य को जाति से लोगों ने इसलिये निकाल दिया था कि वह पहले पहल जब रेल चली थी तो कई कोस गाड़ी देखने गया था। अस्तु, हम माने लेते हैं कि यह बात ठीक नहीं है। पर धर्म में हमें यहाँ नास्तिक, अनात्मवादी और बौद्ध, नाना रूप रंग के संप्रदाय मत और विचार पास पास मिलते हैं जिनमें कितने तो ऐसे हैं जिनसे रोंगटे खड़े होते हैं। सब

संप्रदायों के उपदेशक उपदेश करते और अनुयायी बनाते चले जाते हैं, और यह ब्राह्मणों की उदारता है कि वे देवताओं के मंदिर के सामने लोकायतिकों तक को खड़े होने और अपना मत प्रकाश करने की आज्ञा देते हैं।

बुद्ध देव बहुत बूढ़े होकर निर्वाण प्राप्त हुए थे। मुझे अपने एक मित्र का स्मरण आता है जो अमेरिका का बड़ा वैज्ञानिक था और बुद्धदेव के चरित को बड़े चाव से पढ़ता था। उसे बुद्ध का निर्वाण इसलिये नहीं रुचता था कि वे सूली पर नहीं चढ़ाए गए थे। कैसा मिथ्या विचार है! किसी मनुष्य के महात्मा होने के लिये क्या यह आवश्यक है कि वह मारा ही जाय? भारतवर्ष में ऐसे भावों का कभी प्रचार नहीं था। महात्मा बुद्ध सारे भारतवर्ष में वहाँ के देवताओं की, यहाँ तक कि विश्व के ईश्वर की निंदा, करते फिरे और फिर अत्यंत वृद्धावस्था तक जीते रहे। वे अस्सी वर्ष तक जीवित रहे और उन्होंने आधे देश को अपना अनुयायी बनाया।

चार्वाकों को लीजिए जो भयानक बातों की शिक्षा देते थे, जो बहुत उग्र अप्रच्छन्न अनात्मवाद सिखाते थे। ऐसी बातों को आज उन्नीसवीं शताब्दी में खुल्लमखुल्ला कह सकने का किसी को साहस न पड़ेगा। इन चार्वाकों को मंदिर मंदिर नगर नगर यह उपदेश करने दिया गया था कि धर्म सब ब्राह्मणों का जाल है, वेद, भांड, धूर्त और राक्षसों के बनाए हैं, न कोई ईश्वर है और न कोई नित्य आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह अपने स्त्री

पुत्र के प्रेम से मरने पर चली क्यों नहीं आती ? उनका विचार था कि यदि कोई आत्मा है तो मरने पर भी उसमें प्रेम अवश्य रहता है और अच्छे अच्छे भोग वस्त्र की उसे इच्छा रहती है। पर किसी ने चार्वाकों को मारा नहीं।

इस प्रकार भारतवर्ष में धार्मिक स्वतंत्रता का यह उज्ज्वल भाव सदा से बना रहा और आप इसे स्मरण रखिए कि उन्नति के लिये यही स्वतंत्रता पहली बात है। जिसे आप स्वतंत्र नहीं करते कभी उसकी उन्नति होने की नहीं। यह भाव कि आप दूसरों को बढ़ाते हैं, उनकी उन्नति में सहायता प्रदान करते हैं, उन्हें शिक्षा देते हैं, मार्ग बतलाते हैं, प्रलाप है, भयानक मिथ्यावाद है। इससे अपने लिये सदा शिक्षक का स्वतंत्र पद बनाए रखने से, संसार के करोड़ करोड़ मनुष्यों की उन्नति में बाधा पड़ रही है; वह दबी जाती है। मनुष्यों को स्वतंत्रता का प्रकाश देखने देना चाहिए। उन्नति के लिये यही एक अकेला नियम है।

भारतवर्ष में हमने आध्यात्मिक बातों में स्वतंत्रता दी और इसी से धार्मिक विचारों की अब तक हम में अमोघ शक्ति है। आप लोग सामाजिक बातों में वही स्वतंत्रता देते हैं, अतः आपके यहाँ सुंदर समाज संविधान है। हम लोगों ने सामाजिक बातों के विस्तार के लिये स्वतंत्रता नहीं दी, और हमारा समाज दब रहा है। आपने कभी धार्मिक स्वतंत्रता दी ही नहीं, आपने आग और तलवार के बल अपने मत का प्रचार किया और परिणाम यह है कि युरोप

में धर्म की बाढ़ स्तब्ध और गिरी हुई है। भारत में हमें समाज की बेड़ी काटनी चाहिए और युरोप में धर्म के पैर की सीकड़ खोल देनी चाहिए। तब मनुष्य का अद्भुत बढ़ाव और उन्नति होगी। यदि हमें प्रगट होजाय कि इन सारी आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक उन्नतियों में एक एकता की अभिव्याप्ति है तो हमें जान पड़ेगा कि धर्म, पूर्णतया सांसारिक अर्थ में, समाज और नित्य के व्यवहार में अवश्य आ जायगा। वेदांत के प्रकाश में आपको जान पड़ेगा कि सारे विज्ञान केवल धर्म की अभिव्यक्तियाँ हैं, इसी प्रकार संसार में जो कुछ है सब धर्म का ही विग्रह मात्र है।

हम देखते हैं कि स्वतंत्रता ही से विज्ञान बना है; और विज्ञान में भी दो पक्ष हैं एक अनात्मवादी और निंदक, दूसरा स्पष्ट और विधायक। यह एक अद्भुत बात है कि वे सब समाजों में आपको मिलते हैं। मान लीजिए कि समाज में कोई दोष है। आपको तुरंत कुछ ऐसे लोग मिलेंगे जो उठते हैं और उसकी इस प्रकार निंदा करते हैं मानों कुछ वैर निकाल रहे हैं और कभी कभी तो यह होता है कि वे बिगड़ते बिगड़ते पागल हो जाते हैं। सब समाज में पागल होते ही हैं, स्त्रियाँ उनमें प्रायः सम्मिलित होती हैं, क्योंकि उनकी प्रकृति ही सहसा प्रवृत्त होने की है। जो उठते हैं और किसी वस्तु की निंदा करते हैं उन सब पागलों को अनुयायी भी मिल जाते ही हैं। बिगाड़ना सुगम है, पागल जिसे चाहे तोड़ फोड़ सकता है, पर बनाना कठिन काम है। वे

पागल अपने विचारानुसार कुछ भलाई करते हों तो करते हों, पर उनसे हानि बड़ी होती है। कारण यह है कि समाज की परिस्थितियाँ एक दिन में नहीं बनती हैं और उनके बदलने का अभिप्राय यही है कि कारण को हटाया जाय। मान लीजिए कि कोई बुराई है, उसकी निंदा करने से वह दूर नहीं हो जायगी, पर उसके लिये आपको उसके मूल तक जाना चाहिए। पहले कारण का पता चलाइए और तब उसे दूर कीजिए, बस कार्य्य भी दूर हो जायगा। केवल गला फाड़ने से कुछ काम नहीं चलेगा, हाँ उससे अनिष्ट होने का ही भय है।

ऐसे लोग भी होते हैं जिनके अंत:करण में सहानुभूति होती है और जिन्हें इसका बोध होता है कि हमें कारण तक जाना चाहिए—ये साधु महात्मा लोग हैं। एक बात आप अवश्य ध्यान रखें कि संसार के सभी बड़े बड़े उपदेशकों और शिक्षकों ने यह कहा है कि हम बिगाड़ने नहीं आए हैं किन्तु बनाने आए हैं। प्राय: लोगों ने इसे न समझा और उनकी सहिष्णुता को जन साधारण के प्रचलित विचार के साथ अयोग्य मेलमाल समझ लिया। अब भी आप प्राय: यह सुना करते हैं कि ये नबी और बड़े बड़े शिक्षक लोग भीरु थे और उनमें जिस बात को वे ठीक समझते थे उसके कहने या करने का साहस नहीं था। पर ऐसी बात न थी। दुराग्रही लोग बहुत ही कम समझते हैं कि इन महर्षियों के अंत:करण में प्रेम की अनंत शक्ति थी, वे सांसारिक लोगों को अपना बालबच्चा समझते थे,

वे सच्चे पिता, सच्चे देवता थे, उनमें सबके लिये बड़ी सहानुभूति और शांति थी, वे रीति और सहन के लिये उद्यत थे, वे जानते थे कि मनुष्य, समाज क्योंकर बढ़ेगा और इसलिये वे शांतिपूर्वक, धीरे धीरे, निश्चित रूप से अपनी औषध का प्रयोग करते गए हैं। उन्होंने निंदा नहीं की, लोगों को डराया नहीं किंतु धीरे धीरे दया से उन्हें वे सीढ़ी सीढ़ी चढ़ाते गए हैं। उपनिषद्कार लोग ऐसे ही महात्मा थे। वे भली भाँति जानते थे कि देवताओं के प्राचीन भावों की संगति उस समय के प्रोन्नत व्यवहारिक भावों से नहीं मिल सकती, उन्हें यह भी पूर्णतया ज्ञात था कि नास्तिक लोग जो उपदेश कर रहे थे उनमें ढेर की ढेर सचाई थी, यही नहीं किन्तु उनमें सत्य का बीज था, पर साथ ही उन्हें इसका बोध था कि जो लोग उस तागे को तोड़ रहे हैं जिसमें मनिकाएँ पोही हुई हैं, जो आकाश में नई गोष्ठी बनाना चाहते हैं, उनका पतन सर्वतोभावेन होगा।

हम किसी वस्तु को पुनः नहीं बनाते हैं केवल उसका स्थान बदल देते हैं; हम कोई नई चीज नहीं रख सकते, हम केवल चीजों के स्थान को बदल देते हैं। बीज उग कर शांतिपूर्वक धीरे धीरे पेड़ हो जाता है। हमें अपनी शक्तियों को सचाई की ओर फेरना चाहिए। उस सचाई को जो है पूरा करना चाहिए और नई सचाई गढ़ना न चाहिए। इससे देवताओं के प्राचीन विचारों की निंदा इसलिये न कर के कि वे इस समय के लिये उपयुक्त न थे, प्राचीन ऋषियों ने उनके भीतर क्या तत्त्व था इसकी जिज्ञासा

प्रारंभ की। उसी जिज्ञासा का फल वेदांत दर्शन है, उन्हें पुराने देवताओं से, ईश्वर से, विश्व के शासक से कहीं ऊँचे ऊँचे विचारों का आकर मिला जिसे ब्रह्म कहते हैं। उन्हें विश्व भर में एकता की व्याप्ति जान पड़ी।

जो नानातत्त्व के इस संसार में उस एक को व्याप्त देखता है, इस मृत्यु लोक में जो उस एक अनंत जीवन को पाता है, इस मोह और अविद्या के संसार में जो एक प्रकाश और ज्ञान को जानता है; उसी के लिये शाश्वत शांति है; अन्य के लिये नहीं, अन्य के लिये नहीं।

---

(५) माया और मोक्ष।

एक कवि ने कहा है "हम यश के बादलों को फैलाते ही आते हैं"। इसमें सब लोग फैलते हुए यश के मेघ के समान नहीं आते; कितने लोग अंधकारी धुंध को फैलाते आते हैं; इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। पर इसमें सब लोग संसार में मानों युद्ध-क्षेत्र में लड़ने आते हैं, यहाँ सब मार्ग निकालने के लिये रोते हुए और जहाँ तक हो सके लड़ते झगड़ते आगे बढ़ने, और इस जीवन के अनंत सागर में होकर अपने लिये राह साफ करने आते हैं; पीछे दीर्घकाल को और आगे अपार अवकाश को लिए हुए आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार हम बढ़ते जाते हैं और अंत को मृत्यु आ पहुँचती है और हमें उठा ले जाती है। हमें युद्ध-क्षेत्र से वह अवश्य उठा ले

जाती है, चाहे हम विजयी हों चाहे पराजित; हमें इसका पता नहीं चलता। यह माया है।

बचपन में अंतःकरण में आशा की प्रबलता होती है। बच्चे को आँख खोलते ही सारा संसार सुख-स्वप्न बोध होता है। वह जानता है कि मेरी इच्छा सर्व-प्रधान है। ज्यों ही वह आगे बढ़ता है सामने दुर्भेद्य दीवाल की भाँति प्रकृति खड़ी हो जाती है और उसका आगा छेंक लेती है, वह बारंबार उसे तोड़ने के लिये धक्के भले ही लगाया करे। ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता जाता है आदर्श और आगे भागता जाता है, अंत को मृत्यु पहुँच जाती है और तब संभवतः छुटकारा मिलता है। यह माया है।

एक वैज्ञानिक पुरुष निकल आता है, वह बड़ी उत्कंठा से विद्या के पीछे पड़ता है। कोई त्याग उसके लिये बड़ा नहीं है और न कोई उद्योग वा श्रम आशाहीन है। वह प्रकृति का रहस्य पर रहस्य उद्‌घाटन करते और उसके पेट के भीतर पैठ कर गूढ़ तत्त्वों का अन्वेषण करते आगे बढ़ता है, और किस लिये? इन सबसे क्या फल? हम उसे महत्त्व क्यों दें? उसे यश क्यों मिले? क्या प्रकृति उससे कहीं अनंत गुना अधिक लाभ नहीं पहुँचाती जितना कि वह एक मनुष्य पहुँचाता है? फिर भी प्रकृति मंद और जड़ है। फिर मंद और जड़ की नकल करने से ही किसी को महत्त्व क्यों दिया जाय? प्रकृति एक वज्र को, वह कितना ही बड़ा क्यों न हो बहुत दूर फेंक सकती है। यदि कोई मनुष्य उसकी एक अणुमात्र भी नकल कर सकता है तो

हम उसकी प्रशंसा का पुल बाँध देते हैं, उसे आकाश पर चढ़ा देते हैं। क्यों ? हम इस लिये उसकी प्रशंसा क्यों करते हैं कि उसने प्रकृति की नकल की, मृत्यु की नकल की, भोड़ेपन की नकल कर ली, जड़ता की नकल कर ली ?

गुरुत्वाकर्षण की शक्ति बड़े से बड़े परिमाण को खींच कर खंड खंड कर डाल सकती है, पर वह जड़ है। जड़ की नकल करने में कौन सा महत्त्व होता है ? पर हम सब उसे करने के लिये सिर पचा रहे हैं। यही माया है।

इंद्रियाँ मनुष्य की शक्ति को बाहर खींच रही हैं। मनुष्य आनंद और सुख को वहाँ खोजता फिरता है जहाँ उनकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अनगिनित कालों से हमें इसकी शिक्षा मिलती आती है कि यह असार और व्यर्थ है; यहाँ आनंद नहीं है। पर हम समझते नहीं; बिना आप परीक्षा किए हमारा यों समझना असंभव है। हम प्रयत्न करते हैं कि थप्पड़ पड़ता है। क्या हमें फिर भी चेत होता है ? फिर भी नहीं। फतिंगे जैसे प्रकाश पर टूट पड़ते हैं उसी प्रकार हम इंद्रिय-सुख पर इस आशा से कि हमें तृप्ति मिलेगी टूट पड़ते हैं। हम नई शक्ति और उत्साह से बारबार आते हैं; और तब तक ऐसा ही करते रहते हैं जब तक छिन्न भिन्न होकर नहीं मर मिटते, यही माया है।

यही दशा हमारी बुद्धि की है। विश्व के रहस्यों का समाधान करने की इच्छा में हम पूछताछ करना छोड़ नहीं

सकते। हम समझते हैं कि हम अवश्य जान सकते हैं और इस पर विश्वास नहीं कर सकते कि हम कुछ नहीं जान सकते। दो चार पग आगे बढ़ाए कि एक अनंत अवरोध सामने आ खड़ा होता है, उसे हम पार नहीं कर सकते। सब कुछ कार्य्य-कारण की शृंखला में बद्ध है, जिसे कभी हम अन्यथा नहीं कर सकते। हम उस शृंखला के बाहर नहीं जा सकते। पर हम फिर भी सिर मारते हैं, और सिर पटकते रहेंगे। यही माया है।

प्रत्येक साँस में, हृदय की प्रत्येक धड़कन में, प्रत्येक निमेष उन्मेष में, क्षण क्षण, हम यही विचारते हैं कि हम मुक्त हैं, पर उसी समय हमें इसका प्रमाण मिलता है कि हम मुक्त नहीं बद्ध हैं, गर्भ-दास हैं, मन, शरीर और विचार से प्रकृति के क्रीतदास हैं। यही माया है।

संसार में कोई भी माता ऐसी न होगी जो यह न समझती होगी कि मेरा पुत्र बुद्धिमान् है, बड़ा ही प्रतिभा-संपन्न है, ऐसा अद्भुत बालक संसार में कोई दूसरा कहीं भी नहीं है। वह अपने बालक का बड़ा स्नेह करती है, उसका जी उसी बालक में दिन रात लगा रहता है। लड़का बड़ा होता है मद्यप और दुष्ट निकल जाता है। वह दुष्ट अपनी माता के साथ दुर्व्यवहार करता है और ज्यों ज्यों वह उसके साथ कुव्यवहार करता जाता है माता का प्रेम बढ़ता जाता है। संसार इसे निःस्वार्थ मातृस्नेह कह कर इसकी प्रशंसा करता है, इसका कुछ विचार नहीं करता कि वह माता जन्म की दासी है, वह करे तो क्या करे। वह सहस्र बार

दासता के भार को त्यागने का प्रयत्न करे पर वह उसे छोड़ नहीं सकती। वह उसे फूलों में लपेटती और उसे अद्भुत प्रेम कहती है। यही माया है।

संसार में हमारी यही दशा हो रही है। एक कथा है। नारद ने एक बार कृष्ण भगवान् से कहा, 'महाराज, मुझे आप अपनी माया दिखला दीजिए।' कुछ दिन बीत गए, भगवान् ने नारद से कहा, चलिए, देशाटन कर आवें। फिरते फिरते वे एक मरुभूमि में निकले, दो चार कोस जाकर भगवान् ने नारद से कहा, नारदजी मुझे प्यास लगी है, कृपा कर के मुझे कहीं से लाकर पानी पिलाइए। यह सुन नारदजी पानी के लिये चले, थोड़ी दूर पर उन्हें एक गाँव दिखाई पड़ा। नारदजी उस गाँव में गए और एक घर के द्वार पर खड़े हो उसका किवाड़ खटखटाने लगे। एक रूपवती कन्या उस किवाड़ को खोल कर बाहर निकली। नारदजी उसे देखते ही मोहित हो गए, उन्हें इसका स्मरण बिलकुल जाता रहा कि वहाँ भगवान् पानी के लिये प्यासे बैठे हैं, उनकी क्या दुर्दशा होती होगी। वे उस कन्या से बातचीत करते रह गए, और किसी बात का उन्हें ध्यान ही न रहा। दिन बीत गया, नारद जहाँ के तहाँ, लौटे नहीं। दूसरा दिन आया, नारद उसी द्वार पर खड़े बातें करते थे। उस कन्या से बात करते करते नारद उसके प्रेमपाश में फँस गए और उन्होंने उसके पिता से उस कन्या की याचना की। दोनों का विवाह हो गया और वे वहाँ ही रहने लगे। कुछ दिन बीते नारदजी को उस कन्या से कई लड़के-

बाले भी हो गए। इस प्रकार नारदजी वहाँ बारह वर्ष तक रह गए। इस बीच में उस कन्या का पिता भी मर गया, नारदजी को उसकी संपत्ति हाथ लगी, वहाँ वे अपनी स्त्री के साथ बाल-बच्चों में आनंदपूर्वक रहने लगे। वहाँ खेतीबारी, गाय बैल, सब कुछ था। दैवयोग से बाढ़ आई। रात के समय नदी का पानी अचानक चढ़ने लगा और बढ़ते बढ़ते दोनों करार के बाहर हो गया, सारा गाँव पानी से भर गया, घर धम धम गिरने लगे, मनुष्य और पशु बाढ़ में बह चले, चारों ओर जल ही जल हो गया। नारदजी भी भागे। एक हाथ से अपनी स्त्री को पकड़े, दूसरे हाथ से लड़के का हाथ थामे, एक को पीठ पर लादे, नारदजी बाढ़ के पानी से पार होने का प्रयत्न करने लगे। दो चार पग जाने पर उन्हें जान पड़ा कि पानी बड़े वेग से बह रहा है; उनके पीठ पर का बालक गिर पड़ा और बह चला। नारदजी घबड़ा कर चिल्ला उठे। उस लड़के को बचाने के प्रयत्न में दूसरे लड़के का हाथ भी छूट गया और वह भी डूबने लगा। अंत को उनकी स्त्री भी, जिसे वे बलपूर्वक पकड़े थे पानी की धारा से अलग हो गई और वह आप बह कर रोते कलपते किनारे पर लगे। इसी बीच पीछे से एक धीमा स्वर सुनाई पड़ा कि नारदजी पानी कहाँ है ? आप मुझे यहाँ छोड़ कर पानी लेने गए और आधी घड़ी लगा दी। नारदजी चकित होकर बोले 'आधी घड़ी हुई ?' नारदजी के लेखे बारह वर्ष बीत गए और यहाँ यह सब कुछ आधी घड़ी

में हो गया। यही माया है। हम सब किसी न किसी रूप से इसी में हैं। यह बड़ी ही कठिन और गहन है, समझ में नहीं आ सकती। इसका उपदेश सब देशों में हो चुका है, इसकी शिक्षा सब जगह दी जा चुकी है पर थोड़े से लोगों ने इस पर विश्वास किया, कारण यह कि जब तक हमें स्वयं इसका अनुभव न हो विश्वास नहीं आ सकता। इससे क्या सिद्ध होता है? यह कोई भयानक वस्तु है, क्योंकि यह सिर से पैर तक निःसार है।

सबका अंतक काल आता है और किसी को नहीं छोड़ता। पुण्यात्मा, पापी, राजा, प्रजा, रूपवान, कुरूप सबको अपना ग्रास बनाता है, कुछ छोड़ता नहीं। सब एक ही विनाश-रूपी परमावधि की ओर जा रहे हैं। हमारी विद्या, हमारा व्यवसाय, हमारा विज्ञान सब इसी की ओर धावमान हैं। इस प्रवाह को कोई बाँध नहीं सकता, इसे कोई क्षण भर रोक नहीं सकता। हमारा इसे भुलाने की चेष्टा करना वैसा ही है जैसे भारी महामारी-ग्रस्त स्थान में लोभ, मद्यपान, नाचरंग आदि चेष्टाओं से उसे भुलाना और फल यह होता है कि हम विमुग्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार हम इंद्रिय सुखों से उसे भुलाने और विस्मृत करने की चेष्टा कर रहे हैं। यही माया है।

इसके दो उपाय बतलाए गए हैं। एक तो बहुत ही सामान्य है, उसे सब लोग जानते हैं—वह यह है कि "यह ठीक भी हो तो भी इस पर ध्यान ही न दो ' लेना है सो लेइ ले उठी जात

है वैठ'। यह नितांत सत्य है और सच्ची बात है पर इसकी चिंता न करो। जो सुख भोग करना है कर लो, जो करना है उसे उठा न रखो; अनिष्ट चिंतन न करो, सदा अच्छी बातों की चिंता करो"। यह कुछ सच तो है पर इसमें भय लगा हुआ है। यह सत्य है कि इसमें संचालक शक्ति है; आशा और शुभजनक आदर्श रखने से हमारे जीवन में संचालन शक्ति उत्पन्न होती है पर इसमें एक भय भी लगा है। वह भय यह है कि कहीं हम निराश होकर उद्योग न छोड़ दें। यही अवस्था उनकी भी है जो यह उपदेश करते हैं कि "संसार जैसा है वैसा ही है; शांति और धैर्य्य का अवलंबन करो, दुःख में संतोष धारण करो, घबड़ाओ मत; तुम्हें ऊपर से मार पड़े तो यह समझो कि यह मार नहीं है पुष्पवृष्टि है; जब तुम्हें दास के समान घसीटें तो कहो कि हमें स्वतंत्रता मिल रही है; दिन रात दूसरों से और अपनी आत्मा से झूठ बोलते रहो, क्योंकि यही एक उपाय सुखी रहने का है"। इसी को व्यावहारिक चातुरी कहते हैं और इसका प्रचार संसार में कभी उतना नहीं था जितना अब उन्नीसवीं शताब्दी में है। कारण यह है कि जैसी कठिन मार आजकल पड़ती है वैसी कभी नहीं पड़ी थी; न कभी ऐसी प्रचंड प्रतिद्वंद्विता, चढ़ा उतरी, लाग डाट थी; न कभी लोग अपने सजातीयों पर इतनी निर्दयता का व्यवहार करते थे; अतः उन्हें इतना आश्वासन तो मिलना चाहिए। आजकल इस बात पर बड़ा बल दिया जाता है; पर सफलता नहीं होती है; इसमें कभी सफलता न

होगी। हम सड़े मांस को फूलों में छिपा नहीं सकते; यह असंभव है। वह देर तक छिपेगा नहीं, फूल सूखे कि उसकी दुर्गंध और भी प्रचंड रूप से प्रगट हुई। यही हमारे जीवन की दशा है। हम अपने पुराने सड़े हुए घाव को कमखाब के भीतर छिपाने का प्रयत्न भले ही करें पर कपड़ा उतारा कि घाव का भीषण रूप प्रगट हुआ।

तो क्या कोई आशा नहीं है? हम सचमुच माया के दास हैं, माया में उत्पन्न हुए हैं और माया ही में रहते हैं। क्या इससे बचने का कोई उपाय नहीं, कुछ भी आशा नहीं? हम सब अभागे हैं; यह संसार सचमुच बंदीगृह है; हमारा यह शरीर जिसे हम सुंदरता का आकर समझे थे बंधन-गृह है; हमारी बुद्धि और मन सब बंधन ही बंधन हैं; इसका ज्ञान बहुत शताब्दियों से लगातार होता आया है। संसार में ऐसा कोई मनुष्य न था, कोई ऐसी आत्मा न थी जिसके मन में कभी न कभी यह भाव न आई हो। यह और बात है कि कहने में वह जो जी में आवे कहे। बड़े बूढ़े तो इसे और अधिक समझते हैं, उनमें सारे जीवन भर का अनुभव भरा है, प्रकृति की झूठी बातों के फेर में वे सहज में नहीं आ सकते। क्या कोई उपाय नहीं है? हमें तो यह जान पड़ता है कि यह सब कुछ होते हुए, यह सब भयावह घटना सामने रहते हुए, दुःख और संताप में, इस संसार में, जहाँ जीवन और मरण समानार्थक है, वहीं एक धीमे स्वर से, सदा सब काल में, सब देशों में, सबके हृदय में यह शब्द सुनाई

पड़ता आया है कि "यह मेरी दैवी माया, गुणों से बनी है, इसका पार करना दुस्तर है, जो मेरी शरण आते हैं वे इस जीवन नदी के पार हो जाते हैं।" "सब जो दुःखी हो, और बोझ से दब रहे हो, मेरे शरण को प्राप्त हो मैं तुम्हें शांति दूँगा।" यही शब्द है जो हमें आगे लिये जा रहा है। मनुष्यों ने इसे सुना है और वे सदा सर्वदा से इसे सुनते आ रहे हैं। यह शब्द उस समय होता है जब सब कुछ नाश होता जान पड़ता है, आशा चली जाती है, जब मनुष्य का अपने बल पर सारा भरोसा जाता रहता है। जब उसे सब नाशमान दिखाई पड़ता है और जीवन निराशामय हो जाता है उस समय यह सुनाई पड़ता है। इसी का नाम धर्म है।

इसी लिये एक ओर गंभीरता से यह कहा जाता है कि यह सब मिथ्या है, यह माया है; पर दूसरी ओर अत्यंत आशापूर्ण यह घोषणा की जाती है कि माया से छुटकारा पाने का भी मार्ग है। इसके अतिरिक्त दूसरी ओर से व्यवहारकुशल लोग चिल्ला रहे हैं, क्यों धर्म और अध्यात्म के पीछे पड़ते हो, ये व्यर्थ और मूर्खता की बातें हैं, अपना समय इनमें नष्ट न करो। संसार में रहो, इसमें संदेह नहीं कि संसार बड़ा ही बुरा है, पर इससे काम लो। इसका स्पष्ट शब्दों में यही आशय है कि छल करो, झूठ बोलो, धोखा देते और अपनी सारी बुराइयों को जहाँ तक हो छिपाते रहो। पेवंद पर पेवंद लगाते जाओ, और यहाँ तक कि अंत को पेवंद ही पेवंद रह जाय।

इसी का नाम व्यावहारिक जीवन है। वे लोग जो यों पेवंद लगाने के अभ्यासी हैं धर्म के पास कभी न आवेंगे । धर्म तो अत्यंत असंतोष से होता है, अपने जीवन की वर्तमान दशा से असंतुष्ट रहने से और बनावट के जीवन की धोखेबाज़ी और झूठ से अत्यंत घृणा करने से होता है। धर्म तो तभी हो सकता है जब कोई महात्मा बुद्धदेव के समान हो जाय। बुद्धदेव जब महाबोधि वृक्ष के नीचे आसन मार कर बैठे तो उनमें यह व्यवहार का ज्ञान उदय हुआ और उन्हें जान पड़ा कि सब झमेला है किंतु वे उससे निकल नहीं सके । उनके पास प्रलोभनाएँ आईं कि वे सत्य की जिज्ञासा त्याग दें और संसार में चल कर वही पुराना धोखेबाज़ी का जीवन व्यतीत करें, सबको असत्य नामों से पुकारें, अपनी आत्मा से और अन्य सारे लोगों से असत्य बोलते रहें, पर उस महात्मा ने उन पर विजय प्राप्त की और कहा 'मरना अच्छा है पर अज्ञान का हराभरा जीवन अच्छा नहीं। युद्धक्षेत्र में लड़ कर मरना भला, पर पराजित होकर जीना अच्छा नहीं। यही धर्म का आधार है। जब मनुष्य इस भूमि पर दृढ़ होकर खड़ा होता है तो उसे सत्य का पाना कितनी बड़ी बात है; वह ईश्वर के मार्ग पर है। धार्मिक बनने के लिये दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है। यही पहली चीज़ है। मैं अपने लिये राह काट कर निकालूँगा। मैं या तो सत्य को प्राप्त करूँगा, नहीं तो उसके उद्योग में अपने प्राण दूँगा। क्योंकि यहाँ तो कुछ है नहीं, वह तो गया

और दिन दिन नाश होता जा रहा है। आज जो सुंदर, उमंगों से भरा नवयुवक है वह कल बुड्ढा हो जायगा। सारी उमंगें, आशाएँ और सुख कल वैसे ही कुम्हला जायँगे जैसे पाले से फूल कुम्हलाता है। यह तो एक ओर की बात हुई। दूसरी ओर विजयश्री की सुंदर शोभा देख पड़ रही है, जीवन की सारी बुराइयों पर विजय प्राप्त करने की, जीवन के विजय की, विश्व के विजय की आशा है, उस ओर मनुष्य को पैर रखना चाहिए। इसलिये जो लोग विजय के लिये, सत्य के लिये, धर्म के लिये प्रयास करना चाहते हैं वे ठीक मार्ग पर हैं और यही वेदों की आज्ञा है।

"निराश न हो उठो, जागो, मार्ग बड़ा कठिन है, छूरे की धार के समान तीच्ण है, बड़ी कठिनाई से उसे पार कर सकते हैं; साहस न छोड़ो, अपने लक्ष्य को, परमावधि को प्राप्त करो।"

अब धर्म की भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियों को देखिए, मनुष्यों में नाना संप्रदाय और आकार प्रकार में उनका प्रचार है, पर उन सबका सामान्य मूलाधार एक ही है। और वह यह है कि सब स्वतंत्रता के लिये और संसार के बंधनों से निकलने के लिये उपदेश कर रहे हैं। वे लोक धर्म में एकता कराने नहीं आए हैं, किंतु इस असमंजसता का जैसे हो वैसे उच्छेद कर धर्म को अपने निज के आदर्श पर संस्थापन करने आए हैं, न कि लोक और धर्म के विरोध का परिहार करने। यही सब धर्मों की शिचा है। और यह वेदांत का काम है कि उनके इन सब उद्देशों की विधि मिलावे और यह प्रगट कर दे कि संसार

के समस्त छोटे बड़े धर्मों के बीच एक ही उच्च और व्याप्त अभिप्राय है। जिसे हम अति निकृष्ट, मूढ़ विश्वास कहते हैं उसका और सबसे उच्च दर्शन का उद्देश एक ही है अर्थात् दोनों उसी दुःख से छुटकारा पाने के लिये उपाय बताने का प्रयत्न करते हैं और बहुत अवस्थाओं में इस उपाय की प्राप्ति किसी ऐसे व्यक्ति की कृपा से होती है जो स्वयं प्रकृति के नियमों से बद्ध नहीं होता अर्थात् मुक्त होता है। यह मुक्त व्यक्ति कैसा है इसके बारे में कई मतभेद हैं, कई कठिनाइयाँ हैं। इस पर अनंत वाद-विवाद हुए हैं। चाहे वह पुरुषविशेष ईश्वर हो, चाहे कोई चेतन मनुष्यसमान व्यक्ति हो, चाहे स्त्री, पुरुष या नपुंसक हो, मूल का सिद्धांत वही एक है। भिन्न भिन्न संप्रदायों में आशातीत विरोधों के होते हुए भी हमें उन सबमें एक ही सुनहला एकता का तार दिखाई पड़ता है। इस दर्शन में उसी स्वर्ण सूत्र का पता लगाया गया है और वह थोड़ा थोड़ा करके हमारे सामने लाया गया है; और इसके व्यक्तीकरण का पहला उपाय यही सामान्य आधार है कि सब स्वतंत्रता की ओर पैर बढ़ा रहे हैं।

एक अद्भुत बात जो हमको अपने सारे सुख दुःख, कठिनाइयों और उद्योगों में दिखाई पड़ती है वह यह है कि हम निश्चय ही स्वतंत्रता की ओर जा रहे हैं। सचमुच प्रश्न यह था कि यह विश्व क्या है? यह किस विषय से उत्पन्न हुआ है, किसमें लय होगा? और उत्तर इसका यह था कि

'स्वतंत्रता से यह उत्पन्न होता है, स्वतंत्रता ही में यह रहता है और स्वतंत्रता ही में इसका लय होता है'। इस स्वतंत्रता के भाव को आप त्याग नहीं सकते, आपके कर्म, आपका जीवन उसके बिना जाते रहेंगे। क्षण प्रति क्षण प्रकृति यह सिद्ध कर रही है कि हम दास हैं, मुक्त नहीं। पर इसके साथ ही दूसरा भाव भी उदय होता है कि फिर भी हम मुक्त हैं। पद पद पर माया हमें ठोकरें लगाती है और यह जान पड़ता है कि हम बंधन में हैं पर उसी क्षण उसी ठोकर के साथ, इस ज्ञान के साथ कि हम बंधन में हैं, एक दूसरा भाव हमारे अंतःकरण में उदय होता है कि हम बंधन में नहीं हैं; मुक्त हैं। हमारे भीतर कोई शब्द उठता है कि हम मुक्त हैं। पर यदि हम उस स्वतंत्रता को साक्षात् करने और उसे व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं तो अपार कठिनाइयाँ आन पड़ती हैं। पर यह सब होते हुए भी बार बार भीतर से यह प्रेरणा होती रहती है कि मैं स्वतंत्र हूँ, मैं मुक्त हूँ। यदि आप संसार के भिन्न भिन्न धर्मों का अध्ययन करें तो आपको उनमें यही विचार मिलेगा। धर्म को संकुचित रूप में मत लीजिए, न केवल धर्म, किंतु समाज का सारा जीवन इसी एक स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहा है। सारी गति और कर्म जो संसार में देख पड़ते हैं इसी एक स्वतंत्रता का प्रतिपादन कर रहे हैं। इस शब्द को सभी सुनते हैं, जानें या न जानें, समझें वा न समझें। वह शब्द यह है ''मेरी शरण में आओ, हे दुःखी लोगो,

हे भारी बोझों से दबे हुए लोगो।" इसकी भाषा एक न हो, बोली बानी एक न हो, पर किसी न किसी रूप में वही स्वतंत्रता की अभयवाणी हमारे साथ रही है। हां, हमारा इस संसार में उसी शब्द के कारण जन्म हुआ है, हमारी एक एक गति उसी के लिये होती है। हम सब स्वतंत्रता की ओर दौड़े जा रहे हैं, हम सब उसी शब्द के पीछे लगे जा रहे हैं, चाहे उसे हम समझें वा न समझें। जैसे गाँव के लड़के तुमड़ी बजानेवाले के पीछे लग पड़ते हैं हम सब भी उसी शब्द की धुनि के पीछे बिना समझे बूझे लगे जा रहे हैं।

हम जब उस शब्द के साथ लगते हैं तो व्यवहार दशा में आते हैं, प्रवृत्ति में आते हैं। न केवल मनुष्य किंतु संसार के सब छोटे बड़े जड़ चेतन उस शब्द को सुन कर उसके पीछे दौड़े जा रहे हैं। और इस दौड़ धूप में याने साथ साथ मिल कर बढ़ते, या परस्पर ठेलमठेला करते जा रहे हैं। इस प्रकार स्पर्द्धा, हर्ष, प्रयास, जीवन, आनंद और मृत्यु होती है और यह सारा विश्व-प्रपंच इसके सिवाय और कुछ नहीं है, केवल उस शब्द के पीछे दौड़ने के उन्मत्त प्रयास का परिणाममात्र है। यह प्रकृति की अभिव्यक्ति है।

फिर होता क्या है? परदा हटने लगता है। ज्योंही आप उस शब्द को जानते और उसे समझते हैं सारा परदा बदल जाता है। वही संसार जो माया के भयानक दृश्यों की रंगभूमि बना था अब सुंदर और मनोहर रूप धारण कर लेता

है। अब हम संसार को कोसते नहीं, न उसे भयानक कहते हैं और न यही कहते हैं कि यह सब प्रपंच व्यर्थ है। अब हमें न रोने से काम है न कलपने से। ज्योंही हम उस शब्द को समझ जाते हैं हमें इसका कारण ज्ञात हो जाता है कि इस संसार में इतना प्रयास, झगड़ा, स्पर्द्धा, कष्ट, निर्दयता, कुछ आनंद और हर्ष, क्यों है ; हम देखते हैं कि यह पदार्थों की प्रकृति है, बिना उसके उस शब्द की ओर गति ही नहीं हो सकती, उसकी प्राप्ति हो नहीं सकती, जिसकी ओर जाना हमारे लिये निर्दिष्ट है, उसे हम समझें वा न समझें। अतः सारे मनुष्य, सारी प्रकृति स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयास कर रही है। उसी परमावधि पर पहुँचने के लिये सूर्य्य अपनी गति कर रहा है, पृथ्वी सूर्य्य की परिक्रमा कर रही है, चंद्रमा पृथ्वी के चारों ओर फिर रहा है। उसी परमावधि की ओर सारे ग्रह नक्षत्र जा रहे हैं, वायु बह रही है। सब उसी ओर जाने का प्रयास कर रहे हैं। महात्मा उस शब्द की ओर जा रहा है, वह विवश है, इसमें उसका कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार पापी भी उसी ओर जा रहा है। उदार मनुष्य सीधा उसी शब्द की ओर दौड़ा जा रहा है और रोके रुकता नहीं। सूम वा कृपण पुरुष भी वहीं जा रहा है। सबसे बड़ा सत्कर्मनिष्ठ पुरुष अपने भीतर उस शब्द को सुनता है, रुक नहीं सकता, अवश्य उसी ओर खिंचेगा। इसी प्रकार अत्यंत अकर्मण्य भी वही शब्द सुनता है और वह भी वहीं जायगा। कोई अधिक ठोकर खाता है कोई कम; जो अधिक ठोकर खाता

है उसे हम बुरा कहते हैं, जो कम ठोकर खाता है उसे अच्छा कहते हैं। अच्छे और बुरे दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं वे एक ही हैं; भेद प्रकार में नहीं है, मात्रा में है।

अब यदि इस स्वतंत्रता की शक्ति की अभिव्यक्ति का ही सारे विश्व में साम्राज्य है, तो उसका प्रभाव धर्म पर क्या है इस पर अब विचार कीजिए, क्योंकि धर्म हमारा मुख्य विषय है। हम देखते हैं कि चारों ओर इसी की चर्चा भरी पड़ी है। धर्म के निकृष्ट रूप को लीजिए जहाँ मृत पितरों की आत्मा की वा किसी बलवान् क्रूर देवता की उपासना है। वहाँ देवताओं वा मृत पितरों के विषय में प्रधान भाव क्या है? यही न कि वे प्रकृति से श्रेष्ठ हैं और प्रकृति के बंधन में नहीं हैं। इसमें संदेह नहीं कि उपासकों के भाव प्रकृति के विषय में बहुत ही संकुचित हैं। वे दीवाल को पार कर नहीं जा सकते हैं वा आकाश में उड़ नहीं सकते हैं पर जिन देवताओं की वे पूजा करते हैं वे यह सब कर सकते हैं। दार्शनिक दृष्टि से इसका तात्पर्य्य क्या है? यही कि वहाँ भी उसी स्वतंत्रता की बात है, उनके बोध के अनुसार उनके पूज्य देवता प्रकृति से श्रेष्ठ हैं। यही दशा उनके विचारों की भी है जो उनसे श्रेष्ठ सत्वों की उपासना करते हैं। ज्यों ज्यों प्रकृति के भाव विस्तृत होते जाते हैं त्यों त्यों उससे श्रेष्ठ आत्मा के भाव भी विस्तृत होते जाते हैं और अंत को हम एकेश्वर-वाद पर पहुँच जाते हैं जिसका सिद्धांत यह है कि एक तो माया वा प्रकृति है और

उसके परे एक ऐसा भी सत्व है जो इस माया का शासक वा मायी है।

वेदांत वहीं से प्रारंभ होता है जहाँ एकेश्वर-वाद पहले पहल प्रगट होता है, किंतु उसमें कुछ और विवेचना अपेक्षित है। वेदांत का कथन है कि यह समाधान बहुत अच्छा है कि एक ऐसा सत्व इस माया की सारी अभिव्यक्तियों के परे है, वह माया से श्रेष्ठ और उससे पृथक् स्वतंत्र है, वह हमें अपनी ओर खींच रहा है और हम सब उसी की ओर जारहे हैं। यद्यपि यह अनुमान से स्पष्ट विरुद्ध नहीं है, पर इसकी उपलब्धि स्पष्ट नहीं होती, इस ज्ञान की आभा धुंधली और मंद दिखाई पड़ती है। जैसे ईसाइयों की भजन की पुस्तकों में कहा गया है 'मेरे ईश्वर, तेरे बहुत ही सन्निकट।' यही भजन वेदांतियों के लिये भी बहुत अच्छा जान पड़ेगा। वे केवल एक शब्द को बदल देंगे और पाठ यह कर देंगे 'मेरे ईश्वर, मेरे बहुत ही सन्निकट।' इस भाव को कि परमावधि बहुत दूर है प्रकृति के बाहर है, वह हम सब को अपनी ओर खींच रही है, बिना कुछ घटाए गिराए, बहुत ही पास लाना चाहिए। स्वर्ग का ईश्वर प्रकृति में का ईश्वर बनता है, और प्रकृति का ईश्वर स्वयं प्रकृतिरूप ईश्वर हो जाता है। वह ईश्वर जो स्वयं प्रकृति है इस शरीररूप मंदिर के भीतर का ईश्वर हो जाता है और वह ईश्वर जो इस शरीर के मंदिर के भीतर है स्वयं मंदिर ही हो जाता है, देह और आत्मा हो जाता है, यहाँ इसकी शिक्षा पूर्ण

हो जाती है। वह जिसको ऋषि लोग सब स्थानों में ढूँढ रहे थे हमारे ही अंतःकरण में है। वेदांती कहता है कि जो शब्द तुमने सुना वह ठीक था, पर जिधर से तुमने शब्द का आना समझा था वहां तुम भूले थे। स्वतंत्रता के भाव को तुमने जाना तो ठीक पर तुमने उसे अपने से बाहर समझा, बस इतने ही में तुम भूले थे। इसे पास पास लाते जाओ और अंत को तुम्हें यह जान पड़ेगा कि वह सदा तुम्हारे भीतर था, वह तुम्हारी आत्मा की भी आत्मा था। तुम स्वभाव से स्वतंत्र थे और यह माया बिचारी तुम्हें कभी बाँधे हुए नहीं थी। प्रकृति का तुम पर अधिकार कभी नहीं था। डरे हुए बालक के समान तुम स्वप्न देख रहे थे कि वह तुम्हारा गला दाब रही है और इसी भय से छूटना ही परमावधि थी। इसे केवल बुद्धि मात्र से देखना अर्थात् समझना पर्य्याप्त नहीं है, किंतु इसका अनुभव करना चाहिए और इसे जैसे हम इस संसार को देख रहे हैं, उससे अधिक साक्षात् करना चाहिए, तब हमें ज्ञात होगा कि हम मुक्त हैं। तभी सारे दुःखों का नाश हो जायगा, अंतःकरण की सारी चिंताएँ जाती रहेंगी, सब कुटिलता छूट जायगी, और उस समय प्रकृति और उसकी अनेक अभिव्यक्तियों का भ्रम नष्ट हो जायगा। माया जो अब तक भयावनी निराशा की नींद बनी थी सुंदर रूप धारण कर लेगी, यह संसार बंदीगृह की जगह क्रीड़ास्थल हो जायगा, यहाँ तक कि भय और कठिनाइयाँ और सारे दुःख दिव्य रूप धारण कर लेंगे और

हमारे सामने अपना सच्चा रूप प्रगट करेंगे। वे यह दिखला देंगे कि प्रत्येक पदार्थ की ओट में सब का अचल तत्व, वही, खड़ा है, वही एक सत्य आत्मा, परमात्मा है।

(६) पूर्ण ब्रह्म और अभिव्यक्ति।

अद्वैत दर्शन में एक पहेली है। यह प्रश्न ऐसा है जिसका समझ में आना बहुत कठिन है, यह बार बार समझने पर भी समझ में नहीं आता, शंका ज्यों की त्यों बनी रहती है। वह पहेली यह है कि अनंत पूर्ण ब्रह्म व्यक्त होकर सांत कैसे हुआ? मैं अब इस प्रश्न को उठाता हूँ और उसके समझाने के लिये एक चित्र काम में लाता हूँ।

(क) पूर्ण ब्रह्म
(ग) देश काल परिणाम
(ख) विश्व

चित्र में (क) पूर्ण ब्रह्म है और (ख) विश्व है। वही पूर्ण ब्रह्म विश्व हो गया है। यहाँ विश्व शब्द के अंतर्गत केवल यह प्राकृतिक विश्व ही नहीं है किंतु मानसिक और आध्यात्मिक लोक भी, आकाश पृथिवी और अन्य सब कुछ जो है उसके अंतर्गत है। मन एक परिणाम का नाम है, शरीर एक और परिणाम का नाम है, इस प्रकार और भी परिणाम ही हैं। इन्हीं परिणामों से मिलकर यह विश्व बना है। यही (क) पूर्ण ब्रह्म (ग) देश, काल, परिणाम में होकर आने से (ख) विश्व बन गया है। यह अद्वैत-वाद के सिद्धांत का बीज है। देश काल और परिणाम दर्पण हैं जिनमें से होकर पूर्ण ब्रह्म देखा

जाता है, जब उसी को नीचे की ओर देखते हैं तो वह विश्व दिखाई पड़ता है। इससे यह निचोड़ निकलता है कि पूर्ण ब्रह्म में काल और परिणाम एक भी नहीं है। उसमें काल तो हो ही नहीं सकता क्योंकि वहाँ न मन है और न विचार। देश भी उसमें नहीं है क्योंकि उसमें बाहरी परिवर्तन नहीं होता। जहाँ बाह्य परिवर्तन नहीं है एक ही है, वहाँ गति और परिणाम भी नहीं हो सकते। हमें यह समझ रखना चाहिए और इसे अपने हृदय पर लिख लेना चाहिए कि जिसे हम परिणाम कहते हैं उसका प्रारंभ, यदि हम ब्रह्म को विकारी कह सकें, तो उस ब्रह्म के विकारी होकर दृश्य (ज्ञेय) होने के पीछे होता है, इसके पहले नहीं, और हमारा संकल्प, इच्छा आदि सबकी अभिव्यक्ति उसके पीछे है। मैं समझता हूँ कि शोपनहार के दर्शन ने वेदांत का भाव समझने में बड़ी भूल की है क्योंकि वह संकल्प ही को सब कुछ बनाना चाहता है। शोपनहार संकल्प को ब्रह्म का स्थानापन्न बनाता है। परब्रह्म संकल्प रूप हो नहीं सकता, कारण यह है कि संकल्प परिणामी और ज्ञेय है और उस लकीर के ऊपर जो देश काल और परिणाम के ऊपर खिंची है न गति है न परिवर्त्तन। उस लकीर के नीचे ही बाह्य और आभ्यंतर गति का होना आरंभ होता है जिसे विचार कहते हैं। अतः संकल्प का स्थान लकीर के ऊपर नहीं हो सकता और इसी लिये संकल्प विश्व का कारण नहीं हो सकता। पास आकर हम अपने इसी शरीर ही में देखते हैं कि संकल्प

सारी गतियों का कारण नहीं है। मैं कुरसी हिलाता हूँ, कुरसी के हिलाने का कारण मेरा संकल्प है, वही संकल्प दूसरी ओर हाथ की गति द्वारा व्यक्त होता है। पर वही शक्ति जो कुरसी को हिलाती है हृदय फुसफुस या गरदन में गति दे रही है; पर उस गति का कारण संकल्प नहीं है। मान लीजिए कि वह शक्ति एक ही है, किंतु जब वह संज्ञावस्था में होती है तब हम उसे संकल्पज कहते हैं, पर जब तक वह उस अवस्था में नहीं आती उसे संकल्पज कहना भ्रम है। इससे शोपनहार के सिद्धांत में बड़ी अव्यवस्था हो जाती है। पत्थर गिरता है तो हम कहते हैं कि वह गिरा क्यों? यह प्रश्न तभी हो सकता है जब हम यह मान लें कि अकारण कोई कार्य्य नहीं होता। आप अपने मन में इसे ठीक विचारिए तो सही कि जब हम यह प्रश्न करते हैं कि अमुक घटना क्यों हुई तो यह माने लेते हैं कि उसके पूर्व उसका कारण कुछ अवश्य था। जो होता है उसके पहले कोई ऐसी बात अवश्य हुई होगी जिसने कारण का काम दिया। इसी कारण और कार्य्य के पूर्वापर भाव को हम परिणाम कहते हैं; इसका आशय यही है कि विश्व के सब अणु बारी बारी कारण और कार्य्य होते रहते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने परवर्ती पदार्थ का कारण और पूर्ववर्ती का कार्य्य है। इसी का नाम परिणाम है और यह हमारे सारे विचारों का एक आवश्यक आधार है। हमारा विश्वास है कि विश्व के एक एक अणु दूसरे अणुओं से संबद्ध हैं। इस विषय पर बड़ा विवाद

है कि यह भाव कैसे उत्पन्न हुआ है। युरोप में सहजोपलब्धि-वादी दार्शनिक थे। उनका सिद्धांत था कि यह भाव मनुष्य में स्वाभाविक है। दूसरों का मत है कि यह भाव अनुभव से उत्पन्न हुआ है पर इसका निबटेरा कभी हुआ नहीं। वेदांत की इस विषय में क्या सम्मति है यह आगे जान पड़ेगा। पर पहले तो यह हमें स्पष्ट जानना चाहिए कि 'क्यों?' इस प्रश्न में कारण की जिज्ञासा ही यह प्रमाणित करती है कि यह मान कर ही यह प्रश्न किया गया है कि संसार में सब बातों के कोई न कोई पूर्व, और कुछ न कुछ पर होता है। इस प्रश्न में एक और भी सिद्धांत अंतर्हित है कि विश्व में कोई पदार्थ निरपेक्ष नहीं है और सब को किसी न किसी अन्य बाहरी पदार्थ के प्रभाव की अपेक्षा है। सारांश यह कि सारे विश्व में सापेक्षता का नियम ही वर्तमान है अथवा सापेक्षता ही विश्व का एक मात्र नियम है। अब इस प्रश्न में कि 'ब्रह्म का कारण क्या है' हम कैसा भ्रम करते हैं। इस प्रश्न के करते समय हम यह मान लेते हैं कि ब्रह्म भी किसी न किसी से बद्ध है, इसे किसी न किसी की अपेक्षा है और इसे मान कर हम ब्रह्म को घसीटकर विश्व के समान कर देते हैं। ब्रह्म में, देश, काल, परिणाम कुछ नहीं है, वह अद्वितीय है। जो अद्वैत है उसका कोई कारण होता नहीं। मुक्त का कोई कारण नहीं, नहीं तो वह मुक्त कैसा, वह तो बद्ध ठहरा। सापेक्ष कभी मुक्त नहीं हो सकता। अतः हम देखते हैं कि यह प्रश्न कि अनंत सांत कैसे हुआ, परस्पर विरुद्ध होने के कारण

असंभव है। सूक्ष्मता के विचार को छोड़िए और सामान्य तर्क और विवेक से काम लीजिए। जब हमें यह जानने की इच्छा हो कि ब्रह्म सापेक्ष कैसे हुआ, तो हम इसे और प्रकार से देख सकते हैं। यदि इस प्रश्न का हमें संतोषदायक उत्तर मिल जाय तो क्या निरपेक्ष ब्रह्म निरपेक्ष रहा ? वह तो सापेक्ष हो गया। विवेक की दृष्टि से ज्ञान कहते हैं किसे ? जो हमारे मन के आयतन में आता है हमें उसी का ज्ञान होता है और जो हमारे मन के परिमाण में नहीं आ सकता वह ज्ञान नहीं है। अब यदि पूर्ण ब्रह्म हमारे मन के परिमाण में आ जाय तो वह पूर्ण ब्रह्म न रहा, वह परिमित हो गया। जो मन के परिमाण में आता है वह सांत है (१) अतः 'ब्रह्म का जानना,' यह पद फिर भी असंगत ही रह गया। यही कारण है कि इस प्रश्न का आज तक समाधान नहीं हुआ, क्योंकि इसका समाधान हुआ कि ब्रह्म की पूर्णता गई, ईश्वर का ज्ञान हुआ कि ईश्वर की ईश्वरता जाती रही और वह हम आप का सा सांत हुआ। वह सदा अज्ञेय है। अद्वैत वेदांत कहता है कि वह ज्ञेय से परे है। वह तो ज्ञेय से भी अधिक है। यही जानने की बड़ी बात है। जिस अर्थ में लोकायतिक 'अज्ञेय' पद को लेते हैं उस अर्थ में तो ईश्वर अज्ञेय है यह मत समझ जाइए। यह कुरसी है, इसे हम जानते हैं, यह ज्ञेय है, पर आकाश तत्त्व के परे क्या है, अथवा

(१) भाव यह है कि जो बुद्धि में आवे वह सांत है और जो बुद्धि में न आवे वही ब्रह्म है।

इस व्योम में दूर दूर के तारों में मनुष्य हैं वा नहीं इत्यादि बातें हम जान नहीं सकते, वे अज्ञेय हैं। इस अर्थ में तो ईश्वर न ज्ञेय ठहरता है और न अज्ञेय। इस वाक्य का कि 'ईश्वर न ज्ञेय है, न अज्ञेय' यह आशय है कि वह ज्ञेय से भी अधिक है, यह नहीं कि उसे न तो किसी ने जान पाया है और न कोई उसे जान ही सकता है। वह तो ज्ञेय से भी अधिक है। कुरसी तो केवल ज्ञेय या ज्ञात है, पर ईश्वर उससे भी संनिकृष्टतर ज्ञेय या ज्ञात है क्योंकि उसी से तो हमें कुरसी का भी ज्ञान होता है। वह साक्षी है, सारे ज्ञानों का नित्य साक्षी है। जो कुछ ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है उसी के द्वारा और उसी में प्राप्त हुआ है। वह हमारी आत्मा की भी आत्मा है, वह अहंभाव वा अहंकार का भी सार है। हमें किसी पदार्थ का ज्ञान अहंकार के अतिरिक्त किसी और द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता है। हमें सारा ज्ञान उसी ब्रह्म के द्वारा प्राप्त होता है। कुरसी के जानने के लिये भी हमें ईश्वर के द्वारा ही उसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है। ईश्वर कुरसी की अपेक्षा हमारे अधिक संनिकृष्ट है, पर वह सब से श्रेष्ठ है। वह न ज्ञेय है न अज्ञेय, न ज्ञात है न अज्ञात, पर दोनों से कहीं श्रेष्ठतर है। वह तुम्हारी आत्मा है। यदि वह कल्याणमय हममें परिपूर्ण न रहे तो भला ऐसा कौन है जो एक क्षण भी जी सके और प्राण धारण कर सके? क्योंकि उसमें और उसी के द्वारा हम प्राण धारण करते हैं, श्वास प्रश्वास लेते हैं और उसी से हमारी सत्ता है। इसका यह आशय नहीं है कि वह

हमसे कहीं अलग खड़ा है और वहाँ से हमारे रक्त में गति का संचार कर रहा है। इसका आशय यह है कि वही सब पदार्थों का सार है और वही हमारी आत्मा की आत्मा है। आप यह किसी प्रकार नहीं कह सकते कि आप उसे जानते हैं। ऐसा करना उसके महत्त्व को घटाना है। आप अपने आपे से बाहर नहीं जा सकते, अतः आप उसे जान भी नहीं सकते। जानना किसी को दृष्ट वा विषयभूत करने का नाम है। उदाहरण के लिये देखिए कि आप अपनी स्मृति से अनेक पदार्थों को विषयभूत करते हैं, उनको अपने से बाहर लाकर उनका साक्षात् करते हैं। हमारी स्मृति, जो कुछ हम देखते हैं, जानते हैं, सबका ज्ञान हमारे भीतर भरा रहता है। उन सब का चित्र, सब का लेख, हमारे चित्त में है और जब हम उनका ज्ञान करना चाहते हैं तो पहला काम जो हम करते हैं वह यह है कि हम उसे भीतर से बाहर लाते हैं। ईश्वर के साथ ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि वह हमारी आत्मा की भी आत्मा है, हम उसे अपने से बाहर ला ही नहीं सकते। वेदांत का एक महावाक्य यह है—

'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'

वह तुम्हारी आत्मा की भी आत्मा है, वह सत्य, है वह आत्मा है, तू वही है हे श्वेतकेतु! 'तत्त्व-मसि' महा वाक्य का भी यही अर्थ है। आप उसे किसी भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते। भाषा का सारा प्रयत्न, उसे पिता, माता, भाई, बंधु, मित्र, स्वामी आदि कहना, ईश्वर को दृष्ट वा विषय

बनाने की चेष्टा मात्र करना है, वह दृष्ट वा विषयभूत हो ही नहीं सकता। वह सब का नित्य द्रष्टा है, मैं इस कुर्सी का द्रष्टा हूँ, मैं उसे देख रहा हूँ। इसी प्रकार ईश्वर मेरी आत्मा का नित्य द्रष्टा है, तो भला आप उसे कैसे दृष्ट बना सकते हैं? वह तो आपकी आत्माओं की आत्मा और सारे पदार्थ की सत्ता है। मैं आपसे उसी बात को फिर कहता हूँ कि ईश्वर तो न ज्ञेय है और न अज्ञेय, किंतु उन दोनों से बहुत ही उच्च है। वह हम में ओत प्रोत है और जो हम में ओत प्रोत है वह न ज्ञेय है और न अज्ञेय, जैसे कि हमारी आत्मा। आप अपनी आत्मा को नहीं जान सकते। उसे बाहर निकाल कर दृष्ट वा विषय-भूत नहीं बना सकते। इसका कारण यह है कि वह आप ही हो, आप भला उससे पृथक् कैसे हो सकते हैं? उसे आप अज्ञेय भी नहीं कह सकते, आप अपने से अधिक किसे जानते हैं? सचमुच वही हमारे ज्ञान का केंद्र है। ठीक इसी भाव में यह कहा जाता है कि ईश्वर न ज्ञेय है और न अज्ञेय, न ज्ञात है न अज्ञात, वह दोनों से अत्यंत श्रेष्ठ है क्योंकि वह तो सचमुच हमारी आत्मा ही है।

हमने देखा कि 'पूर्ण ब्रह्म का कारण क्या है' यह प्रश्न ही असंगत है, दूसरे जब हम देखते हैं कि अद्वैतमतानुसार ईश्वर का भाव ही अद्वैत वा एकता का है तो हम उसे दृष्ट कैसे बना सकते हैं। हम तो, चाहे उसे जानें वा न जानें उसी में रहते और उसी में चलते फिरते हैं। हमारी सारी क्रिया उसी में,

उसी के द्वारा, होती है। अब प्रश्न यह है कि फिर देश, काल और परिणाम क्या है ? अद्वैत का अर्थ है द्वैत का अभाव; एक दो नहीं हैं। पर हम देखते हैं कि यह एक ही ब्रह्म देश, काल और परिणाम के आवरण में से अनेक रूपों में व्यक्त होता है। अतः यह जान पड़ता है कि यहाँ दो सत्ताएँ हैं—एक ब्रह्म और दूसरी माया (जो देश काल और परिणाम की समष्टि है)। बाह्य दृष्टि से देखने से यह निःसंदेह प्रतीत होता है कि हाँ हैं दो ही। पर अद्वैतवाद कहता है कि दो हो ही नहीं सकते। दो होने के लिये यह आवश्यक है कि दो पूर्ण और पृथक् सत्ताएँ हों, जो स्वयंसिद्ध हों, जिनका कारण कोई न हो। पहली बात तो यह है कि देश, काल और परिणाम की पृथक् सत्ता मानी ही नहीं जा सकती। काल एक सापेक्ष सत्ता है; हमारे चित्त की एक एक वृत्ति के साथ साथ यह भी बदलता रहता है। कभी स्वप्नावस्था में मनुष्य को यह बोध होता है कि कई वर्ष बीत गए, कभी वर्षों का समय पल के समान बीतता है। अतः काल हमारे चित्त की वृत्तियों के नितांत आश्रित है। दूसरी बात यह है कि कभी कभी काल का भाव बिलकुल जाता रहता है। यही दशा देश की भी है। हमें देश का ज्ञान ही नहीं हो सकता। पर यह अनिर्वचनीय रूप से है और किसी से पृथक् इसकी सत्ता हो नहीं सकती। यही दशा परिणाम की भी समझ लो।

हमें देश, काल और परिणाम में एक विशेष लक्षण यह दिखाई पड़ता है कि वे किसी पदार्थ से पृथक् नहीं रह सकते।

वर्ण, परिमाण और इधर उधर के पदार्थों के संबंध के बिना देश का ध्यान, केवल देश ही का ध्यान तो कीजिए। आप कर ही नहीं सकते। जब आप ध्यान करें, तब वह आपको दो सीमाओं वा तीन पदार्थों के बीच के अवकाश ही के रूप में ध्यान में आवेगा। इसे अपनी सत्ता के लिये दूसरे पदार्थों से संबंध की अपेक्षा बनी रहती है। यही दशा काल की भी है। आपको केवल काल का भी कुछ बोध नहीं हो सकता। जब आप काल का ध्यान करेंगे तो आपको दो घटनाओं को मानना पड़ेगा जिनमें एक आगे की और एक पीछे की, फिर उन दोनों घटनाओं को पौर्वापर्य जोड़ करके क्रम से आपको काल का बोध होगा। जिस प्रकार देश को बाह्य पदार्थों की अपेक्षा है, वैसे ही काल को दो घटनाओं की अपेक्षा है अथवा यों कह लीजिए कि वह उनका आश्रित है। परिणाम का भाव तो देश, काल के भाव से अविभेद्य वा समवायी है। इन तीनों में विशेषता यह हुई कि वे स्वतंत्र वा निरपेक्ष रूप से पृथक् सत्ता नहीं रखते। उनकी इस कुर्सी अथवा दीवाल के समान भी सत्ता नहीं है। वे प्रत्येक पदार्थ के साथ छाया के समान लगे हुए हैं और उनका ग्रहण हो ही नहीं सकता। उनकी सत्ता सत् नहीं है पर वे असत् भी नहीं हैं, हम देखते हैं कि विश्व में सारे पदार्थों की अभिव्यक्ति उन्हीं के द्वारा हो रही है। सबसे पहले तो यह बात हुई कि देश, काल और परिणाम की समष्टि न तो सत् है और न असत्, और दूसरे यह कि यह समष्टि कभी कभी तिरोभूत वा अंतर्धान हो जाती है। उसका दृष्टांत समुद्र की लहर से दिया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि लहर

और समुद्र एक ही हैं पर फिर भी हम उसे लहर जानते हैं और इस रूप में समुद्र से अलग समझते हैं। यह भेद पड़ता क्यों है? इसका कारण नाम और रूप है। अर्थात् केवल मानसिक भाव और रूप। अब बतलाइए कि क्या हम कभी लहर का ध्यान समुद्र से पृथक् कर सकते हैं? कदापि नहीं। इसके साथ सदा समुद्र का भाव लगा हुआ है। लहर बैठ गई कि रूप गया; पर फिर भी रूप भ्रम नहीं था। जब तक लहर थी, रूप था और वह देखाई पड़ता था। यही माया है।

अतः यह सारा विश्व मानों एक अद्भुत रूप है; ब्रह्म समुद्र है, हम, आप और सूर्य्य, चंद्र, तारे सब उस समुद्र की भिन्न भिन्न लहरें हैं। लहरों में भेद कैसे होता है? रूप ही से न; और रूप है देश काल और परिणाम, जो सब के सब लहर के साथ सापेक्ष हैं। लहर गई कि उनका लोप हुआ। ज्यों ही कोई माया को छोड़ता है त्योंही यह नाश हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है। सारा प्रयास इसी देश, काल और परिणाम के बंधन से छूटने के लिये है; ये सदा हमारे मार्ग के कांटे हो रहे हैं। फिर विकाशवाद वा आरोह का सिद्धांत क्या है? वे दो वस्तुएँ कौन कौन हैं जिनसे विकाश होता है? उनमें एक महती प्रभु शक्ति है जो अपने को व्यक्त करने की चेष्टा करती रहती है, दूसरी परिस्थिति है जो उस शक्ति का अवरोध करती है, ऐसी बाधाएँ हैं जो उसके व्यक्त होने में बाधक होती हैं। अतः उन बाधाओं पर विजय

प्राप्त करने के लिये उस शक्ति को बार बार नए नए जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं। इस व्यक्त होने की चेष्टा में अंभ नामक एकेंद्रिय जंतु एक दूसरा शरीर धारण कर कुछ बाधाओं को विजय करता है, फिर अन्य शरीर धारण करता है और इसी प्रकार नए नए शरीर धारण करते और विजय करते करते वह मनुष्य हो जाता है। अब यदि इसी बात पर तर्क की दृष्टि से परिणाम तक ध्यान दीजिए तो यह निष्पत्ति निकलेगी कि जो अंभ नामक जंतु आप्यायित होते होते आज मनुष्य हुआ है एक समय आवेगा जब वह उन सारी बाधाओं को जो प्रकृति उसके मार्ग में डाल सकती है, पार कर जावेगा, उन पर विजय प्राप्त कर लेगा और फिर वह सारी बाधाओं से छुट्टी पा जायगा वा मुक्त हो जायगा। इसी भाव को यदि हम अध्यात्म विद्या में कहेंगे तो इसका रूप यह हो जायगा कि सारी क्रियाओं के दो प्रधान घटक होते हैं, एक द्रष्टा दूसरा दृष्ट, और जीवन का यह एक मुख्य उद्देश है कि द्रष्टा को दृष्ट का एकाधिपति बनाया जाय। उदाहरण लीजिए, मुझे एक मनुष्य ने गाली दी, उससे मुझे दुःख हुआ। अब मेरा काम यह होना चाहिए कि मैं अपने को इतना प्रबल बनालूँ कि उस परिस्थिति की बाधा को जीत सकूँ कि कोई मुझे गाली दे तो मुझे उससे दुःख न हो। यही ढंग है जिससे हम लोग विजय प्राप्त करने का उद्योग कर रहे हैं। अब विचारिए कि धर्म का उद्देश क्या है ? यही कि हम द्रष्टा को पूर्ण करते करते ब्रह्म से एकतान करके

इतना प्रबल बनावें कि वह प्रमेय प्रकृति हम पर विजय प्राप्त न कर सके। यही हमारे दर्शन का तर्काधिष्ठित निगमन है कि एक समय आवेगा जब हम सारी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेंगे क्योंकि प्रकृति प्रमेय वा परिमित है।

अब दूसरी बात जो जानने की है वह यह है कि भला हमें इसका ज्ञान कैसे हो कि प्रकृति प्रमेय वा सांत है? इसका बोध आप को केवल अध्यात्म शास्त्र से हो सकता है। प्रकृति तो वही अनंत ब्रह्म है जो परिमाण में आ गया है। और इसी से उसे प्रमेय वा सांत कहते हैं। अत: एक समय आवेगा जब सारी बाधाओं पर हमें विजय प्राप्त हो जायगी। पर उन पर विजय प्राप्त हो तो कैसे हो? हम संभवत: सारी दृष्ट बाधाओं पर विजय नहीं पा सकते। हमसे ऐसा कदापि होने का नहीं। एक छोटी मछली पानी के अपने शत्रुओं से बचना चाहती है। वह कैसे बचेगी? ऐसे ही न कि मछली पर लगा कर चिड़िया बन जाय। मछली पानी वा वायु को परिवर्तित नहीं कर सकती, वह अपने रूप ही में परिवर्तन करेगी। परिवर्तन सदा द्रष्टा में होता है। विकाश भर में आपको यही मिलेगा कि जब प्रकृति की बाधाओं पर विजय प्राप्त करने के लिये परिवर्तन होता है तो वह परिवर्तन द्रष्टा वा विजय प्राप्त करनेवाले में होता है। इसे धर्म पर लगा लीजिए तो आप को जान पड़ेगा कि बुराइयों पर विजय केवल द्रष्टा वा विजय प्राप्त करनेवाले में परिवर्तन होने से प्राप्त होती है। यही कारण है कि अद्वैत सिद्धांत का सारा बल केवल

द्रष्टा ही के ऊपर है। बुराई और दुःख का पचड़ा गाना निष्प्रयोजन है। कारण यह है कि वे सब बाहर की चीज़ें नहीं हैं। यदि हम क्रोध को जीत लें तो हमें कभी क्रोध न आवेगा। यदि द्वेष पर हमारी विजय हो जाय तो द्वेष हमारा कुछ नहीं कर सकता, वह हमारे पास भी न फटकेगा।

विजय प्राप्त करने का यही एक मात्र साधन है कि वह द्रष्टा के द्वारा हो, द्रष्टा ही को दृढ़ बनाया जाय। मैं बलपूर्वक कहता हूँ कि यदि कोई धर्म भौतिक और आध्यात्मिक रीति पर आधुनिक अन्वेषणों से आगे बढ़ा हुआ है तो वह अद्वैत ही है और यही कारण है कि वह आधुनिक वैज्ञानिकों को इतना रोचक जान पड़ता है। उन्हें जान पड़ता है कि द्वैत मत उनके लिये पर्य्याप्त नहीं है और उनका काम उससे नहीं चलता। मनुष्य को केवल विश्वास ही नहीं करना चाहिए, वह विश्वास बुद्धिपूर्वक भी होना चाहिए। इस उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी यह भाव होना कि बाप दादा से चले आते हुए धर्म को छोड़ कर कहां से आया हुआ धर्म सब भूठा है, प्रकट करता है कि अब भी दुर्बलता वा न्यूनता रह गई है, इसे त्यागना चाहिए। मेरा इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि यह भाव केवल इसी देश में है, यह भाव प्रायः सभी देशों में है और विशेषतः मेरे देश में तो सबसे अधिक है। इस अद्वैत सिद्धांत का बोध जनसाधारण को नहीं हुआ था। पहले यह कुछ साधुओं के हाथ लगा। वे इसे लेकर वन में चले गए। इसी लिये इसे

आरण्यक कहने लगे। ईश्वर की कृपा से भगवान् बुद्धदेव ने अवतार धारण किया। उन्होंने इसका उपदेश जन-साधारण को किया और सब लोग बौद्ध हो गए। उसके बहुत पीछे जब नास्तिकों और लोकायतिकों ने देश का सत्यानाश कर दिया तो यह जान पड़ा कि अद्वैतवाद ही भारतवर्ष की अनात्मवाद से रक्षा कर सकता है।

इस प्रकार अद्वैतवाद ने दो बार भारतवर्ष को प्रकृतिवाद वा अनात्मवाद से बचाया। महात्मा बुद्धदेव के जन्म के पहले यहाँ अनात्मवाद घोर रूप से फैला हुआ था, वह आजकल के अनात्म-वाद सा न था, वह इस से कहीं घोरतर क्या, घोरतम था। मैं भी एक प्रकार का प्रकृतिवादी ही हूँ क्योंकि मैं तो एक ही को मानता हूँ, भेद केवल इतना मात्र है कि अनात्मवादी उसे जड़ वा अनात्मा कहते हैं और मैं प्रकृति को चेतन वा ईश्वर कहता हूँ। अनात्मवाद यह मानता है कि केवल प्रकृति से सब धर्म, कर्म और सब कुछ हुआ है, मैं भी यही कहता हूँ कि सब कुछ ब्रह्म से ही निकला है। केवल शब्द का ही हेर फेर है। पर जो बुद्ध-देव के पूर्व अनात्म-वाद फैला था वह कुछ और ही था, उसकी शिक्षा थी कि 'खाओ पीओ चैन करो, न कोई ईश्वर है और न आत्मा, न कुछ पाप पुण्य है और न स्वर्ग नरक, धर्म केवल ब्राह्मणों का ढकोसला वा जाल मात्र है'। इसकी शिक्षा थी कि जब तक जीओ सुख से जीओ, घी पीने के लिये चाहे ऋण भी कर लो, क्योंकि देह भस्म होने पर फिर नहीं आती, ऋण चुकाने का टंटा ही

क्या है ? यह प्राचीन अनात्मवाद इतना प्रचलित हो गया था कि अब तक उसे लोकायतिक दर्शन कहते हैं। बुद्धदेव ने वेदांत को प्रगट किया और जन-साधारण को उसकी शिक्षा देकर भारतवर्ष की रक्षा की। महात्मा बुद्धदेव के परिनिर्वाण से एक हज़ार वर्ष बीतने पर भारतवर्ष की दशा फिर ज्यों की त्यों हो गई और अनात्मवाद का चारों ओर प्रचार हो गया। सारी जनता और भिन्न भिन्न जातियों के लोग बुद्धदेव के अनुयायी हो गए थे—बौद्ध धर्म धीरे धीरे बिगड़ गया था क्योंकि बहुसंख्यक लोगों को बुद्धदेव के उपदेश का बिलकुल ज्ञान न रह गया था। बुद्धदेव की शिक्षा थी कि विश्व का कोई ईश्वर नहीं है, कोई शासक नहीं है, पर उनके पीछे लोगों ने फिर अपने देवताओं और भूतों की पूजा और सारे ढकोसले उसमें घुसेड़ दिए और भारतवर्ष में बौद्धधर्म खिचड़ी बन गया। फिर अनात्मवाद फैला और वह बड़े लोगों में अनियंत्रणा और छोटों में अंधविश्वास के रूप में प्रचलित हो गया। तब शंकराचार्य्य जी का प्रादुर्भाव हुआ और फिर वेदांत का चारों ओर प्रचार हो गया। उन्होंने इसे एक हेतुवाद दर्शन का रूप दिया। उपनिषदों में युक्तियाँ प्रायः बहुत ही अव्यक्त हैं। बुद्धदेव ने आचारांग पर बल दिया था और शंकराचार्य्य ने अध्यात्मांग पर बल दिया था। शंकराचार्य्य ने अद्वैत को परिष्कृत किया, उपपन्न बनाया और लोगों के सामने इस संबद्ध शास्त्र को धर दिया।

आज कल युरोप में अनात्मवाद फैला हुआ है। आप

आधुनिक संशयवादियों के त्राण के लिये प्रार्थना तो करते हैं, पर वे मानते नहीं हैं, उन्हें युक्ति की आवश्यकता है। युरोप के त्राण के लिये एक हेतुवादी दर्शन और अद्वैतवाद की आवश्यकता है--जिसमें एकता हो, अनेकता नहीं, ईश्वरवाद न हो, ब्रह्मवाद हो--यही एक धर्म है जिसे समझदार मनुष्य मान सकता है। इसका आविर्भाव तब होता है जब धर्म का लोप होने लगता है और अधर्म फैलने लगता है। यही कारण है कि युरोप और अमेरिका में वह जड़ पकड़ रहा है।

हम इस दर्शन के विषय में एक बात और कहेंगे। प्राचीन उपनिषद् सुंदर छंदों में हैं, उनके रचयिता कवि थे। प्लेटो का कथन है कि दैव-ज्ञान मनुष्य में कविता द्वारा आता है; यह जान पड़ता है कि ये प्राचीन साक्षात्कृतधर्मा ऋषि मानो इसी लिये मनुष्यों के पद से ऊँचे किए गए थे कि वे कविता द्वारा सत्यता का प्रकाश करें। उन्होंने न कभी उपदेश किया, न दर्शन का रूप दिया और न कुछ लिखा। उनके अंतःकरण से छंदों का आविर्भाव हुआ। बुद्धदेव बड़े महापुरुष, उदारचित्त और अत्यंत शांत थे, उन्होंने धर्म को व्यावहारिक बनाया और उसे सब के सामने रख दिया, घर घर पहुँचा दिया। शंकराचार्य्य में अपूर्व प्रतिभा थी, उन्होंने सब पदार्थों पर अपने प्रचंड तर्क के प्रकाश को डाला। आजकल हमें वैसे ही प्रतिभा के प्रकाशमान सूर्य्य की आवश्यकता है जिसमें बुद्धदेव का हृदय हो और जो अभूतपूर्व प्रेम और दया का अप्रमेय केंद्र हो। ऐसे संश्लिष्ट व्यक्ति से

सर्वोच्च तत्व-ज्ञान का प्रादुर्भाव होगा। विज्ञान और धर्म हाथ मिला कर एक हो जायँगे, कवित्व और दर्शन मित्र हो जायँगे। भविष्य का धर्म यही होगा और यदि हम इसे परिष्कृत कर सकें तो हमारा विश्वास है कि यह सदा के लिये और सब जातियों के लिये एक मात्र धर्म होगा। यही एक ढंग है जो आधुनिक विज्ञान के अनुकूल पड़े, क्योंकि जहाँ तक देखा जाता है विज्ञान इस अवस्था तक आ गया है। जब कि आज कल के वैज्ञानिक यह कह रहे हैं कि सब कुछ एक ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं तब ऐसी दशा में आप लोगों को उस ईश्वर का स्मरण नहीं आता है कि जिसके विषय में उपनिषदों ने कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

अर्थात् जैसे एक ही अग्नि सारे विश्व में व्याप्त होकर भिन्न भिन्न रूपों में प्रगट है वैसे ही एक आत्मा प्रत्येक आत्मा में अपने को अभिव्यक्त कर रही और फिर भी वह उनसे बहुत परे है! क्या आप यह नहीं देखते कि विज्ञान किधर जा रहा है? हिंदू जाति योग वेदांत और न्याय के द्वारा, मन, अध्यात्म और तर्क के द्वारा, आगे बढ़ी थी। युरोपीय लोग बाह्य जगत् से चले हैं और वे भी उसी स्थान पर पहुँच रहे हैं। हमें यह जान पड़ता है कि अंतर्जगत् में अन्वेषण करते करते भी हम उसी एकता पर पहुँचते हैं जो विश्व की आत्मा, सबकी अंतरात्मा, सब का तत्त्व और सत्ता है, नित्य मुक्त, आनंदमय और अजर

अमर है। भौतिक विद्या से भी हम उसी एकता के सिद्धांत पर पहुँचते हैं। आज कल का विज्ञान हमें यह बतला रहा है कि एक ही शक्ति है जो नाना रूपों में इस विश्व में अभिव्यक्त हो रही है, इस विश्व में जो कुछ है सब की समष्टि वही प्रकृति वा शक्ति है और मनुष्य जाति का लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति की ओर है, बंधन की ओर नहीं। हमें सदाचारी यों होना चाहिए कि धर्म ही मोक्ष का मार्ग है और अधर्म बंधन का मार्ग है।

अद्वैतदर्शन में एक यह और विलक्षणता है कि यह आरंभ से कभी खंडनात्मक नहीं है। यह उसका दूसरा महत्त्व है कि वह गंभीर नाद से कहता है कि किसी के मत पर आक्षेप मत करो, यहाँ तक कि उनके मत पर भी आक्षेप मत करो जो अपनी अज्ञानता के कारण निकृष्ट प्रकार की तामसी उपासना में निरत हैं। इस का उपदेश यह है कि किसी के मत में हस्तक्षेप मत करो किंतु सबको धीरे धीरे उन्नति करने में सहायता दो। सारी मनुष्य जाति को एक समझो। यह सिद्धांत एक ईश्वर का उपदेश करता है जो पूर्ण है, सर्वमय है। यदि आप यह चाहते हों कि कोई ऐसा धर्म हो जो सब के लिये हो तो उस धर्म को खंडमय या एकदेशी न होना चाहिए, उसे व्यापक और सर्वदेशी होना चाहिए जिसमें सब प्रकार के ऊँच नीच विचार के लोग सम्मिलित हो सकें।

यह भाव और धार्मिक संप्रदायों में नहीं मिलता। वे सब के सब एकदेशी हैं और सर्वदेशी भाव तक पहुँचने के लिये यत्न कर रहे हैं। इसी लिये उनकी पृथक् पृथक्

एकदेशी सत्ता है। वेदांत अंगी है, और सब इसके अंग हैं। यही कारण है कि प्रारंभ से इसका अन्य संप्रदायों के साथ जिनका प्रचार भारतवर्ष में रहा है विरोध नहीं रहा है। द्वैतवाद का प्रचार अब तक है और उसके अनुयायियों की संख्या भारतवर्ष में कहीं अधिक है और इसका कारण भी है। सामान्य शिक्षितों के ऊपर द्वैतवाद का प्रभाव स्वभावतः पड़ता है। द्वैतवाद विश्व के प्रश्न का सुगम, सहज और सामान्य बोधगम्य समाधान है। पर द्वैतवादियों से अद्वैतवाद ने कभी वाद-विवाद नहीं किया। द्वैत का मत है कि ईश्वर विश्व से पृथक् कहीं स्वर्ग में है और अद्वैत का मत है वह हमारी ही आत्मा है। और यह अधर्म है कि हम उसे और कहीं बहुत दूर समझे हुए हैं। भेद का भाव बहुत ही हानिकारक है। वह तो हमारे समीप से भी समीप है। किसी भाषा में कोई शब्द नहीं है कि उसकी समीपता प्रगट करे, सिवाय इसके कि वह अभिन्न और एक है। किसी और भाव से अद्वैतवादी को संतोष नहीं है। वैसे ही द्वैतवादियों को अद्वैत का नाम सुनते कँपकँपी आ जाती है और वे उसे अधर्म समझते हैं। अद्वैतवादी यह मानते हैं कि और प्रकार के भी भाव हो सकते हैं और इसी लिये वे द्वैतवादियों के साथ वाद विवाद नहीं करते, वे समझते हैं कि वे भी ठीक मार्ग पर हैं। वे द्वैत से बहुत्व पर भी जा सकते हैं। यह द्वैतवादियों की स्थिति का स्वाभाविक धर्म है। उन्हें उसी स्थिति में रहने दो। अद्वैत-

वादियों का विचार है कि द्वैतवादियों का भाव कोई क्यों न हो वे सब उसी परमावधि की ओर जा रहे हैं जहाँ वह स्वयं जा रहा है। हाँ इस बात में वह अवश्य द्वैतवादियों के साथ सहमत नहीं है क्योंकि द्वैतवादियों को अपने सिद्धांत से लाचार होकर अन्य विरुद्ध मतों को झूठा बतलाना पड़ता है। सब द्वैतवादियों का विश्वास एक ईश्वर पर है जो केवल पुरुष-शक्तियों के उपचार से घटित महाशक्तिशाली पुरुष-विशेष है और स्वतंत्र महाराज के सदृश किसी पर प्रसन्न और किसी पर अप्रसन्न होता रहता है। वह बिना कारण कुछ लोगों पर प्रसन्न हुआ करता है और उन पर अपनी करुणा बरसाता रहता है। इसी हेतु द्वैतवादियों का यह अनुमान है कि ईश्वर के भी कुछ लोग 'मर्ज़ीदान' भक्त होते हैं और वह उन्हीं भक्तों में होना चाहता है। आपको यह भाव लगभग सारे धर्मों में मिलेगा कि 'हम अपने ईश्वर के प्रिय भक्त वा प्रेमपात्र हैं और हमारी तरह केवल विश्वास मात्र करने से आप भी उसके भक्त वा प्रेमपात्र बन जायँगे।' कुछ द्वैतवादियों का तो यहाँ तक संकुचित विचार है कि वे इस पर बल देते हैं कि केवल गिने चुने लोग पहले ही से ईश्वर के प्रेमपात्र निर्दिष्ट हो चुके हैं, उन्हीं लोगों को त्राण मिलेगा और शेष लोग चाहे जितना श्रम करें ईश्वर के प्रेमपात्र बन ही नहीं सकते। मैं आपको आह्वान करता हूँ कि आप मुझे एक भी द्वैतमत दिखा दीजिए जिसमें यह अनन्य कृपापात्र वा अपने पराये के भेद का भाव कुछ न कुछ पाया जाता हो।

यही कारण है कि द्वैतवादी स्वभाव से ही परस्पर लड़ने झगड़ने के लिये बाध्य हैं और वे सदा से लड़ते झगड़ते आ रहे हैं। फिर द्वैतवाद का अशिक्षितों के मिथ्याभिमान पर प्रभाव भी अच्छा पड़ता है और लोग उसके अनुकूल भी हो जाते हैं। वे यह समझ कर प्रसन्न होने लग जाते हैं कि हमें तो अनन्य मुक्ति, विशेष अधिकार, प्राप्त हो चुका है। द्वैतवादियों की यह धारणा है कि आप तब तक धार्मिक नहीं हो सकते जब तक ईश्वर डंडा लिये तुम्हें दंड देने को तुम्हारे सिर पर सदा बैठा न रहे। असमझ लोग प्रायः द्वैतवादी ही हैं और सब देशों में उन बेचारों पर अत्याचार सहस्रों वर्षों से होता आ रहा है, वे तो इसी को मोक्ष समझते हैं कि वे परलोक में दंड के भय से बच जाँय। अमेरिका में मुझसे एक पादरी ने पूछा 'भला आपके धर्म में शैतान नहीं है ? यह हो कैसे सकता है ?' पर हमें तो यह जान पड़ता है कि जो उच्च कोटि के महापुरुष इस संसार में उत्पन्न हुए हैं वे सब इसी अभेद-भाव को लेकर काम कर गए हैं। यह ईसा-मसीह का वाक्य है कि 'मैं और मेरा बाप एक ही हूँ'। उसी की शक्ति असंख्यों पर प्रगट है। सहस्रों वर्ष से वह कल्याण कर रही है। हमें ज्ञात है वह महात्मा अद्वैतवादी था तभी तो सब पर दयालु था। सर्वसाधारण के लिये जो नीच कोटि के अधिकारी थे और पुरुष विशेष से अधिक समझ ही नहीं सकते थे उसने यह उपदेश किया कि—'अपने बाप से जो स्वर्ग में है प्रार्थना करो'। मध्यम कोटि के अधिकारियों के लिये जो

उनसे अधिक समझ सकते थे उसने यह उपदेश किया कि 'मैं अंगूर की बेल हूँ और तुम डालियाँ हो'। पर उसने अपने शिष्यों को जिन्हें उसने पूर्ण अधिकारी समझा यह सत्य उपदेश किया कि 'मैं और मेरा बाप एक ही हूँ।'

भगवान् बुद्धदेव, जिन्होंने द्वैतवादियों के देवताओं की परवाह न की, जिन्हें लोगों ने नास्तिक और लोकायतिक कहा, एक बकरे के लिये अपना शरीर अर्पण करने को उद्यत थे। उसी महात्मा ने मनुष्य जाति के सर्वोच्च धार्मिक भावों के धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। जहाँ कहीं आचार-शास्त्र हैं उनमें उसी महात्मा के प्रकाश की किरण चमक रही है। हम महात्माओं के विशाल हृदयों को संकुचित नहीं कर सकते और उन्हें वहाँ बाँध कर रख नहीं सकते। विशेषतः मनुष्य जाति के इतिहास के इस युग में, जब कि मनुष्य की बुद्धि इतनी बढ़ रही है कि आज से अधिक नहीं सौ वर्ष पहले कहीं स्वप्न में भी ऐसी आशा न थी, जब कि विज्ञान की लहर उठ रही है जिसके उठने की संभावना पचास वर्ष पहले किसी को स्वप्न में भी न थी, हम ऐसा नहीं कर सकते। मनुष्यों को संकुचित वा परिमित परिधि में बलात् रखने का उद्योग कर आप उन्हें मनुष्य से पशु और अचेतन बनाना चाहते हैं। आप उनके धार्मिक जीवन का सत्यानाश कर रहे हैं। इस समय आवश्यकता है सर्वोच्च साहस और सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमत्ता के संघात की, अप्रमेय

प्रेम और अप्रमेय ज्ञान के समवाय की । वेदांती लोग ईश्वर के केवल तीन धर्म वा गुण मानते हैं, सत्, चित् और आनंद; और इन तीनों की समष्टि को एक मानते हैं । सत्ता बिना ज्ञान और प्रेम के हो नहीं सकती, और न ज्ञान बिना प्रेम के और प्रेम बिना ज्ञान के हो सकता है । हमें केवल सत्, चित् और आनंद की एकता चाहिए, और वही हमारी परमावधि है । हमें एकता की आवश्यकता है, एकांगी वृद्धि से कुछ काम नहीं । और हम में शंकराचार्य्य की सी बुद्धि और भगवान् बुद्ध का सा हृदय दोनों हो सकते हैं । हमें आशा है कि हम सब उन दोनों की समष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे ।

---

(७) ईश्वर सब में है ।

हम यह देख चुके हैं कि हम चाहे कितना ही बचना चाहें हमारे जीवन का बड़ा भाग अवश्य दुःखों से भरा है और सचमुच वह दुःखों का समूह हमारे लिये अपार जान पड़ता है । हम उसके प्रतीकार की चेष्टा आदि से करते आ रहे हैं, फिर भी वह ज्यों का त्यों बना रहता है । ज्यों ज्यों हम उनसे बचने के उपाय निकालते जाते हैं सूक्ष्म से सूक्ष्म नए दुःख हमें सताते रहते हैं । हम यह भी देख चुके हैं कि सब धर्मों का यही उपदेश है कि केवल एक ईश्वर इन दुःखों से हमें बचा सकता है । सारे धर्मों का यह उपदेश है कि यदि तुम लोकायतिक बने रहो जैसा कि व्यवहारज्ञ लोगों की शिक्षा है तो अंत में केवल दुःख ही दुःख

को छोड़ कुछ हाथ न लगेगा। वे यह भी कहते हैं कि कुछ इस संसार के अतिरिक्त भी है। यह पंचेंद्रिय जीवन, व्यवहार-जीवन, सांसारिक जीवन ही सब कुछ नहीं है, यह तो एक अंश-मात्र और बाहरी है। इसके पीछे और परे अनंत पड़ा है जहाँ दुःख का लेश मात्र नहीं है। कोई उसे ईश्वर, कोई अल्लाह, कोई जेहोवा, कोई जोव इत्यादि कहता है। उसी को वेदांती लोग ब्रह्म कहते हैं।

इन धर्मों के उपदेश से जो पहली बात हमारी समझ में आती है वह यह है कि हम अपने जीवन की इतिश्री कर दें, यही सबसे अच्छा उपाय है। इस प्रश्न का कि जीवन के दुःख कैसे मिटें स्पष्ट उत्तर यही है कि जीवन का ही परित्याग कर दो। इस पर मुझे एक कहानी याद आती है। एक मनुष्य के सिर पर एक मच्छड़ बैठ गया। उसका मित्र उसी के पास बैठा था। उसने मच्छड़ मारने के लिये ऐसा प्रहार किया कि मच्छड़ तो मरा ही पर साथ ही उसके मित्र के भी प्राण गए। दुःखों के मिटाने का ठीक ऐसा ही प्रतीकार जँचता है। जीवन दोषों से पूर्ण है, संसार दुःखों से भरा है, इससे तो कोई समझदार ऐसा न होगा जो इनकार करे।

पर धर्म इसका उपाय क्या बतलाते हैं? यही न कि जगत निःसार है। इस संसार से परे कुछ है और वही सत्य है। यहाँ फिर वही बात, वही कठिनाई आ जाती है। उपाय यही जान पड़ता है कि सब कुछ नष्ट कर दो। यह उपाय कैसे ठहरा?

फिर क्या कोई दूसरा उपाय नहीं है? वेदांत का कथन है कि सारे धर्मों की बातें तो ठीक हैं पर उन्हें यथार्थ रूप से समझना चाहिए। लोग उनका अर्थ ठीक नहीं समझते, कारण यह है कि धर्म की बातें बहुत स्पष्ट नहीं हैं। इसके लिये हमें मस्तिष्क और हृदय दोनों की आवश्यकता है। इसमें संदेह नहीं कि हृदय इनमें प्रधान है और हृदय ही से जीवन का सर्वोत्कृष्ट आभास होता है। मैं यह अच्छा समझता हूँ कि तनिक सी सहृदयता हो। चाहे बुद्धि वा मस्तिष्क न हो, पर बिना हृदय के केवल बुद्धि ही बुद्धि किसी काम की नहीं होती। जिसमें मन वा सहृदयता है वही जीवन लाभ कर सकता है, वही उन्नति कर सकता है, पर जिसमें केवल बुद्धि ही बुद्धि है, मन नहीं है, वह शुष्क बकवाद में अपना जीवन सत्यानाश कर देता है।

इसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि जो केवल अपने हृदय ही के भरोसे काम करता है उसे बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ पड़ती हैं और कभी कभी वह ठोकर खाकर गड्ढे में गिरता है। हम यही चाहते हैं कि मन और मस्तिष्क दोनों मिलकर एक साथ रहें। मेरा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि मनुष्य तर्क वा बुद्धि के पीछे अपने विचार पलट दें, इच्छा छोड़ दें और न यह चाहता हूँ कि वे केवल अपने मन ही की बात मानें और उसमें तर्क और बुद्धि से काम न लें। पर सब में अप्रमेय हृदय और सहृदयता हो और साथ ही साथ अतिशय तर्क वा विवेक शक्ति भी हो।

क्या इसकी भी कुछ सीमा है कि हमें इस संसार में क्या क्या चाहिए ? क्या संसार अनंत नहीं है, तो फिर मनोभावों की भी कोई सीमा नहीं और प्रबोध और तर्क भी अपरिमित हैं। सब के लिये यहां अवकाश है। दोनों को मिल जुलकर चलने दो, वे अपरिमित होकर समानांतर रेखा की भाँति दौड़ते चलें। हमारी इसमें कोई हानि नहीं।

सभी धर्म यह बात समझते हैं, पर सबके सब एक ही भ्रम-कूप में गिरते हैं। कारण यही है कि सभी मन और मनोभावों के चक्कर में पड़ जाते हैं। संसार में बुराई है, संसार का त्याग करो, बहुत अच्छा उपदेश है ! इससे बढ़कर कौन उपदेश हो सकता है ! एक ही कही ! इसमें क्या संदेह है ! बहुत अच्छा, संसार को छोड़ दो ! इसमें मतभेद हो ही नहीं सकता कि सत्य को जानना है तो भ्रम को त्यागो। इसमें कोई मतभेद नहीं कि अच्छा बनना है तो बुराई छोड़ो, इसमें कोई मतभेद नहीं कि जीवन चाहते हो तो मृत्यु का परित्याग कर दो।

यदि इस सिद्धांत का आशय यह है कि जीवन के सुख भोग छोड़ो, तो हम तो उसी को, इंद्रिय जीवन को, जीवन समझते हैं, उसके छोड़ने पर बच क्या रहता है ? फिर जीवन किसे कहोगे ? यदि उसी को छोड़ा तो फिर रहा क्या ?

इसका तत्व हमें तब जान पड़ेगा जब हम बढ़ते बढ़ते आगे वेदांत के दार्शनिक अंश तक पहुँचेंगे। पर यहाँ मैं आपसे केवल इतना ही कहता हूँ कि इस प्रश्न का युक्तियुक्त समाधान वेदांत से

ही होता है। यहाँ हम केवल आपके सामने यही रखना चाहते हैं कि वेदांत क्या शिक्षा देता है। वह यह है कि संसार को ब्रह्ममय समझो।

वेदांत वास्तव में संसार को गर्हित नहीं कहता। त्याग का भाव कहीं इतने महत्त्व का है ही नहीं जितना कि वेदांत के उपदेश में है। पर साथ ही वहाँ त्याग से शुष्क कायक्लेश या आत्मघात का अभिप्राय नहीं है। त्याग का अभिप्राय संसार में ब्रह्म की भावना करना है अर्थात् संसार के उस भाव को त्यागना जैसा हम उसे समझ रहे हैं, जान रहे हैं, जैसा वह हमें देखाई पड़ रहा है, और उसके वास्तविक रूप को जानना है। उसमें ब्रह्म की भावना कर लो। वह ब्रह्म ही है। हम सब से प्राचीन उपनिषद् के आदि में यह पाते हैं—ईशावास्य-मिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। जो कुछ विश्व में है सब ईश्वर से बसा हुआ है।

हमें सबमें ईश्वर को व्याप्त देखना चाहिए—इस प्रकार नहीं कि हम झूठ मूठ सब को उत्तम समझ लें, बुराइयों से आँख मूँद लें, पर इस प्रकार कि हम ईश्वर को सब में देखें। इस प्रकार हमें संसार का त्याग करना चाहिए और जब संसार का त्याग कर दिया तो रह क्या गया—ईश्वर। इससे क्या निकला ? तुम अपनी स्त्री को रख सकते हो; इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि तुम स्त्री को छोड़ दो, पर यह है कि तुम अपनी स्त्री में ईश्वर को देखो। अपने लड़के-बालों का त्याग करो; इसका

क्या अभिप्राय है ? क्या यह है कि उन्हें घर से निकाल दो, जैसा प्रायः सर्वत्र कुछ नृशंस लोग किया करते हैं ? कदापि नहीं, यह पैशाचिक कृत्य है, धर्म नहीं है। पर धर्म यह है कि ईश्वर को अपने लड़के वालों में देखो। इसी प्रकार सब में देखो। जीवन में, मृत्यु में, सुख में, दुःख में, सब में ईश्वर है। सारा विश्व भगवान् से व्याप्त है। अपनी आँख खोलो और उनका दर्शन करो। यही वेदांत का उपदेश है। संसार के भाव का जो तुम्हारे हृदय में कल्पित है त्याग करो, क्योंकि तुम्हारा वह भाव एकदेशी अनुभव, तुच्छ तर्क और तुम्हारी ही दुर्बलता से कल्पित था। उसे त्याग करो—वह संसार जिसकी हम अब तक चिंता करते रहे हैं, वह संसार जिसमें हम अब तक लिप्त रहे हैं, केवल हमारी निज कल्पना मात्र है और मिथ्या है। इसे त्याग दो, आँखें खोलो, और देखो कि यह वैसा कभी न था। यह केवल स्वप्न था जिसे तुम देख रहे थे, माया थी। जो वास्तव में है वह स्वयं भगवान् है। वही लड़के में है, स्त्री में है, पति में है; वही अच्छे में है, वही बुरे में है; वही पाप में है, पुण्य में है, पापी में है और पुण्यात्मा में है; वही जीवन में है, वही मृत्यु में है। सब में वही है, जहाँ देखो वही है।

यह कैसा बृहत् प्रतिपादन है ! पर इसी बात को वेदांत प्रतिपादित और प्रमाणित करना चाहता है, इसी की शिक्षा देता और उपदेश करता है। यह अभी विषय का आरंभ मात्र है।

इस प्रकार जीवन और जीवन की बुराई दोनों का भय जाता रहता है। किसी वस्तु की इच्छा न करो। हमें क्लेश क्यों होता

है ? क्लेश का कारण, जिससे हमें दुःख होता है, इच्छा है। आपने किसी वस्तु की इच्छा की और वह इच्छा पूरी न हुई, उसका परिणाम दुःख हुआ। इच्छा नहीं तो दुःख भी नहीं। यहाँ भी मुझे आशंका है कि मेरे भाव समझने में भ्रम न हो। अतः इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि इच्छा को त्यागने और दुःखों से मुक्त होने से क्या अभिप्राय है। दीवाल को इच्छा नहीं है, उसे कभी दुःख नहीं होता। यह ठीक है, पर वह उन्नति भी तो नहीं करती। कुर्सी को इच्छा नहीं, उसे कभी दुःख नहीं होता, पर वह भी तो कभी उन्नति नहीं करती, सदा कुरसी ही बनी रहती है। सुख में भी एक महत्त्व है और दुःख में भी एक महत्त्व है। यदि मैं ऐसा कहने का साहस करूँ तो कह सकता हूँ कि दुःख से भी तो कुछ लाभ है। दुःख से बड़ी शिक्षा मिलती है यह बात हम सब जानते हैं। हम लोग अपने जीवन में सैकड़ों ऐसी बातें कर चुके हैं जिन्हें हम चाहते हैं कि हमने न किया होता, पर उनसे हमें बड़ी शिक्षा मिली है। मैं तो इतने से ही प्रसन्न हूँ कि मैंने कुछ अच्छे काम और बहुत से बुरे काम किए; इससे भी प्रसन्न हूँ कि कुछ ठीक किया और इससे भी संतुष्ट हूँ कि बहुत कुछ बे-ठीक किया, कारण यह है कि सबकी सब भूलें हमारे लिये उत्तम शिक्षा दे गईं। अब मैं इस समय जैसा हूँ अपने उन सारे कर्मों का जो मैंने किए हैं और सारे विचारों का जो मेरे मन में उत्पन्न हुए हैं, परिणामरूप यहाँ खड़ा हूँ। प्रत्येक कर्म

श्रौर विचार का कुछ न कुछ फल हुआ है श्रौर वे फल मिलकर मेरी उन्नति की समष्टि के रूप में प्रगट हुए हैं।

हम सब यह जानते हैं कि इच्छा मिथ्या है पर इच्छा के त्यागने से श्रभिप्राय क्या है? बिना इच्छा के जीवन कैसे चले? यह तो वैसा ही घातक उपदेश है कि इच्छा के साथ इच्छा करनेवाले का भी नाश कर देना। इसका समाधान यह है—यह नहीं कि तुम सम्पत्ति न रखो, तुम श्रपनी श्रावश्यकता की चीजों को न रखो श्रौर यहाँ तक कि सुख के साधनों तक को छोड़ दो। तुम्हें जितनी श्रावश्यकता है सब रखो श्रौर उससे भी श्रधिक रखो, केवल सत्य को जानो श्रौर उसे साक्षात् करो। धन सम्पत्ति किसी की है नहीं। स्वत्व श्रौर स्वामित्व के भाव को छोड़ो। न तुम स्वामी हो, न मैं स्वामी हूँ, न कोई श्रौर स्वामी है। सब कुछ ईश्वर का है क्योंकि मंत्र में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि ईश्वर सबमें व्याप्त है। ईश्वर उस धन में भी है जो तुम उपयोग में लाते हो, वही तुम्हारी इच्छा में भी है जो तुम्हारे मन में उत्पन्न होती है, वही उन पदार्थों में भी है जो तुम श्रपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये मोल लेते हो; वही तुम्हारे वस्त्र में, वही तुम्हारे श्राभूषण में, सब में, व्याप्त हो रहा है। यही भावना की रीति है। ज्योंही श्राप इस दृष्टि से देखने लगेंगे सब परिवर्तित हो जायँगे, प्रत्येक चेष्टों में, बातचीत में, व्यवहार में, सब बातों में ज्यों ही ईश्वर को श्राप रखने लगे कि सारे पदार्थ कुछ से कुछ देख पड़ेंगे, परदा उठ जायगा श्रौर

संसार दु:खसागर और नरक दिखाई पड़ने के स्थान में आपको साचात् स्वर्ग देख पड़ेगा।

ईसामसीह का कथन है कि "स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है", वही बात वेदांत और संसार के बड़े बड़े उपदेशक कहते हैं। 'जिसे आँख है देखे, जिसे कान है सुने'। वेदांत कहता है कि वह सत्य जिसे हम अब तक इधर उधर ढूँढ़ रहे थे सदा था, सदा हमारे पास था। अज्ञानवश हमने समझ रखा था कि वह हमारे पास नहीं है और हम उसके लिये रोते बिललाते चारों ओर सिर मारते फिरते थे, पर वह सदा हमारे अंत:करण ही में रहा, और वहीं वह हमें मिल सकता है।

यदि हम संसार के त्यागने का वही पुराना और भोंड़ा अर्थ लें तो उससे यही तात्पर्य निकलेगा कि हम काम करना छोड़ दें, आलसी बनें और मिट्टी के ढेले की भाँति जहाँ हैं वहीं पड़े पड़े सड़ा करें, न कुछ सोचें विचारें और न कुछ काम काज करें, यदृविष्य बनकर परिस्थिति और प्रकृति की ठोकरें खाते इधर उधर मारे मारे फिरा करें। यही इसका परिणाम होगा। पर इसका तात्पर्य्य यह नहीं है। हमें कर्म अवश्य करना चाहिए। सामान्य मनुष्यों को, जो अपनी झूठी इच्छा के वशीभूत होकर इधर उधर दौड़ते फिरते हैं उन्हें कर्म का बोध कहाँ? अपनी इंद्रियों और मनोभावों की कठपुतली बना हुआ मनुष्य क्या जानता है कि कर्म क्या है ? कर्म तो वही करता है जिसे इच्छा वा स्वार्थ अपने वश में करके प्रेरित नहीं कर सकते। कर्म वही करता है जो निष्काम है, जिसे

कोई कामना नहीं है। कर्म वह करता है जो कर्म के फल की आकांक्षा नहीं रखता।

चित्र के देखने का आनंद किसे मिलता है—बेचनेवाले को या देखनेवाले को? बेचनेवाला तो अपने लेखे में उलझा रहता है, उसे अपने लाभ की हाय हाय पड़ी रहती है, वह इस चिंता में फँसा रहता है कि चित्र के बेचने से मुझे कितना लाभ होगा। उसे इस काम से अवकाश नहीं, वह तो अपनी ही उधेड़बुन में दिन रात फँसा रहता है। वह नीलाम को देखा करता है। उसकी बोलियों को गिनता रहता है। वह यही बैठा ताका करता है कि बोली बोलनेवाले कितने शीघ्र शीघ्र दाम लगाते हैं। चित्र के देखने का आनंद उसी को मिलता है जो चितेरे की दूकान पर बिना लेने देने के विचार के जाता है। वही चित्र को भली भाँति देखता है और उसी को देखने का सुख मिलता है। इसी प्रकार यह सारा जगत एक चित्र है और जब मनुष्य की सारी इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं तब उसे संसार का आनंद मिलता है; उसी समय उसके लेन-देन, क्रय-विक्रय, के सारे भाव जाते रहते हैं, यह मेरा है, यह तेरा है, इस ममता का नाश हो जाता है। साहु जी गए, गाहक गए, बेचनेवाला दूकानदार जाता रहा, अब यह जगत केवल चित्र, सुंदर आलेख मात्र, रह गया। मुझे तो ईश्वर के संबंध में इससे अधिक सुंदर भाव कहीं और देखने में आया ही नहीं—ईश्वर कवि है, आदि कवि, सारा विश्व उसका काव्य है।

उसे उसने सुंदर यमक और लय युक्त पद्यों में अप्रमेय आनंद के अक्षरों में लिखा है । जब हमसे इच्छा छूट जायगी तभी इस विश्वरूप ईश्वर के महाकाव्य को पढ़ सकेंगे और उससे आनंद उठा सकेंगे। तभी सब ब्रह्ममय देख पड़ेगा। कोने, अंतरे, गली, कूचे, जिन्हें हम अंधियारे और अपवित्र समझते थे, उजियाले देख पड़ेंगे। सब अपने विशुद्ध रूप से प्रगट होंगे, हमें अपने आप पर हँसी आवेगी, जान पड़ेगा कि हमारा यह सब रोना कलपना लड़कों का खेल था और हम सारा दृश्य अलग खड़े देख रहे थे।

वेदांत कहता है कि अपना कर्म करो। उसका पहला उपदेश है कि त्यागपूर्वक, अर्थात् संसार के भ्रम को जैसा वह भासित होता है त्यागकर, तब कर्म करो। इसका आशय क्या है, अर्थात् ईश्वर को सर्वत्र देखते हुए। इस प्रकार अपना कर्म करो। सौ वर्ष जीने की इच्छा रखो। सांसारिक अभिलाषा, मन में आवे तो, रखो; केवल ईश्वर को सबमें देखो और उन्हें स्वर्गमय बनाओ। दूसरों का उपकार करते हुए दीर्घ जीवन की इच्छा करो—आनंद के जीवन की और कर्मण्यता के जीवन की इच्छा करो। इस प्रकार कर्म करते तुम कर्म के बंधन से असंस्पृष्ट रहोगे, निकलने की राह मिल जायगी। दूसरा कोई मार्ग नहीं है। यदि कोई मनुष्य बिना सत्य ज्ञान प्राप्त किए सिर के बल आनंद सुखभोग के गड्ढे में गिरा तो समझो उसके पैर उखड़ गए, वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। यदि कोई संसार को कोसता है,

भाग के जंगल में जाता है, अपनी देह सुखाता है और शनैः शनैः उपवास करके अपने प्राण देता है; अपना मन उदासीन, हृदय शुष्क करता है, अपनी सारी मनोवृत्तियों और चेतनता को नष्ट करता है और केवल शुष्क, जड़ पंजर मात्र स्थाणुवत् बन जाता है तो वह भी अपने मार्ग से भटका हुआ है। ये ही दोनों अंत हैं और दो भूलें हैं जो एक एक कोने पर हैं। दोनों अपना मार्ग भूले हैं, दोनों परमावधि को न पावेंगे।

वेदांत का उपदेश है कि ईश्वर की सबमें भावना करके और उसे सब में व्याप्त जानते हुए कर्म करो। लगातार अविरत कर्म करते रहो, अपने जीवन को ब्रह्ममय बनाते हुए और यह जानते हुए कि यही हमारा कर्तव्य है, यही हमारी परम आकांक्षा है। ईश्वर सब में रम रहा है, हम उसे और कहाँ ढूँढ़ें? वही सब कर्मों में, सब विचारों में, सब ज्ञानों और वेदनाओं में व्याप्त हो रहा है। इस प्रकार जानते हुए हम कर्म करें। यही मार्ग है, दूसरा और मार्ग नहीं है। कर्मों का फल हमें न बाँध सकेगा। हम यह देख चुके कि हमारी मिथ्या इच्छाएँ ही हमारे उन सारे दुःखों और क्लेशों की मूल है जिनसे हम दुःखी हो रहे हैं। पर जब हमें यह ज्ञान उत्पन्न हो जायगा कि ईश्वर सबमें व्याप्त हो रहा है तो वेही ईश्वर के अनुग्रह से पवित्र होकर कल्याणकारिणी हो जायँगी, दुःखदायक न रहेंगी। जिन्हें इस रहस्य का बोध नहीं है वे इस आसुरी जगत्, दुःख सागर, में पड़े डूबा उतराया करेंगे, जब तक कि उन्हें तत्त्वज्ञान न होगा। बहुतों को इसका ज्ञान ही नहीं है कि उनमें,

संसार भर में, सर्वत्र, अप्रमेय आनंद की खानि दबी पड़ी है, उन्हें उसका अभी पता नहीं है। आसुरी जगत् कौन सा है? वेदांत कहता है कि अज्ञान ही आसुरी जगत् है।

हम महानदी के किनारे बैठे हुए भी प्यासे मर रहे हैं। हम भूखे प्राण दे रहे हैं, हमारे सामने व्यंजनों का ढेर लगा है। संसार आनंदमय है पर उसका हमें बोध नहीं है। हम सदा उसी में रहते हैं और फिर भी हमें उसका ज्ञान नहीं है। धर्म यह कहता है कि तुम्हारे लिये हम उसको ढूँढ़ देते हैं। इस आनंद के लोक की आकांक्षा सबके मन में है। सारी जातियाँ इसी की खोज में रही हैं, धर्म की यही परमावधि है, और भिन्न भिन्न धर्मों ने इसी उद्देश को भिन्न भिन्न शब्दों और भाषाओं में प्रगट किया है। यह केवल भाषा और शब्दों का भेद है कि इतना अंतर पड़ गया दिखाई देता है; एक उसी भाव को एक प्रकार से व्यक्त करता है, दूसरा उसी को दूसरे प्रकार से; पर एक का भाव कदाचित् वही है जिसे दूसरे और प्रकार से कह रहे हैं।

इस विषय में अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। कोरी बातें करना बहुत सुगम है। मैं बचपन से यह सुनता आता हूँ कि ईश्वर को सब जगह और सबमें देखो तब संसार का सच्चा सुख मिल सकता है, पर ज्योंही मैं संसार के कामों में लगा और दो चार ठोकरें लगीं कि सारी बातें भूल गईं। मैं सड़क पर जा रहा हूँ, यह समझता हुआ कि ईश्वर सब में है, एक प्रचंड पुरुष आकर मुझे एक धक्का लगाता है और मैं चित

गिरता हूँ। मैं झट भूमि से उठता हूँ और आस्तीन चढ़ाता हूँ। मेरे सिर में खून चढ़ गया है; विचार भूल गया है। मैं उसी दम आपे से बाहर हो जाता हूँ। सब बातें भूल जाती हैं, ईश्वर के स्थान में मुझे पिशाच देख पड़ता है। जब से मेरा जन्म हुआ मुझे यह शिक्षा दी गई थी कि ईश्वर को सबमें देखो; सब धर्मों की यही शिक्षा है कि ईश्वर को सब जगह और सबमें व्यापक देखो। आपको क्या स्मरण नहीं है कि नई धर्मपुस्तक में ईसामसीह ने यही कहा है? हम सबों को यही शिक्षा मिली है पर जब हम व्यवहार दशा में आते हैं तो वहाँ अड़चनें पड़ने लगती हैं। आपको स्मरण होगा कि ईसप नीति में लिखा है कि एक बारहसिंघा अपनी छाया को एक झील में देख कर अपने बच्चों से कहता था कि 'मैं कैसा प्रबल हूँ, मेरे सिर की ओर तो तनिक देखो, मेरे शरीर को तो देखो कैसा दृढ़ और पुष्ट है, मैं कितने वेग से दौड़ सकता हूँ'। वह कह ही रहा था कि कुत्तों के भूँकने का शब्द सुनाई पड़ा। वह सुनते ही भागा और कई मील का चक्कर लगा कर हाँपता हुआ अपनी गोल में आया। उसे देख बच्चों ने कहा, 'आप तो अभी बड़ी बड़ी डींग मार रहे थे पर कुत्तों की बोली सुनते ही भागे क्यों, उसने उत्तर दिया कि बात तो ठीक थी पर क्या करूँ, कुत्तों की बोली सुनते ही मेरा सारा विश्वास जाता रहता है। यही दशा हमारी है। हम मनुष्य भी बड़ी बड़ी बातें बढ़ बढ़ कर करते हैं, अपने को बड़ा प्रबल और पराक्रमी समझते हैं, बड़े बड़े व्यवसाय सोचते हैं,

पर जब राग और द्वेष के, जाँच और कठिनाई के, कुत्ते भूँकते हैं तब हमारी वही दशा होती है जो बारहसिंघे की हुई थी। पर अंत को यही बात होती है तो इन बातों की शिक्षा देने से क्या लाभ है ? इससे बड़ा लाभ है। लाभ यह है कि लगातार लगे रहने से अंत में काम बनेगा, सततामियोग की विजय होती है। एक दिन में कोई काम नहीं हो सकता।

कहा है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' अर्थात् आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, फिर मनन करना चाहिए और तब उसका ध्यान वा निदिध्यासन करना चाहिए। आकाश को सब देखते हैं, इसमें संदेह नहीं, उसे भूमि पर रेंगनेवाला कीड़ा भी देखता है पर वह है कितनी दूर। यही हमारे आदर्श की दशा है। इसमें संदेह नहीं कि वह है तो बहुत दूर, पर इसके साथ ही हमें यह भी निश्चय है कि हमें वह चाहिए अवश्य। हमें उच्चतम आदर्श रखना चाहिए। दुःख की बात है कि इस जीवन में अधिकांश लोग अंधेरे में बिना किसी आदर्श के इधर उधर ठोकरें खाते फिर रहे हैं। यदि आदर्शवाला मनुष्य एक हज़ार भूलें करेगा तो मुझे विश्वास है कि आदर्शहीन पुरुष पचास हजार भूलें करेगा। अतः आदर्श का रखना ही श्रेय है। और इस आदर्श के विषय में हम जितना ही सुनें अच्छा है, यहाँ तक कि हमारे अंतःकरण के कोने अंतरे उससे भर जाँय, हमारे मस्तिष्क में, हमारी नस नस में, केवल वही भर जाय और हमारे रक्त की एक एक बूँद में

श्रौर शरीर के एक एक रंध्र में सिवाय उसके श्रौर कुछ न रहे, रोम रोम में वही भर उठे। तब हम उसका निदिध्यासन अवश्य करेंगे। जो मन में भरा होता है, वही मन से निकलता है, जो मन में भरा रहता है वही हाथों से कर्मरूप में प्रगट होता है।

यह विचार वा मन का प्रभाव ही है जो हमें प्रोत्साहित कर रहा है। मन को उत्तम विचारों से भर दो, उसे नित्य श्रवण करते रहो श्रौर मास मास मनन करते रहो। असफलताओं को ध्यान में न लाओ; असफलता स्वाभाविक बात है, वह जीवन का सौंदर्य्य है। जीवन उनके बिना किस काम का होगा? वह किसी काम का नहीं है यदि उसमें उलझनें न पड़ें, बिना उनके जीवन की कविता कहाँ? उलझनों श्रौर पराजयों को भूलो, उनकी परवाह कभी न करो। मैंने किसी पशु को झूठ बोलते नहीं देखा, पर वह पशु ही बना रहता है। कभी मनुष्य नहीं हो जाता। अतः इन असफलताओं, इस तनिक से पाँव फिसलने, की परवाह मत करो, यदि सहस्र बार असफलता हो तो सहस्र बार आपने आदर्श पर दृढ़ रहो श्रौर उस तक पहुँचने का प्रयत्न करते रहो। सहस्र बार अपने आदर्श को खिया श्रौर सहस्रों बार असफलता हुई तो इससे क्या! एक बार श्रौर प्रयत्न करो; साहस न छोड़ो। मनुष्य का आदर्श है ईश्वर को सब में देखना। यदि आप उसे सब में नहीं देख सकते तो एक ही में देखिए, जो कोई बात तुम्हें अच्छी लगे उसी में देखिए श्रौर धीरे धीरे दूसरे में देखने का प्रयत्न कीजिए। इस प्रकार

आगे आगे बढ़ने का प्रयत्न करते जाइए। आत्मा के आगे अनंत जीवन है। अपना समय मत खोइए, प्रयत्न करते जाइए, आपका मनोरथ सफल होगा।

जिसकी गति मन से बहुत तेज है, जो मन से भी शीघ्रगामी है, जिसे देवता भी नहीं पकड़ सकते और न बुद्धि जिस तक पहुँच सकती है उसी की गति से दूसरे गति करते हैं। उसी में सब स्थित हैं। वही गति करता है, वही अचल है, वह पास है, वही दूर है, वह सबके भीतर है, वही सब के बाहर है। वही सब में व्याप्त है। जो उस आत्मा को सब में देखता है और सबको उस आत्मा में देखता है वह उस आत्मा से कभी दूर नहीं होता। जब सारा जीवन सारा विश्व इस आत्मा में दिखाई पड़ता है तभी जानो कि मनुष्य को सारा भेद प्रगट हो गया। उसके लिये फिर कोई भ्रम नहीं है। जिसे विश्व में यह एकत्व देखाई पड़ता है उसे मोह कहाँ, और शोक कहाँ ?

यही जीवन की एकता, यही सब की एकता वेदांत का दूसरा प्रधान विषय है। हमें यह आगे चल कर दिखाई पड़ेगा कि इसी से यह कैसे सिद्ध होता है कि हमारे सारे दुःख अविद्या के कारण हैं, वह अविद्या इसी बहुत्व के भेदभाव का नाम है, अर्थात् मनुष्य मनुष्य में, जाति जाति में, पृथ्वी चंद्रमा में, सूर्य चंद्र में अंतर का नाम अविद्या है। इसी अणु अणु के भेद से यह सारा दुःख है। पर वेदांत कहता है कि यह भेद है ही नहीं— यह भेद वास्तविक नहीं है। यह केवल दिखावे का है, बाहरी

है। सब पदार्थों के बीच फिर भी एकता ही है। यदि आप गोता लगा कर देखिए तो मनुष्य मनुष्य में, जाति जाति में, ऊँच नीच में, धनी गरीब में, देवता मनुष्य में, मनुष्य पशु में, सर्वत्र एकता ही एकता मिलेगी। यदि आप और गहरे पानी में पैठें तो सब केवल एक ही के भेद मात्र देख पड़ेंगे और जिसे इस एकत्व का ज्ञान होगया है उसे भ्रम कहाँ ? कोई भ्रम नहीं है। कौन उसे भ्रम में डालेगा ? उसे तो सब का तत्त्वज्ञान है, वह सब के रहस्य को जान गया है। उसे फिर दुःख कहाँ ? उसे इच्छा किसकी ? वह सबकी सत्ता ईश्वर में समझता है जो सबकी एकता का केंद्र है और वही सत् चित् और आनंद है। वहाँ न मृत्यु है, न व्याधि है, न दुःख है और न शोक है। परमैकत्व परमानंद है। फिर वह किसके लिये झंखे ? परमार्थ में मृत्यु तो कुछ है ही नहीं, दुःख का कहीं पता नहीं; परमार्थ में किसी की चिंता नहीं, किसी का दुःख नहीं। वह विशुद्ध, अरूप, अशरीरी, निर्मल, सबका ज्ञाता, कवि, नित्य, स्वयंभु, सबमें रम रहा है; वही सबको यथायोग्य देता है। जो इस अंधकार जगत् की उपासना करते हैं, इस संसार को जो अज्ञान वा अविद्या से उत्पन्न होता है यह समझते हुए कि यह वास्तविक वा सत् है, अंधकार में भटकते फिरते हैं, और वे लोग जिन्हें संसार में सारा जन्म बिताने पर कुछ उत्कृष्ट वस्तु हाथ नहीं आती वे उससे भी अधिक अंधकार में भटकते फिरते हैं। पर जिसे प्रकृति के रहस्य का बोध है, जो प्रकृति की

सहायता से उसे प्रकृति के परे है देखता है वही मृत्यु के पार जाता है और जो प्रकृति से परे है उसकी सहायता से उसी को परमानंद लाभ होता है।

हे सूर्य्य भगवान्, आप सत्य को अपने सोने के पात्र से ढके हुए हैं, उसे उठा लीजिए कि हम आपके भीतर जो सत्य है उसे देख सकें। मैंने उस सत्य को जो आप में है जान लिया है, मुझे आपकी किरणों और आपके महत्व के वास्तविक सत्यार्थ का ज्ञान हो गया है और मैंने उसे देख लिया है जो आप में प्रकाशमान है; आप में जो सत्य है उसे मैं देखता हूँ और जो आप में है वही मुझ में है और मैं वही हूँ।

---

(८) साक्षात्कार।

मैं आपको एक अति सरल किंतु बहुत ही काव्यालंकारयुक्त उपनिषद् की कथा सुनाता हूँ। उस उपनिषद् का नाम कठोपनिषद् है। आप लोगों में कितनों ने सर एड्विन आर्नल्ड साहब के 'मृत्यु का रहस्य' नामक ग्रंथ को संभवतः देखा होगा जो इसी उपनिषद् का अनुवाद है। गत व्याख्यान में हम यह देख चुके हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति और विश्वविधान की जिज्ञासा का कोई संतोषजनक समाधान बाह्य जगत् से किस प्रकार नहीं मिल सका और फिर किस प्रकार आंतरिक जगत् में जिज्ञासा प्रारंभ करनी पड़ी। इस पुस्तक में वही प्रस्ताव आध्यात्मिक रीति से

उठाया गया है और आत्मा के अतिरिक्त धर्मों की जिज्ञासा की गई है। पहले यह प्रश्न हुआ था कि इस बाह्य वा स्थूल जगत् की सृष्टि किसने की और यह कैसे प्रगट हुआ। अब प्रश्न यह होता है कि मनुष्य में वह कौन पदार्थ है जिसके कारण वह जीता है, चलता फिरता है और उसके मरने पर उसका हो क्या जाता है। पहले दार्शनिकों ने भौतिक पदार्थों की छान बीन करना प्रारंभ किया और उससे परिणाम निकालने की चेष्टा की, अंत को जाते जाते उनको पता चला तो एक पुरुष-विशेष ईश्वर का पता चला जो इस विश्व का शासक और विराट पुरुष था, पर वह सर्वथा और सर्वतोभावेन मनुष्य ही था। पर यही एकमात्र कुल सत्य न था, वह केवल एकदेशी सत्य ठहर सकता था। हम इस विश्व को पुरुषाकार से देखते हैं और हमारा ईश्वर भी तो हमारा इस विश्व का मानव समाधान है।

मान लो कि बैल भी तत्त्वज्ञानी होते और उनका भी कोई धर्म होता तो उनको विश्व वृषभाकार दीखता, वे इस प्रश्न की समस्या वृषभरूप में ही हल करते और ईश्वर को वे वृषभाकार ही समझते। यह कदापि संभव नहीं था कि वे हमारे ईश्वर को देख सकते। इसी प्रकार बिल्ली भी यदि तत्त्वज्ञानी होती तो उसे विश्व बिडालाकार दिखाई पड़ता। वह विश्वपहेली का उत्तर बिडालाकार ही में बूझती और उसे उसका शासक भी बिल्ली ही देख पड़ती। इस प्रकार हमें यह देख पड़ता है कि हमारा विश्व का विवेचन पूरा समाधान नहीं है। और न तो हमारा

भाव ही सारे विश्व के लिये व्यापक माना जा सकता है। यह कितना प्रमाद हो कि उस घोर स्वार्थमय पक्षाभास को स्वीकार कर लिया जाय जिसे मानने की मनुष्य की प्रवृत्ति है। विश्व के निदान के समाधान में जो हमें स्थूल जगत् से उपलब्ध होता है यही कठि-नाई आकर पड़ जाती है कि पहले तो वह विश्व जिसे हम देखते हैं हमारा एक विशिष्ट और अव्यापक विश्व है; सत्ता के विषय में हमारा निज का ही विचार है। उस सत्ता का ज्ञान हमें इंद्रियों द्वारा हो नहीं सकता, हमें उसका बोध नहीं हो सकता। हमें विश्व का ज्ञान जो होता है वह केवल पांच इंद्रियों ही के आधार पर होता है। मान लीजिए कि हमें एक और इंद्रिय मिल जाय, तब तो सारा विश्व हमारे लिये कुछ से कुछ हो जायगा। मान लीजिए कि हम में एक आकर्षक (मक़नातीसी) इंद्रिय होती तबतो हमें विश्व में कोट्यानुकोटि शक्तियों का बोध होता जिनका हमें अभी ज्ञान तक नहीं और जिनके जानने के लिये हममें इंद्रियाँ या संवेदना ही नहीं हैं। हमारी इंद्रियाँ परिमित हैं—और सचमुच बहुत ही परिमित हैं, और हमारा विश्व उसी सीमा वा परिमितता के भीतर ही है। उसी विश्व संबंधी प्रश्न का समाधानरूप हमारा ईश्वर है। सारी समस्याओं का समाधान इतना सा ही तो नहीं हो सकता। पर मनुष्य यहीं तक नहीं रह जाता। वह मननशील प्राणी है और ऐसे समाधान की खोज निकालने का प्रयत्न करता है जिससे समस्त विश्व की समस्याओं का स्पष्टीकरण हो जाय। वह एक ऐसे विश्व को देखना चाहता है जो मनुष्यों का,

देवताओं का और अन्य सब संभाव्य प्राणियों का विश्व हो, और ऐसे समाधान के प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिससे सारे दृश्य विषयों का स्पष्टीकरण हो जाय।

हम देखते हैं कि पहले इस बात की आवश्यकता है कि ऐसे विश्व की खोज करें जिसमें सारे विश्व समवेत हों; फिर हम एक ऐसे पदार्थ को खोज निकालें जो स्वयं परमतत्त्व हो और सत्ता की सारी भूमियों में व्याप्त हो, चाहे उसका ज्ञान हमें इंद्रियों से हो सकता हो वा न हो सकता हो। यदि हमें किसी ऐसे पदार्थ का पता लग जाय जो सब ऊँच नीच सब विश्वों में एकरस समानरूप से व्यापक हो तब तो हमारा काम निकल गया, हमारी समस्या का समाधान हो गया। यदि हम तर्क और युक्ति से ही निश्चय कर सकें कि सारी सत्ताओं का एक परमतत्त्व ही आधार होना चाहिए तब भी सारा झमेला दूर हुआ और हमारे प्रश्न का कुछ न कुछ समाधान हो गया। पर स्मरण रहे कि इस जगत् के द्वारा जिसे हम देखते और जानते हैं ऐसा समाधान हो नहीं सकता, कारण यह है कि यह संपूर्ण जगत् का एक दृश्य अंश मात्र है।

हमें समाधान की आशा तभी करनी चाहिए जब हम और गहरे पैठें। प्राचीन ऋषियों को यह पता चला कि केंद्र से जितना दूर रहें विभेद उतना ह्यअधिक जान पड़ता है और जितना ही उसके पास पहुँचते जायँ उतनी ही अधिक एकता मिलती है। जितना ही हम किसी परिधि के केंद्र के पास पहुँचते

हैं उतना ही हम उस स्थान के समीप पहुँचते हैं जहाँ त्रिज्याओं का मेल होता है और जितना ही हम केंद्र से दूर होते हैं उतना ही त्रिज्याओं में परस्पर भेद और अंतर बढ़ता जाता है। यह बाह्य जगत् केंद्र से बहुत दूर है, अतः यहाँ कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ सारी सत्ता की घटनाएँ एकीभूत देख पड़ें। बहुत हुआ तो यह बाह्य जगत् का कुल दृश्य केवल एक अंश मात्र है। इसके अन्य भी अंश हैं जैसे आध्यात्मिक, धार्मिक, मानसिक इत्यादि, जो नाना प्रकार की सत्ता की भूमियाँ हैं; और केवल एक को लेकर उसी के आधार पर सारी की सारी भूमियों के लिये समाधान चाहना बालू पर भीत बनाना है। सब से पहले हमारे लिये आवश्यक है कि हम ऐसे केंद्र को ढूँढ़ें जहाँ से सत्ता की सारी भूमियाँ त्रिज्याओं की भाँति इधर उधर निकल कर फैली हैं और तब उसी केंद्र पर खड़े होकर समाधान की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करें। यही समस्या है। ऐसा केंद्र है कहाँ ? वह हमी में है। हमारे ही अंतःकरण में है। प्राचीन ऋषि उसके पाने के लिये गहरे घुसते गए और अंत को उन्हें जान पड़ा कि मनुष्य की आत्मा के भीतर ही सारे विश्व का केंद्र है। सारी भूमियाँ उसी केंद्र पर आकर्षित होती हैं। वह सब के मिलने का स्थान है। वहीं खड़े होने से हमें सबका एक समाधान मिल सकता है। अतः यह प्रश्न कि इस जगत् को किस ने बनाया बहुत तत्वज्ञान का नहीं है और न इसका समाधान ही बहुत प्रयोजनीय है।

येही बातें कठोपनिषद में अलंकार रूप से वर्णन की गई हैं। प्राचीन काल में एक बहुत संपन्न पुरुष था, उसने सर्ववेदस नामक यज्ञ किया था। उस यज्ञ में सर्वस्व का दान करना पड़ता है। वह पुरुष निर्व्याज नहीं था। वह केवल यज्ञ करने के यश और महत्त्व का भूखा था पर वह दान में ऐसी चीजों को दे रहा था जो निकम्मी थीं, जैसे बूढ़ी, ठांठ और अंधी लंगड़ी गायें। उसके एक लड़का था जिसका नाम नचिकेता था। उसने देखा कि मेरा बाप उचित नहीं कर रहा है और अपनी प्रतिज्ञा भंग कर रहा है, पर वह इस चक्कर में था कि कहूं तो क्या कहूं। भारतवर्ष में लड़कों के लिये माता पिता मूर्तिमान देवता हैं। अतः लड़का अपने पिता से जाकर बड़ी नम्रता से बोला कि 'पिता जी आप मुझे किसे देते हैं ?' क्योंकि इस यज्ञ में तो सब कुछ का दान हो जाना चाहिए। बाप लड़के की यह बात सुन कर बहुत घबराया और पूछने लगा कि 'बेटा तुम्हारा इससे तात्पर्य क्या है ?' पिता अपने पुत्र को दान कर दे ! लड़के ने वही प्रश्न, दूसरी और तीसरी बार किया; फिर तो पिता को क्रोध आ गया और उसने कहा कि 'मैं तुझे मृत्यु (यम)को देता हूं।' कथा इस प्रकार की है कि बालक यम के पास गया। यम पहला मनुष्य था जो मरा था। वह मर कर स्वर्ग में गया और वहां पितरों का राजा हुआ था। सब सुकर्मी लोग जो मरते हैं वहां जाकर उसके पास बहुत दिनों तक रहते हैं। वह बड़ा ही शुद्ध और पवित्र, आचारवान और सज्जन है।

उसका नाम यम इस बात की साची दे रहा है। अतः वह बालक यम-लोक चला गया। पर देवता लोग भी कभी कभी अपने घर पर नहीं रहा करते; इसी लिये उस बालक को तीन दिन तक यमराज की प्रतीचा करनी पड़ी। तीसरे दिन यमराज लौट कर घर आए।

यमराज ने कहा कि 'हे विद्वन्, आप हमारे पूज्य अतिथि हैं आप तीन दिन तक मेरी प्रतीचा में अनाहार रहे। हे ब्राह्मण, आपको नमस्कार है, मेरा कल्याण कीजिए। मुझे दुःख है कि मैं घर पर न था। इसलिये मैं प्रायश्चित्त करूँगा। आप मुझसे तीन वर, एक एक दिन के लिये एक एक वर, माँगिए।' बालक ने कहा कि पहला वर तो मैं यही माँगता हूँ कि मेरे बाप का क्रोध शांत हो जाय और वह मेरे अनुकूल हो जाय तब जब आप मुझे यहाँ से विदा करें तो जाने पर वह मुझे पहचान ले। यमराज ने इसे स्वीकार कर लिया। दूसरा वर उसने यह माँगा कि आप मुझे कोई ऐसा यज्ञ बतलाइए जिसके करने से मनुष्य स्वर्ग लोक जावे। हम यह देख चुके हैं कि सब से प्राचीन बात जो वेदों की संहिताओं में मिलती है यह है कि कहीं पर स्वर्ग है जहाँ लोग दिव्य शरीर धारण करके पितरों के साथ आनंदपूर्वक रहते हैं। धीरे धीरे दूसरे भाव आते गए, उनसे भी लोगों को संतोष न हुआ और अन्य उच्च भावों के लिये जिज्ञासा होती गई। स्वर्ग में रहना कुछ सांसारिक जीवन से बहुत विलचण नहीं जान पड़ने लगा। संभवतः

वह एक नीरोग, संपन्न पुरुष का जीवन मात्र था जिसके पास सुख भोग की सारी सामग्री विद्यमान हो और जिसके शरीर में किसी रोग और व्याधि की छुआछूत न हो। वह केवल सांसारिक जीवन मात्र था, केवल उस से तनिक सा उत्कृष्ट था। हम यह भी देख चुके हैं कि इस भौतिक संसार से हमारी शंकाओं का समाधान नहीं होता, उसमें कितनी कठिनाई पड़ जाती है। अत: किसी प्रकार के स्वर्ग से भी उसका समाधान होना कठिन है। यदि इस संसार में हमारे प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता तो इस संसार के सुखों को कई गुणा करने से भी समाधान होना कठिन ही है, क्योंकि यह हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि पांचभौतिक जगत् प्राकृतिक दृश्यों का केवल अंशमात्र है। दृश्यों का अधिकांश जिनका हमें सचमुच बोध होता है, भौतिक नहीं है।

उदाहरण के लिये देखिए कि हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में हमारी बुद्धि और इंद्रियाँ जगत् के भौतिक दृश्यों की अपेक्षा कितना अधिक काम करती हैं। आंतरिक जगत् और उसके अद्भुत और महत् कर्म कितने अधिक हैं। इंद्रिय संबंधी दृश्य उनकी अपेक्षा कितने कम हैं। स्वर्ग को ही समाधान समझने में यही भूल पड़ती है कि रूप रस गंध स्पर्शादि ही सब कुछ हैं और इस प्रकार स्वर्ग से पूरा संतोष जैसा चाहिए नहीं होता है। पर फिर भी नचिकेता ने दूसरे वर में ऐसे यज्ञ का ज्ञान माँगा जिस से लोग स्वर्ग जा सकें। वेदों में यह बात थी कि यज्ञ

करने से देवता प्रसन्न होते हैं और यज्ञ करनेवाला स्वर्ग पहुँच जाता है।

सब धर्मों के अध्ययन करने से आप को जान पड़ेगा कि जो बात पुरानी होती है वही पवित्र मानी जाती है। उदाहरण के लिये देखिए हमारे बाप दादे भारतवर्ष में पहले भोजपत्र पर लिखा करते थे, पीछे उन्हें कागज बनाने की विधि का ज्ञान हुआ। फिर भी भोजपत्र अब भी पवित्र माना जाता है। जब उन बर्तनों के बनाने में जिनमें पहले लोग खाना पकाया करते थे पीछे उन्नति हुई तो पुराने ढांचे के बर्तन पवित्र माने जाने लगे। ये बातें जितनी भारतवर्ष में प्रचलित हैं उतनी किसी और देश में नहीं हैं। प्राचीन प्रथाओं का, जैसे अरणी से मथ कर आग निकालना, जिनका प्रचार नौ दस हज़ार वर्ष पहले था, अब तक वहाँ ज्यों का त्यों उनका प्रचार है। यज्ञों के समय सिवाय अरणी की आग के दूसरी आग का व्यवहार नहीं होता है। यह अवस्था एशियाखंड की अन्य आर्य्य जातियों की भी है। उनकी वर्तमान संतान अब तक विद्युत से आग प्राप्त करना अच्छा समझती है जिससे यह स्पष्ट प्रगट होता है कि पहले लोग इस प्रकार से आग प्रगट किया करते थे। अन्य प्रथाओं का अवलंबन करने पर भी प्राचीन प्रथाएँ अब तक उनमें जागृत हैं और पवित्र मानी जाती हैं। यही अवस्था यहूदियों की भी है। वे लोग चरसे पर लिखा करते थे। अब वे कागज पर लिखते हैं, पर चरसे को पवित्र समझते हैं। यह

अवस्था सब जातियों की है। सारी रीतियाँ जिन्हें आज आप पवित्र समझ रहे हैं केवल प्राचीन काल की प्रचलित प्रथाएँ हैं। वैदिक यज्ञ भी इसी प्रकार का था। पीछे के काल में आर्यों का रहन सहन बदल गया, बहुत कुछ समुन्नत हो गया, उनके विचारों में बहुत उन्नति हुई, फिर भी प्राचीन प्रथाएँ रह गईं। समय समय पर उनके अनुसार यज्ञादि कृत्य किए जाते थे और उनका बड़ा मान था।

फिर कुछ लोगों ने यज्ञ का व्यवसाय प्रारंभ किया। ये लोग ब्राह्मण वा पुरोहित थे। उन लोगों ने यज्ञों पर मनन किया और यज्ञ ही उनका सर्वस्व था। देवता लोग यज्ञ की वास लेने आते थे और यह माना गया था कि संसार के सभी कुछ ऐश्वर्य्य यज्ञों से प्राप्त हो सकते थे। यदि अमुक यज्ञ किया जाय, अमुक सूक्त का पाठ हो, अमुक साम गाया जाय और अमुक आकार की यज्ञवेदी बनाई जाय तो देवता लोग प्रसन्न होकर यथेच्छ फल देंगे। अतः नचिकेता ने यह प्रश्न किया कि किस प्रकार के यज्ञ से मनुष्य स्वर्ग लोक जा सकता है। यह दूसरा वर भी उसे यमराज जी ने दे दिया और आशीर्वाद दिया कि यह यज्ञ आज से नचिकेता के नाम से प्रसिद्ध हो।

अब तीसरे वर से ही उपनिषद् के मुख्य अंश का प्रारंभ है। लड़के ने कहा, 'कि इस बात में बड़ी कठिनाई पड़ती है कि जब कोई मर जाता है तो कुछ लोग तो कहते हैं कि वह है और कुछ लोग कहते हैं कि वह नहीं है। मैं आपकी कृपा से इस

भेद को समझना चाहता हूँ'। यम इससे डर गया। उसने पहले दोनों वरों को तो बड़ी प्रसन्नता से दिया था। पर अब उसने कहा कि "पूर्व काल में देवता लोग भी इस विषय पर चकरा गए थे। यह सूक्ष्म रहस्य जानना सहल नहीं है। हे नचिकेता कोई और वर माँगो और मुझे इस के लिये दबाओ मत, मेरा पिंड छोड़ दो।"

लड़के ने तो अपने मन में ठान ली थी, वह बोला 'जो आप कहते हैं सत्य है। हे मृत्यु, इस पर देवताओं को भी अवश्य शंका हुई होगी, यह सुगम बात नहीं है। पर मुझे आप ऐसा दूसरा समझानेवाला कहाँ मिले, और ऐसा उत्तम प्रश्न दूसरा है कौन ?'

मृत्यु ने कहा—सौ वर्ष जीनेवाले पुत्र पौत्र, बहुत से पशु, हाथी, सुवर्ण और घोड़े ले लो। पृथ्वी का राज्य और जहाँ तक चाहो दीर्घायु होना माँगो। या और दूसरे ऐसे ही वर जो चाहो माँग लो, विशाल पृथ्वी का राज्य लो, धन लो, चिरायु लो। हे नचिकेता मैं तुम्हें सब सुख भोग दूँगा। उन सब कामनाओं को जो संसार में मिलनी कठिन हैं माँगो। दिव्य स्त्रियाँ, रथ और संगीत जो मनुष्यों को दुर्लभ हैं तुम्हारे लिये हों। वे तुम्हारी सेवा के लिये हैं, पर हे नचिकेता, यह प्रश्न मुझसे मत करो कि मरने पर क्या होता है।

नचिकेता ने कहा कि ये सब केवल एक दिन के लिये हैं। हे मृत्यु, इनसे इंद्रियों की शक्ति चीण हो जाती है। बड़े से बड़ा

जीवन भी लघु ही है। ये घोड़े, रथ, गीत, वाद्य, सब आप ही के लिये रहें। मनुष्य को धन से तृप्ति नहीं होती। क्या वह धनैश्वर्य्य आपके दर्शन होने पर बना रह सकता है? हम लोग तो जब तक आपकी इच्छा होगी तभी तक जी सकेंगे। मैंने तो केवल वही वर चुन लिया है।

यम इस बात से बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि 'श्रेय और है और प्रेय और है। इन दोनों का परस्पर विरुद्ध परिणाम है और ये मनुष्य को भिन्न भिन्न रीति से आकर्षित करते हैं। जो श्रेय की कामना करते हैं वे पवित्र होते हैं। जो प्रेय की चाहना रखते हैं वे सच्चे उद्देश से भटक जाते हैं। दोनों श्रेय और प्रेय मनुष्यों के सामने हैं, विद्वान् दोनों को परखते और उन में विवेक करते हैं। वे श्रेय को प्रेय से उत्तम समझ कर ग्रहण करते हैं, पर मूर्ख प्रेय को ही अपने सुख भोग के लिये उत्तम समझते हैं। हे नचिकेता, तुम प्रिय पदार्थों की बाह्य प्रलोभनाओं से मुग्ध नहीं हुए और समझ बूझ कर तुमने उनका परित्याग किया।' फिर मृत्यु ने नचिकेता को उपदेश देना प्रारंभ किया।

यहाँ त्याग और वैदिक धर्म का बहुत उच्च भाव मिलता है कि जब तक कोई सुख भोग की कामनाओं पर विजय नहीं पा लेता तब तक सत्य उसपर प्रगट नहीं होता। जब तक सुख भोग की ये व्यर्थ कामनाएँ जागृत रहती हैं, हमें बाहर खींचा करती हैं और क्षण प्रतिक्षण हमें सांसारिक विषयों का दास बनाए

रहती हैं—कभी रूप का, कभी रस का, कभी स्पर्श का,—तब तक सत्य की झलक हम में पड़े तो कैसे पड़े ?

यमराज ने कहा कि जो परे है वह एक अनवधान बालक (अज्ञानी) के सामने जो धन की भूलभुलैयां में पड़ा है कैसे प्रगट हो सकता है। ऐसे लोग तो यही समझते हुए कि 'यही लोक है दूसरा लोक नहीं है' मेरे वश में बार बार आया करते हैं।

इस सत्य का समझना बहुत कठिन है। कितने लोग तो इसे लगातार सुनने पर भी नहीं समझते। कारण यह है कि इसका वक्ता अद्भुत होना चाहिए और श्रोता भी कुशल होना चाहिए। उपदेशक को अद्भुत होना चाहिए और उपदिष्ट को भी। जैसा आचार्य्य वैसाही शिष्य। मति भी तर्क से विचलित न हो, क्योंकि यह तर्क का विषय नहीं है, यह तो जानने का विषय है। हम यह सदा से सुनते आते हैं कि सब धर्मों का यह आग्रह है कि श्रद्धा की जाय और विश्वास किया जाय। हमें अंधविश्वास करने की शिक्षा दीगई है। यह अंधविश्वास की बात अवश्य ही मान्य नहीं है पर इसकी छान बीन करने से यह जान पड़ता है कि इसमें भी कोई गूढ़ रहस्य है, इसके भीतर एक बड़ी सचाई छिपी हुई है। इसका वास्तविक अर्थ वही है जो अभी हम पढ़ रहे हैं। मन का व्यर्थ तर्क और वाद विवाद से विचलित होना अच्छा नहीं है, कारण यह है कि तर्क हमें ईश्वर का ज्ञान कराने में साधक नहीं है। यह जानने की बात है, तर्क की बात नहीं है। सारे तर्क और

अनुमान किसी न किसी प्रत्यक्ष के आधार पर किए जाते हैं। बिना प्रत्यक्ष के तर्क हो ही नहीं सकता। कुछ घटनाओं के साम्य और वैषम्य की तुलना से, जिन्हें हम देख चुके हैं, अनुमान किया जाता है। यदि ये ज्ञात घटनाएँ न हों तो अनुमान हो ही नहीं सकता। यदि यह बात बाह्य दृश्यों के संबंध में ठीक है तो आंतरिक या आभ्यंतर बातों में भी ठीक होगी। रसायनी कुछ पदार्थों को लेता है और उनके संश्लेषण और विश्लेषण से कुछ परिणाम निकालता है। यह सची बात है, आप उसे देखते हैं, प्रत्यक्ष करते हैं और उसे अपनी रसायन संबंधी उपपत्तियों का आधार बनाते हैं। यही दशा भौतिक वैज्ञानिकों की है और यही अन्य विज्ञानवेत्ताओं की है। सारे ज्ञान का आधार कुछ न कुछ बातों का प्रत्यक्ष ही होता है और उसी प्रत्यक्ष के आधार पर हम अनुमान करते हैं। पर सब से विलक्षण बात तो यह है कि बहुत से लोग, विशेषत: आधुनिक समय में, यह समझते हैं कि धर्म के विषय में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता है, धर्म का बोध केवल व्यर्थ तर्क के आधार पर होता है। इसी लिये यह उपदेश है कि व्यर्थ तर्क से मति को विचलित न करना चाहिए। धर्म केवल समझने की बात है, वाद विवाद की बात नहीं है। इसके लिये हमें अपनी आत्मा का मनन करना और उसके भीतर खोजना चाहिए। हमें मनन करके जो जान पड़े उसका निदिध्यास करना चाहिए, उसका साक्षात करना चाहिए, यही धर्म है। कितना ही बको भूँको, उससे धर्म

नहीं बनता। इसी लिये यह कहा गया है कि मति को व्यर्थ तर्क से विचलित न करना चाहिए। अतः यह बात कि कोई ईश्वर है वा नहीं है कभी तर्क द्वारा निश्चित नहीं हो सकती, क्योंकि तर्क तो जैसे एक पक्ष में हो सकता है वैसा ही दूसरे पक्ष में भी किया जा सकता है। यदि ईश्वर है तो हमारे अंतःकरण में है। क्या आपने उसे कभी देखा है ? इस प्रश्न का कि संसार है वा नहीं है आजतक समाधान नहीं हुआ है और सत्तावादियों और शून्यवादियों में विवाद अनंत काल से चला ही आता है जिसका कुछ पार नहीं है। पर फिर भी हम जानते ही हैं कि संसार है और चला आरहा है। हम केवल शब्दों के अर्थों में हेर फेर कर लेते हैं। यों ही जीवन के सभी प्रश्नों में, हमें घूम फिर कर सत्ताओं पर पहुँचना चाहिए। धर्म की कुछ ऐसी भी बातें हैं जिनका बाह्य विज्ञान की बातों की भाँति प्रत्यक्ष हो सकता है और उन्हीं के आधार पर धर्म का संगठन किया जा सकता है। हां यह शुष्क कथन कि तुम धर्म के सभी सिद्धांतों पर अंध विश्वास करो, मनुष्य जाति के अंतःकरण को नीचा करता है। वह पुरुष जो आप से यह कहता है कि आप धर्म की सब बातों पर विश्वास कीजिए, आप अंधकार के गड्ढे में गिरता है और यदि आप उस पर विश्वास करते हैं तो आप को भी साथ लेकर उसी गड्ढे में गिरता है। संसार के बड़े बड़े महर्षियों को केवल यह कहने का अधिकार है कि हमने अपनी आत्मा की खोज की तो हमें ऐसा जान पड़ा, और यदि कोई वैसा

करेगा तो उसे भी वैसा ही जान पड़ेगा, पर बिना खोज किए हमें कदापि विश्वास न होगा। बस, धर्म में यही बात है। पर आप यह सदा स्मरण रखिए कि जो लोग धर्म के ऊपर आक्रमण वा कटाक्ष करते हैं उनमें ९९'९ प्रति सैकड़ा ऐसे हैं जिन्होंने अपनी आत्मा की न तो खोज की है और न सत्य के पाने के लिये प्रयत्न ही किया है। अतः धर्म के सामने उनके तर्क का कोई मूल्य नहीं है, यहाँ तक कि उस अंधे की बात के बराबर भी मूल्य नहीं जो यह कहा करता था कि जो लोग सूर्य्य पर विश्वास करते हैं, मूर्ख हैं। ऐसों की बातों का हम पर क्या प्रभाव हो सकता है।

साक्षात् करने की बात ही अधिक ध्यान देने योग्य और कर्तव्य में लाने योग्य है। जिस समय हमारे मन में यह बात जम जायगी कि धर्म पुस्तकों और मंदिरों में नहीं धरा है, उसी समय सारा झगड़ा टंटा और विरोध मतभेद सब जो धर्मों में देख पड़ता है एक बारगी मिट जायगा। यह अनुभव की बात है। जिसने ईश्वर और आत्मा का वास्तव में अनुभव किया है उसी के धर्म है। तब हमें जान पड़ेगा कि बड़े बड़े धार्मिक संप्रदायों के पंडितों में जिनके यहाँ गट्ठर के गट्ठर पुस्तकों का ढेर लगा है, और छोटे से छोटे, यहाँ तक अज्ञानी, लोकायतिकों तक में कोई वास्तविक अंतर नहीं है। हम सब नास्तिक हैं यह हमें स्वीकार करना चाहिए। केवल बुद्धि से विश्वास मात्र कर लेने से हम धार्मिक हो नहीं सकते। ईसाई, मुसलमान और संसार के किसी भी

धर्म को ले लीजिए। जो मनुष्य पर्वत के उपदेश* की सत्यता को जान जायगा वह आप्त हो जायगा, उसी दम देवता हो जायगा। पर फिर भी यह कहा जाता है कि संसार में अर्बों ईसाई हैं। इसका आशय यही है कि मनुष्य कभी न कभी पर्वत के उपदेश के तत्त्व को समझें। यों तो बीस करोड़ में एक भी सच्चा ईसाई नहीं निकलेगा।

इसी प्रकार भारतवर्ष में भी कहते हैं कि तीन हज़ार वेदांती हैं, पर यदि हज़ार में एक भी ऐसा हो जिसे सचमुच धर्म का बोध हो तो संसार की दशा फिर जाय। हम सब नास्तिक हैं, तो भी हम ऐसे मनुष्य से लड़ने की चेष्टा करते हैं जो यह स्पष्ट स्वीकार करता है कि मैं नास्तिक हूँ। हम सब अंधकार में पड़े हैं, धर्म हमारे लिये केवल विश्वास का और वाद विवाद का विषय है, वह इसी काम का है कि केवल बुद्धि से विश्वास दिखा कर हाँ हाँ कर दो, बकबक कर लो, और कुछ नहीं। हम उसी को धर्मात्मा समझते हैं जो बहुत बक सकता है। पर वह धर्म नहीं है। केवल शब्दयोजना की प्रशस्त रीति, अलंकारों के प्रयोग की विलक्षण शक्ति, और पुस्तकों के मूल की नाना भाँति से व्याख्या और निरुक्त इत्यादि विद्वानों का केवल मनोविनोद मात्र है, धर्म नहीं है। धर्म तो तभी होता है जब हमारी आत्मा में सच-

---

* 'पर्वत का उपदेश' इंजील के एक प्रकरण का नाम है जिसमें ईसा-मसीह ने पर्वत के ऊपर जाकर उपदेश किया था। इसे Sermon on the Mount कहते हैं।

मुच साचात्कार प्रारंभ होता है। वही धर्म के उदय का काल है और तभी हम धार्मिक होते हैं। अभी हम में पशुओं से अधिक धर्म का भाव नहीं है। हम जो कुछ करते हैं समाज के दंड के भय से करते हैं। यदि समाज आज कह दे कि किसी की संपत्ति चुराओ, हम तुम्हें दंड न देंगे तो हम एक दूसरे के माल पर झपट पड़ें। वही हम पर चौकीदारी का काम करता है और पुलिस के भय से ही हम में कुछ थोड़ा सा धर्म का आचरण है। यह केवल समाज के शासन का प्रभाव है कि हम कुछ थोड़ा सा धर्मानुष्ठान कर डालते हैं, नहीं तो हमारी अवस्था पशुओं से कुछ ही अधिक अच्छी है। अपने मन में गुप्त रूप से विचार करने से हमें इस बात की सत्यता का प्रमाण मिलता है। अतः हमें धर्मध्वजी नहीं बनना चाहिए। हमें स्पष्ट शब्दों में इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि हम धार्मिक नहीं हैं और हमें दूसरों की निंदा करने का कोई अधिकार नहीं है, हम सब भाई हैं। हम तभी सच्चे धार्मिक होंगे जब हम धर्म को साचात् कर लेंगे।

यदि आपने किसी देश को देखा हो और कोई मनुष्य आप पर यह कहने के लिये दबाव डाले कि आप यह कह दें कि हमने उस देश को नहीं देखा है पर आप अपने मन ही मन जानते हैं कि हमने उस देश को देखा है। इसी प्रकार जब आप धर्म को और ईश्वर को उससे अधिक स्पष्टता से देखेंगे जिससे कि आप बाह्य विषयों को देखते हैं तो आपके अटल

विश्वास को कोई डिगा न सकेगा। तभी आपको सच्चा विश्वास होगा। यही अभिप्राय आपकी धर्मपुस्तक के इन शब्दों में व्यक्त किया गया है कि, 'वह जिसे एक सरसों या राई भर भी विश्वास है।' तभी आप को सत्य का ज्ञान होगा, क्योंकि आप सत्य के साथ तन्मय हो जायँगे।

यही वेदांत का तत्व है कि धर्म का साक्षात्कार करो, बकने से काम नहीं चलेगा। पर इसे करना कठिन है। वह अणु के भीतर गुप्त है, वह पुराण और ज्येष्ठ पुरुष जो मनुष्य मनुष्य के अंतःकरण की गुहा में प्रविष्ट है। ऋषियों ने अंतर्दृष्टि से उसको साक्षात् किया और वे सुख दुःख से परे, धर्म अधर्म से परे, शुभाशुभ कर्म से परे, सत् असत् से परे पहुँच गए। जो उसे देखता है वही सत्य को देखता है। फिर स्वर्ग क्या है? स्वर्ग सुख के भाव से दुःख के भाव को निकाल डालने से जो बच रहता है वही है। इसका तात्पर्य्य यह है कि स्वर्ग चाहने में हमें केवल इस जीवन के सुखों की आवश्यकता है, दुःखों की नहीं। यह बहुत ही अच्छा विचार है, इसमें तनिक संदेह नहीं, यह स्वाभाविक है, पर यह है विशुद्ध भ्रम ही, क्योंकि केवल अच्छी ही अच्छी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती और न कोई ऐसी वस्तु ही हो सकती है जो एक मात्र बुरी ही बुरी हो।

आपने रोम के उस धनी महाजन की कथा पढ़ी होगी जिसने जब उसे इसका समाचार मिला कि अब उसके पास केवल पंद्रह लाख की संपत्ति बच रही है, यह कहा था कि 'फिर मैं

कल क्या करूँगा ?' और यह कह के वह आत्मघात करके मर गया था। पंद्रह लाख की संपत्ति उसके लिये दरिद्रता थी। फिर सुख क्या रहा और दुःख क्या रहा ? यह एक प्रविलीयमान लगातार प्रविलीयमान राशि है। जब मैं बच्चा था तो मेरा विचार था कि क्या ही अच्छा होता जो मैं एकेवान होता, एकेवान बन कर एका दौड़ाना मेरे लिये आनंद की पराकाष्ठा थी। अब मेरा वैसा विचार नहीं है। किस सुख पर आप स्थिर रह सकते हैं ? यही एक ऐसी बात है जिसे समझने के लिये हम सबको प्रयत्न करना चाहिए और यही दुराग्रह है जिससे हम सब से पीछे मुक्त होते हैं। सब के सुख का भाव पृथक् पृथक् होता है। मैंने ऐसे मनुष्य देखे हैं जिन्हें नित्य बिना अफीम का गोला चढ़ाए चैन ही नहीं पड़ता। वे तो स्वर्ग उसी को समझते होंगे जहाँ की भूमि भी अफीम ही की हो। ऐसा स्वर्ग मेरे लिये तो बहुत ही बुरा होगा। अरबी काव्यों में हम स्वर्ग का वर्णन पढ़ते हैं कि वहाँ सुंदर बाग हैं और उनमें नदियाँ बह रही हैं। मैं तो ऐसे देश का रहनेवाला हूँ जहाँ बहुत पानी होता है और प्रति वर्ष सैकड़ों गाँव बाढ़ से बह जाते हैं और करोड़ों प्राणियों का संहार हो जाता है। अतः मेरा स्वर्ग तो वह हो नहीं सकता जहाँ बाग हों और उनमें नदियाँ बहा करें। मैं तो ऐसे देश को स्वर्ग मानूँगा जहाँ बहुत कम वर्षा होती हो। हमारे सुख सदा बदलते रहते हैं। यदि कोई अविवाहित पुरुष स्वर्ग का स्वप्न देखे तो वह यही देखेगा कि स्वर्ग में सुंदर सुंदर स्त्रियाँ हैं और

वहाँ उसका विवाह होगा। वही मनुष्य जब बुड्ढा होता है तो उसे स्त्री की आवश्यकता नहीं रह जाती है। यह हमारी आवश्यकता ही है जिससे स्वर्ग की कल्पना होती है और हमारी आवश्यकता में परिवर्तन होने के साथ स्वर्ग में भी परिवर्तन हो जाता है। यदि हमारा स्वर्ग वही है जिसकी कामना वे लोग करते हैं जिनके लिये इंद्रिय-सुख वा विषय-भोग ही जन्म का परम फल है तो हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। ऐसा स्वर्ग आत्मा के लिये अत्यंत घोर और घृणित अभिशाप होगा। क्या हम लोगों का जन्म इसी लिये हुआ है कि थोड़ा रोना गाना, नाचना कूदना हुआ कि कुत्ते की मौत मरें। ऐसे पदार्थों की कामना करके आप मनुष्य जाति के लिये कैसा शाप दे रहे हैं। जब आप इस लोक के सुख के लिये रोते पीटते हैं तो आप यही करते हैं, क्योंकि आपको इसका बोध नहीं है कि सच्चा सुख किसका नाम है। दर्शन का आग्रह यह नहीं है कि सुख का परित्याग करो, अपितु यह है कि सच्चे सुख को समझो कि वह है क्या। नारवे वालों का स्वर्ग एक घोर रणक्षेत्र है, वहाँ वे लोग वोडिन (नारवे वालों के देवताओं के इंद्र) के सामने बैठते हैं। वहाँ वे लोग वन्य वराह का शिकार करते हैं, फिर परस्पर संग्राम करते हैं और एक दूसरे को घायल करते हैं। पर इस संग्राम के थोड़े ही समय पीछे सब घाव किसी न किसी प्रकार अच्छे हो जाते हैं और फिर वे एक वृहन्मंडप में जाते हैं, वहाँ सुअर का भूना हुआ मांस, खूब मद्य के साथ उड़ाया जाता है। और फिर वह वन्य शूकर

जीवित हो जाता है और दूसरे दिन के शिकार के योग्य हो जाता है। यही बात हमारे स्वर्ग की भी है, तनिक सा भी अंतर नहीं, केवल यही कि हमारे विचार उनसे कुछ परिष्कृत हो सकते हैं। जैसे नारवे वाले यह समझते हैं कि वन्य सूअर नित्य मारा और खाया जाता है और दूसरे दिन वह फिर ज्यों का त्यों हो जाया करता है, वैसे हम भी वन्य वराह का शिकार करना और ऐसे स्थान पर पहुँचना चाहते हैं जहाँ हमारे वर्तमान सुख अविच्छिन्न रहें।

दर्शन का यह आग्रह है कि एक आनंद है जो नित्य है जिसमें कभी विकार नहीं होता है। वह आनंद वैसा आनंद और सुख नहीं है जैसे का कि अनुभव हमें इस लोक में होता है, तो भी वेदांत का कथन है कि जो कुछ हमें इस लोक में सुखकर प्रतीत होता है वह केवल उसी सच्चे आनंद का लेशमात्र है, क्योंकि वही एक आनंद विश्व में है। वह आनंद यद्यपि आवृत, अन्यथागृहीत, और विकृत कर दिया गया है तो भी प्रति चण हम सचमुच उसी नित्य सुख का अनुभव करते रहते हैं। जहाँ कहीं कुछ सुख वा आनंद है, यहाँ तक कि वह चोर का सुख क्यों न हो जो उसे चोरी में मिलता है, उसी नित्यानंद के स्रोत से आया है, केवल वह मलिन और सांसारिक वासनाओं से कलुषित हो गया है और पहि-चान नहीं पड़ता है। पर उसके समझने के लिये हमें नेति नेति से प्रारंभ करना चाहिए तभी हमें उसका तथ्य जान पड़ेगा। हमें अज्ञान और सारी मिथ्या बातों को त्याग करना पड़ेगा तभी

हममें सत्यता का प्रकाश होगा। जब हम सत्य का ग्रहण कर लेंगे तो वेही पदार्थ जिन्हें हम पहले त्याग चुके हैं नया रूप और आकार धारण करेंगे और देवरूप हो जायँगे। वे उत्कृष्ट रूप धारण कर लेंगे और तब हम उनको यथार्थ रूप में समझ सकेंगे। उनके समझने के लिये पहले हमें सत्य की झलक देखनी होगी—पहले हमें उन्हें परित्याग करना होगा और फिर वे हमें देवरूप होकर मिलेंगे। पहले हमें सारे दुःख और चिंता तथा हमारे तुच्छ सुख भोगों का परित्याग करना पड़ेगा।

"जिसे सब वेद कहते हैं, जिसे सब तप घोषणा करते हैं, जिसके लिये सब लोग ब्रह्मचर्य्य धारण करते हैं मैं उसे तुमको एक ही शब्द में बतलाए देता हूँ—वह ओम् है।" आपको जान पड़ेगा कि वेदों में ओम् की बड़ी महिमा गाई गई है और वह बड़ा ही पवित्र माना गया है।

अब यमराज उस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देता है कि मनुष्य के मरने पर वह क्या होता है। "यह ज्ञानी, न कभी जन्म लेता है और न मरता है, न वह किसी से उपजता है और न उससे कुछ उपजता है, वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुराना है, शरीर के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता है। यदि मारनेवाला यह समझता है कि मैंने मारा, और मारा गया यह समझता है कि मैं मारा गया तो दोनों को तत्त्व का ज्ञान नहीं है, क्योंकि आत्मा न मारती है और न मारी जाती है।" कैसा प्रबल और उत्कृष्ट पद है। मैं आपका ध्यान पहले लाए हुए 'ज्ञानी' शब्द पर जो विशेषण

रूप में आया है आकर्षित करता हूँ। ज्यों ज्यों हम आगे चलते हैं हमें जान पड़ता है कि वेदांत शास्त्र का उद्देश यह है कि सारा ज्ञान और पवित्रता आत्मा में निहित है—इतना मात्र अंतर है कि वह कहीं कम व्यक्त है, कहीं अधिक। भेद जो मनुष्य मनुष्य और सृष्टि के सारे पदार्थों में वर्तमान है केवल मात्रा का भेद है, प्रकार का भेद नहीं है। सबकी आड़ में, सबकी सत्ता, वही नित्य, शाश्वत, शुद्ध और पूर्ण ही है। वही आत्मा पुण्यात्मा में पापी में, सुखी में दुखी में, सुंदर में, कुरूप में, मनुष्य में, पशु में, सबमें घटघट व्याप्त हो रहा है। वह ज्योतिस्वरूप है; भेद केवल प्रकाश की शक्ति के कारण है, किसी में वह अधिक व्यक्त है, किसी में कम है, पर इस अभिव्यक्ति के अंतर से आत्मा में कोई अंतर नहीं पड़ता है। यदि एक पुरुष उत्तम वस्त्रों से दूसरे की अपेक्षा अधिक बढ़ चढ़ के देख पड़ता है तो इससे उसके शरीर में कोई अंतर नहीं पड़ जाता है, वह अंतर केवल वस्त्र का है। हमें यह बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिए कि सारे वेदांत दर्शन में कोई वस्तु स्वरूप से अच्छी वा बुरी नहीं है। अच्छा और बुरा कुछ है ही नहीं, और न वे दो पृथक् पृथक् पदार्थ ही हैं। वही वस्तु अच्छी और बुरी दोनों हो सकती है, भेद केवल मात्रा का है। वही पदार्थ जिसे हम आज सुखकर समझ रहे हैं कल दूसरी अवस्था में दुःखकर कहला सकता है। वही आग जिसे तापकर हम अपना शीत निवारण करते हैं, हमें जला भी सकती है। यह आग का दोष नहीं है। इसी प्रकार आत्मा शुद्ध और परिपूर्ण है, तो जो मनुष्य

बुराई करता है अपनी प्रकृति के विरुद्ध चलता है, उसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है। यहां तक कि घातक में भी वही पवित्र आत्मा विद्यमान है। वह नाश नहीं होती, मर नहीं जाती। यह घातक का अज्ञान है कि वह उसे व्यक्त नहीं कर सका, वह उसे आवरण में डाले हुए है। और न उस मनुष्य में जिसे कोई यह समझता है कि मार डाला गया है वह मरती है। वह शाश्वत है, कभी मर नहीं सकती, उसका कभी नाश नहीं है। वह छोटी से भी छोटी है, वह बड़ी से भी बड़ी है, वह प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण की गुहा में सबकी देवाधिदेव वर्तमान है। पाप रहित मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो उसे भगवान की दया से देखते हैं; वह शरीररहित है फिर भी वह शरीर में रहती है; उसका कोई स्थान नहीं है फिर भी वह सब जगह विद्यमान जान पड़ती है; वह अनंत है; सर्वगत है; आत्मा को ऐसा जानकर ऋषियों को कभी क्लेश नहीं होता है।

"यह आत्मा कभी वाणी द्वारा, साक्षात् नहीं की जा सकती, न बड़ी बुद्धि ही से उसका ग्रहण हो सकता है, यहां तक कि वेदों के अभ्यास से भी उसका यथार्थ बोध नहीं होता है।" यह बड़ी ही निष्पक्ष घोषणा है। मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि ऋषि लोग बड़े ही निर्भय विचार करनेवाले थे और कहीं पर रुकते न थे, स्पष्ट कह डालते थे। आप जानते हैं कि भारतवर्ष में वेदों का सबसे अधिक मान है; ईसाई उतना आदर इंजील का क्या करते होंगे? आपका तो ईश्वरीय पुस्तक के विषय में यही

भाव है कि किसी मनुष्य को ईश्वर ने प्रेरणा की। पर भारतवर्ष में तो वेदों के प्रति ऐसा भाव है कि पदार्थों की सत्ता इसी कारण है कि वे वेदों में है। वेद में और वेद ही से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। जितना कुछ ज्ञान है सब वेद में है। वेदों का एक एक शब्द पवित्र और शाश्वत है, वैसा ही शाश्वत जैसे आत्मा, जिसका न कोई आदि है और न अंत। मानों स्रष्टा का सारा मन ही वेद में भरा है। वेद वहाँ इसी भाव से देखे जाते हैं। अमुक कर्म अधर्म क्यों है? इसका निर्णय वहाँ यही है कि वेदों में ऐसा कहा गया है। अमुक कर्म धर्म क्यों है? इसलिये कि वेद ऐसा कहता है। इन सब बातों के होते हुए भी तनिक ऋषियों की निष्पक्षता और निर्भयता को तो देखिए जो यह कह रहे हैं कि सत्य का ज्ञान केवल वेदाभ्यास मात्र से नहीं हो सकता है। "जिस पर भगवान् दया करता है उसी पर वह प्रगट होता है।" पर इस पर यह आपत्ति उठ खड़ी होती है कि यह तो कुछ पक्षपात की सी बात जान पड़ती है। इसी लिये यमराज आगे चलकर विवरण करते हैं "जो बुरे कर्म करनेवाले हैं, जिनका मन प्रशांत नहीं है, जिनकी इंद्रियां वशीभूत नहीं हैं, वे उस प्रकाश को कभी नहीं देख सकते। केवल वे ही लोग इस आत्मा को साक्षात् करेंगे जिनका अंतःकरण पवित्र है, जो शुद्धाचारी हैं और जिनकी इंद्रियां वशीभूत हैं।"

आगे चलकर एक सुंदर अलंकारयुक्त वर्णन है। आत्मा को रथ का सवार मान लो, और शरीर को रथ;

बुद्धि उस रथ का सारथी, मन लगाम और इंद्रियां घोड़े हैं। जिसके घोड़े सुशिक्षित और लगाम दृढ़ होती है और जिसका सारथी लगाम को दृढ़ थामे रहता है वही रथी अपने अभीष्ट स्थान को जो उस सर्वगत आत्मा का धाम है पहुँचता है। पर वह मनुष्य नाश को प्राप्त होता है जिसके घोड़े सुशिक्षित नहीं होते, मुहँजोर होते हैं, लगाम को नहीं मानते, बे-लगाम हैं और जिसकी लगाम ठीक थमी हुई नहीं है। यह सर्वगत गुप्त आत्मा लोगों को इंद्रियों के द्वारा साक्षात् नहीं हो सकती, वह केवल उन्हीं लोगों को साक्षात् होती है जिन का मन शुद्ध और निर्मल हो गया है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस से परे है; वह अप्रमेय, असंग, आदि-अंतहीन, निर्विकार और प्रकृति से परे है; अव्यय है; जो उसे साक्षात् कर लेता है वह मृत्यु के मुँह से मुक्त हो जाता है। पर यह बात है बड़ी कठिन। यह मानों छूरे की धार पर चलना है; मार्ग दूर और भयावह है; पर प्रयास करते रहो, निराश मत हो जाओ। जागो, उठो और तब तक विश्राम मत करो जब तक ठिकाने पर न पहुँच जाओ।

सारे उपनिषदों में यही एक साक्षात्कार का भाव भरा हुआ है। समय समय पर भिन्न भिन्न प्रकार के प्रश्न उठा करेंगे और विशेषतः आधुनिक लोगों के लिये तो प्रश्नों का कोई ठिकाना ही नहीं है। उपयोगिता के प्रश्न उठेंगे और नाना प्रकार के अन्य प्रश्न उठेंगे पर सारे प्रश्नों में हमें यह जान पड़ेगा कि वे सब हमारे पूर्व संस्कारों के कारण ही उठते हैं। यह केवल भावों का

संस्कार है जिसका प्रभाव हमारे अंतःकरण पर इतना प्रबल है। उन लोगों के लिये जो बचपन ही से एक पुरुष विशेष ईश्वर और मन की अनेकता की बात सुनते आ रहे हैं, इसमें संदेह नहीं है कि ये विचार कठिन और असह्य जान पड़ेंगे, पर यदि वे उन्हें सुनेंगे और उनपर मनन करेंगे तो वेही उनके जीवन के एक अंग बन जायेंगे और फिर उन्हें उनसे डर न लगेगा। सब से बड़ा प्रश्न जो उठता है वह वेदांतदर्शन की उपयोगिता का है। ऐसे प्रश्न का केवल एक यही उत्तर हो सकता है कि जब उपयोगिता की दृष्टि से यह अच्छा वा ठीक है कि मनुष्य सुख की खोज करे तो फिर ऐसे लोग जो धर्म ही में अपना सुख समझते हैं उसकी खोज क्यों न करें? जब बहुतों की दृष्टि में इंद्रियों का सुख ही सुख है और वे उसकी खोज करते हैं तब कितने ऐसे भी तो हो सकते हैं कि जिन्हें इंद्रियों का सुख, सुख न जान पड़े, वे किसी और उत्तम सुख की खोज करना चाहें। कुत्ते का सुख केवल खाने पीने मात्र में होता है। कुत्ता एक वैज्ञानिक के सुख को कैसे जान सकता है जो खाना पीना सब छोड़कर पर्वत के शिखर पर जाकर रहता और वहाँ एकांत में बैठ कर कुछ नक्षत्रों की स्थिति की जाँच करता है। संभव है कि कुत्ता उस पर हँसता हो और उसे पागल समझता हो। यह भी हो सकता है कि बेचारे वैज्ञानिक के पास इतना धन न हो कि वह अपना विवाह कर लेता; संभव है कि वह अपना जीवन साधारण रीति से व्यतीत करता। यह भी संभव है कि

कुत्ता उसकी खिल्ली उड़ाए। पर बेचारा वैज्ञानिक तो इतना ही कहेगा कि भाई कुत्ते, तुम्हारा सुख केवल विषय भोग मात्र का सुख है जो तुम उठा रहे हो, उसके आगे कुछ और है इसका तुम्हें बोध ही नहीं है; पर मेरे लिये तो यह अत्यंत सुख का जीवन है; और यदि तुमको अपने ढंग पर सुख प्राप्त करने का अधिकार है तो मुझे भी अपने ढंग पर सुख प्राप्त करने का अधिकार है। भूल तो इस बात से होती है कि हम सारे संसार को अपने ही विचारों के सूत्र में बाँधना चाहते हैं और सारे विश्व को अपने ही मन की नाप से नापते हैं। संभव है कि आपके लिये पुराने विषय भोग ही परमानंद हों, पर यह आवश्यक नहीं है कि मेरे लिये भी वे वैसे ही हों; और आप उन्हीं पर हठ करें तो मैं कभी उसे मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। केवल लौकिक उपयोगितावादी और धार्मिक पुरुष में यही अंतर है। एक तो यह कहता है कि देखो मैं कैसे आनंद में हूँ। मुझे धन मिल रहा है, मैं अपना सिर धर्म के पीछे नहीं खपाता। उसके तो कुछ सिर पैर का ठिकाना ही नहीं है, मैं तो बिना धर्म के ही सुखी हूँ। यहाँ तक तो ठीक है; पर यह उपयोगितावादी के लिये ठीक हो सकता है। पर यह भवसागर भयसागर है। यदि किसी को बिना अपने भाइयों को दुःख दिए किसी प्रकार से सुख मिल रहा है तो ईश्वर उसका भला करे। पर जब वही हमारे पास आकर यह कहने लगता है कि आप भी यही काम कीजिए; आप मेरी तरह न करें तो मूर्ख हैं,

तब तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि इस बात में आप भूलते हैं। जिन बातों में आपको सुख जान पड़ता है मेरा उनकी ओर तनिक भी झुकाव नहीं है। मुझे तो यदि दो चार मुट्ठी खोने के लिये भटकना पड़े तो मेरा जीवन अकारथ हो जाय, मैं मर ही जाऊँ— धार्मिक पुरुष यही उत्तर दे सकते हैं। बात यह है कि धर्मानुष्ठान वेही कर सकते हैं जो नीचे की श्रेणियों को पार कर चुके हों। सबको अपने अपने अनुभव और पूरी गति होनी चाहिए। इस दौड़ की समाप्ति होते ही हम दूसरे क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं।

ये विषयभोग कभी कभी और रूप धारण कर लेते हैं। वह बहुत भयानक और लुभानेवाला होता है। आपने यह बात सुनी होगी कि बहुत प्राचीन काल से सब धर्मों में यह बात चली आती है कि एक समय ऐसा आवेगा कि जब सारे दुःखों का अंत हो जायगा, केवल सुख ही सुख रह जायगा और पृथ्वी स्वर्ग हो जायगी। मुझे तो इस पर विश्वास नहीं है। पृथ्वी सदा जैसी है वैसी ही रहेगी। कहने में तो यह बहुत ही खेदजनक जान पड़ता है पर करें क्या, इससे बचने का कोई उपाय नहीं है। संसार में दुःख वैसे ही है जैसे शरीर में दीर्घ-कालिक गठिया कि एक स्थान से निकालो तो दूसरे स्थान में पहुँचती है, वहाँ से निकाला तो दूसरी जगह जा पहुँची। चाहे जो कर डालो वह रहेगी वहीं। पहले लोग जंगलों में रहा करते थे, एक दूसरे को खाते थे; आधुनिक समय में वे एक दूसरे को खाते

नहीं हैं पर परस्पर धोखादेई करते हैं। देश के देश, नगर के नगर इसी ठगविद्या से सत्यानाश हो गए हैं, उजड़ गए हैं। इससे तो बड़ी उन्नति नहीं जान पड़ती। मैं नहीं समझता कि जिसे आप संसार में उन्नति कहते हैं वह कामनाओं के कई गुना बढ़ाने के सिवाय कुछ और है। इससे तो एक बात मुझे स्पष्ट दिखाई पड़ती है और वह यह है कि कामना से ही सब दुःख होते हैं। यह तो भिखमंगे की दशा हो रही है, दिन रात माँगने पर उतारू, देखा नहीं कि मुँह में पानी भरने लगा, सदा कुछ न कुछ कामना, सदा अधिक पाने की इच्छा बनी ही रहती है। यदि कामना की पूर्त्ति की शक्ति गणित की श्रेढ़ी से बढ़ती है तो कामना की शक्ति ज्यामितिक श्रेढ़ी से बढ़ जाती है। इस संसार में सुख दुःख की मात्रा सदा लगभग एक ही है। यदि समुद्र में एक स्थान पर लहर उठती है तो दूसरे स्थान पर गड्ढा पड़ जाता है। यदि एक मनुष्य सुखी होता है तो दूसरे पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है, मनुष्यों पर न सही तो पशुओं ही पर सही। मनुष्यों की संख्या बढ़ने से तो पशुओं की संख्या घट रही है; हम उन्हें मार मार कर भूमि साफ़ करते जा रहे हैं और वहाँ बसते जाते हैं; उनके जीवन की सामग्री सब छीनते जारहे हैं। फिर हम यह कैसे कहें कि सुख बढ़ रहा है? प्रबल जातियाँ निर्बल जातियों को खाए जा रही हैं पर इससे क्या आप यह समझते हैं कि प्रबल जातियाँ सब सुखी रहेंगी? कदापि नहीं, जब और कोई न मिलेगा तो

वे आपस में लड़ कर मरेंगी। मुझे तो इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता दिखाई पड़ता है कि यह संसार स्वर्ग बन रहा है। लक्षण तो कुछ उलटे से दिखाई पड़ते हैं। अनुमान से भी हमें यही जान पड़ता है कि सिद्धांत में भी ऐसा होना असंभव सा है।

परिपूर्णता सदा अप्रमेय है। हम अप्रमेय हो हैं और उसी अप्रमेयता को व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। मैं, आप और सब लोग उसी के व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। यहाँ तक तो ठीक है। पर इसी बात के आधार पर कुछ जर्मन के दार्शनिकों ने एक विलक्षण कल्पना कर डाली है—कि यह अभिव्यक्ति अधिक अधिक बढ़ती जायगी, यहाँ तक कि हमारी अभिव्यक्ति पराकाष्ठा को पहुँच जायगी, यहाँ तक कि हम पूर्णाभिव्यक्त बन जाँयगे। अभिव्यक्ति की पराकाष्ठा को पहुँचने से क्या अभिप्राय है? परिपूर्णता का भाव तो अप्रमेयता है और अभिव्यक्ति का अर्थ है प्रमेयता, तो क्या इसका भाव यह तो नहीं है कि हम अप्रमेय प्रमेय हो जाँयगे? यह तो वदतोव्याघात हुआ, असंभव हुआ। ऐसी कल्पना वा सिद्धांत बच्चों को भले ही रुचिकर क्यों न हों; पर यह उनके अंत:करण में मिथ्यारूपी विष का भरना हो जायगा और यह धर्म के लिये तो बहुत ही हानिकारक प्रतीत होगा। हम यह जानते हैं कि जगत एक विकार मात्र है, मनुष्य देवताओं से विकृत होकर बना है; आदम स्वर्ग से पतित हुआ

था। आज कल कोई ऐसा धर्म नहीं है जिसमें मनुष्यों की वैकारिक सृष्टि की शिक्षा न हो। हम लोग पतित होकर पशु हो गए थे और अब हम उस बंधन से बाहर निकल रहे हैं। पर हम परिपूर्णता को अभिव्यक्त करने में कभी नितांत सफल न होंगे। हम कितना ही कठिन प्रयास क्यों न करें, अंत को चलकर हमें जान पड़ेगा कि हम इस संसार में पराकाष्ठा को पहुँच ही न सकेंगे, कारण यह है कि हम इंद्रियों के बंधन से परिमित और बद्ध हैं। यह जानने पर हमें यह शब्द सुनाई पड़ेगा कि अपनी निज अप्रमेयता की ओर लौटो।

इसी का नाम त्याग है। इस कठिनाई से बाहर निकलने का यही उपाय है कि हम उसी मार्ग से उलटे लौट जाँय जिससे होकर हम बंधन में, अधःपात में पड़े हैं। यहीं से धर्म और उदारता प्रारंभ होती है। सारे आचार शास्त्र की कुंजी क्या है? यही न कि 'मैं नहीं तू' और इसी 'मैं' की आड़ में अप्रमेय है, जिसका यह 'मैं' परिणाम है, जो अपने को इस लोक में अभिव्यक्त करने के लिये प्रयत्न कर रहा है। यह 'मैं' परिणाम है और इसे अपनी प्रकृति अप्रमेय से जाकर मिलना है। जितनी बार आप यह कहते हैं कि 'भाई मैं नहीं तूँ', आप लौटने का प्रयत्न करते हैं और जितनी बार आप यह कहते हैं कि 'मैं, तूँ नहीं' उतनी ही बार आप झूठ मूठ अप्रमेय को इस इंद्रिय के लोक के द्वारा व्यक्त करने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं। इससे इस जगत में झगड़ा, कलह और बुराई उत्पन्न होती है, कुछ

काल पीछे त्याग, शाश्वत त्याग, आता है, यह छोटा सा 'मैं' नाश हो जाता है और जाता रहता है। इस छोटे जीवन की चिंता में इतने क्यों लगे हो ? इस लोक वा किसी अन्य लोक में व्यर्थ जोने और वहाँ सुख भोगने का परिणाम क्या है—मृत्यु।

यदि हमारा विकाश पशुओं से हुआ है तो पशु भी मनुष्यों से ही घटकर बने होंगे। आप यह कह कैसे सकते हैं कि ऐसा नहीं है ? आपने देखा है कि विकाश के लिये केवल यही प्रमाण है कि छोटे से बड़े वा नीचे से ऊँचे जंतुओं तक के शरीर क्रमशः उन्नत होते गए हैं। पर क्या इतने से ही आप हठ-पूर्वक कह सकते हैं कि सदा नीचे से ऊपर को ही चलते गए हैं, केवल आरोहमात्र होता गया है और ऊपर से नीचे कभी उतरे वा खिसके नहीं हैं, अवरोह नहीं हुआ है ? यह उपपत्ति दोनों ओर के लिये हो सकती है। मेरी समझ में यदि कुछ सत्य है तो यह है कि यह क्रम सदा आरोही और अवरोही दोनों प्रकार से होता रहा है। अवरोह बिना आरोह कैसे; संकोच बिना विकाश कहाँ से ? उत्कृष्ट अवस्था के लिये हमारे प्रयत्न से यही प्रगट होता है कि हम उत्कृष्ट अवस्था से नीच दशा को प्राप्त हो गए हैं। यही बात ठीक है, केवल प्रकार में कुछ अंतर भले ही हो। मैं तो इस विश्वास पर डटा हुआ हूँ और डटा रहूँगा और ईसा, बुद्धदेव और वेदांत एक स्वर से पुकार कर यही कह रहे हैं कि हम किसी न किसी समय में पराकाष्ठा को अवश्य पहुँचेंगे, किंतु केवल

इस अपूर्णता को परित्याग करने से। यह संसार कुछ नहीं है, केवल उसी सत्ता की विकृत, कुरूप छायामात्र है। हमें उसी सत्ता तक पहुँचना है। त्याग ही हमें उस तक ले जायगा। त्याग ही सच्चे जीवन का एकमात्र आधार है; हमारे सच्चे जीवन और भलाई का समय वही है जब हम अपने को भूले रहें। यह आत्मा का भेद अवश्य मिटना चाहिए, इसका लेशमात्र भी न रहना चाहिए। तभी हमें अपनी सत्ता का बोध होगा, हम अपनी सत्ता में स्थिर होंगे; वही सत्ता ब्रह्म वा ईश्वर है; वही हमारा सच्चा रूप है, वह सदा हममें और हमारे साथ है। हमें उसीमें रहना और स्थिर होना चाहिए, वही एक मात्र सबके सुख का परमधाम है। वही जीवन जो आत्मा की दृष्टि से जीवन है सच्चा जीवन है। हम सब लोगों को उसी के साक्षात् करने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

(६) भेद में अभेद।

"स्वयंभू ने इंद्रियों का मुँह बाहर की ओर बनाया है इसीसे मनुष्य बाहर के विषयों का अनुभव करता है, आभ्यंतर का नहीं। कोई सा धीर पुरुष ही अमृतत्त्व की इच्छा करता हुआ अपनी इंद्रियों को अंतर्मुख कर के अपने भीतर आत्मा को देखता है।" जैसा हम पहले कह चुके हैं, वेदों में सबसे पहले बाह्य पदार्थों की ही जिज्ञासा प्रारंभ हुई है और फिर यह जान पड़ा है कि

पदार्थों का तत्त्वज्ञान इस बाह्य जगत से हो नहीं सकता; बाह्य दृष्टि से काम नहीं चलेगा, यदि होगा तो आँखों को भीतर की ओर मोड़ने से होगा, क्योंकि वस्तुतः तत्त्व ज्ञान आभ्यंतर ही में निहित है। आत्मा के लिये जो शब्द आया है वह बहुत ही सार्थक है, 'प्रत्यगात्मा' अर्थात् जो मुड़ कर भीतर चला गया है, वह हमारे भीतर प्रविष्ट हुआ, वही हमारी सत्ता का आभ्यंतर रूप है; अंतःकरण का केंद्र है, उसी बीज से मानो सब कुछ प्रस्फुरित होता है; वह आदित्य स्वरूप है, उसी से मन, शरीर और जो कुछ है वह सब किरण की भाँति चारों ओर प्रस्फुरित होता है। "बालबुद्धि, अज्ञानी पुरुष कामनाओं के पीछे, जो बाह्य विषय हैं, दौड़ते फिरते हैं और मृत्यु के पाश में पड़ जाते हैं पर बुद्धिमान् लोग, अमृतत्त्व को जानते हुए इस जीवन के क्षणिक पदार्थों में नित्यता की जिज्ञासा का प्रयास नहीं करते।" वही भाव यहाँ स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है कि इस बाह्य जगत में जहाँ सब अनित्य ही अनित्य पदार्थ भरे पड़े हैं नित्यता की जिज्ञासा करना वा उसे पाना असंभव सा है। नित्य की जिज्ञासा तो नित्य ही में हो सकती है और हमारे पास जो नित्य पदार्थ है वह हमारी आत्मा है, न तो शरीर और न मन, यहाँ तक कि बुद्धि भी नित्य नहीं है और संसार की तो बात ही क्या है। सबका द्रष्टा, सबका अधिपति, आत्मा, जो सदा मनुष्यों के अंतःकरण में जागता है वही एकमात्र नित्य है और इस विश्व के नित्य कारण की जिज्ञासा के लिये हमें

उसके पास जाना चाहिए। वह केवल नित्य आत्मा ही में मिलेगा। "जो यहाँ है वहाँ भी है, जो वहाँ है यहाँ भी है। जो नानात्व को देखता है वह मृत्यु में मृत्यु को प्राप्त होता है।" देखिए पहले स्वर्ग में जाने की आकांक्षा थी। जब प्राचीन आर्य्यों को इस संसार से जिसमें वे रहते थे असंतोष हुआ तो उन लोगों ने समझा कि हम लोग शरीर को त्याग कर ऐसे लोक में जायँगे जहाँ पर केवल सुख ही सुख होगा, दुःख का लेशमात्र भी न रहेगा। ऐसे ही कई स्थान मान कर उनका नाम उन लोगों ने स्वर्ग रक्खा था। उनका अनुमान था कि स्वर्ग में उन्हें दिव्य देह और मन मिलेंगे और वहाँ वे अपने पितरों के साथ सदा आनंद से अपने दिन व्यतीत करेंगे। पर ज्योंही दर्शनों के विचार का आरंभ हुआ लोगों को स्वर्ग की बातें असंभव और मिथ्या जान पड़ने लगीं। अनंतता और देश विशेष का संबंध परस्पर विरुद्ध था क्योंकि देश तो काल में होता और उसी में रहता है। अतः उन लोगों को वह विचार त्यागना पड़ा। उन्हें जान पड़ा कि देवता लोग जो उन स्वर्गों में रहते हैं कभी इस लोक में मनुष्य योनि में रहे होंगे और अपने पुण्य कर्म से देवता के पद को प्राप्त हुए। देवयोनि या देवतापन जिसका नाम रखा गया था वह केवल अवस्था और पदविशेष था। वेदों में वर्णित कोई भी देवता नित्य व्यक्तिविशेष नहीं थे।

उदाहरण के लिये इंद्र और वरुण को ले लीजिए; इंद्र और वरुण किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं हैं; वे पदों के नाम हैं

जैसे आज कल गवर्नर आदि हुआ करते हैं। वह इंद्र जो पहले था अब नहीं है; वह हो चुका होगा और उसके स्थान पर दूसरा मनुष्य इस लोक से गया होगा। वही दशा अन्य देवगणों के पदों की भी जान लो। वे सब पदविशेष हैं और उन पर लगातार ऐसे मनुष्य जाया करते हैं जो संसार में रह कर अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से देवत्व को प्राप्त हो जाते हैं, पर नाश उनका भी होता है। ऋग्वेद में देवताओं को अमर कहा गया है पर आगे चल कर देवताओं से अमरत्व का भाव बिलकुल अलग कर दिया गया। लोगों को यह जान पड़ा कि अमरत्व देश काल से परे है और 'अमर' शब्द किसी भौतिक शरीरधारी के लिये अन्वर्थ नहीं हो सकता, चाहे उसका शरीर कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। चाहे वह कितना ही सूक्ष्म हो उसका आरंभ किसी देश काल में अवश्य हुआ होगा और उसके शरीर के वे परिमाणु जिनसे उसके शरीर का निर्माण हुआ है देश में रहे होंगे। जरा मन में विचारो तो सही कि क्या कोई रूप बिना देश के हो सकता है? यह असंभव है। देश एक भौतिक पदार्थ है जिससे रूप बनता है और वह लगातार परिवर्तनशील है। देश और काल माया के अंतर्गत हैं और यही भाव इन शब्दों में व्यक्त किया गया है कि जो यहाँ है वही वहाँ भी है। यदि वहाँ ये देवता लोग हैं तो वे भी उन्हीं नियमों से बद्ध होंगे जिनसे हम लोग इस लोक में बद्ध हैं और नियम यह है कि नाश होता रहता है, बार बार

परिवर्त्तन होता जाता है। इन्हीं नियमों से पदार्थों के संयोग से भिन्न भिन्न रूप प्रगट होते और पुनः पुनः नाश होते रहते हैं। जिसका जन्म है उसका मरण अवश्य है। यदि कहीं स्वर्ग है तो येही नियम वहाँ भी होंगे।

इस लोक में हम देखते हैं कि सब सुखों के साथ छाया की भाँति दुःख लगा हुआ है; जीवन के साथ मृत्यु उसकी छाया की भाँति लगी है। वे साथ साथ रहते हैं। कारण यह है कि वे परस्पर विरुद्ध नहीं हैं; वे दो पदार्थ भी नहीं है, केवल एक सत्ता की दो भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं; जीवन मरण, सुख दुःख, भला बुरा, सब एक ही भाव की भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। द्वैतवादियों की कल्पना कि भलाई और बुराई भिन्न पदार्थ हैं और दोनों नित्य से साथ साथ आ रहे हैं नितांत असंगत है। वे एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, वही कभी अच्छी होकर प्रगट होती है कभी बुरी हो कर। इनमें भेद प्रकार का नहीं है केवल मात्रा का है। वे एक दूसरे से मात्रा की न्यूनाधिकता के कारण भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं। हम यह ठीक ठीक देखते हैं कि वही नाड़ीजाल सुख की वेदना और दुःख की वेदना दोनों को समान रूप से वहन करता है। जब वही नाड़ीजाल शून्यरोगग्रस्त हो जाता है तब हमें न सुख की वेदना उसके द्वारा होती है न दुःख की। अतः निश्चित है कि वे दो नहीं हैं एक ही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी तो होता है कि

एक ही वस्तु जीवन के भिन्न भिन्न समय में सुखकर और दुःखकर दोनों होती है। एक ही बात से एक को सुख दूसरे को दुःख पहुँचता है। मांस के खाने से खानेवाले को तो सुख होता है पर बेचारे पशु के प्राण जाते हैं। संसार में कोई पदार्थ ऐसा न था और न है जिससे सदा सब को सुख ही सुख होता हो। कोई प्रसन्न है तो दूसरा अप्रसन्न। यह सदा से है और रहेगा। यही कारण है कि यह द्वैत की बात ठीक नहीं जँचती है और इसका परिणाम क्या होता है ? मैं आप को अपने पूर्व व्याख्यान में यह बता चुका हूँ कि यह असंभव है कि कभी ऐसी अवस्था आवे जब संसार में केवल भलाही भला रह जाय और बुरे का कहीं चिन्ह भी न रहे। इसमें संदेह नहीं है कि इस बात से बहुतों को निराशा ने घेर लिया होगा और कितने डर गए होंगे पर मैं करूं क्या। मुझे इसके विरुद्ध कोई समझा दे तो मैं मानने को तैयार हूँ किंतु जब तक कि कोई यह प्रमाणित न करे और मुझे उसकी सत्यता का विश्वास न हो जाय मैं उसे बदल नहीं सकता।

सामान्य उपपत्ति जो मेरे कथन के विरोध में दी जा सकती है और जिस पर लोगों का विश्वास सुगमता से जम जाता है यह है कि विकाश होते होते संसार में जो जो बुराइयाँ हैं क्रमशः कम होती जा रही हैं और परिणाम यह होगा कि इस प्रकार घटते घटते करोड़ों वर्ष बीतने पर ऐसा समय आ जायगा जब संसार से सारी बुराइयाँ नष्ट हो जायँगी और केवल अच्छाई

अच्छाई शेष रह जायगी। देखने में तो यह बड़ी प्रबल युक्ति प्रतीत होती है। ईश्वर करे यह ठीक निकले। पर इसमें एक हेत्वाभास है। वह यह है कि यह पहले से ही मान लिया गया है कि भलाई और बुराई दोनों सदा से नियत हैं। यह मान लिया गया है कि एक नियत परिमाण की बुराई है, सौ मन सही, और इसी प्रकार भलाई भी नियत परिमाण की है; और बुराई का यह परिमाण नित्य प्रति चीण वा चय होता जाता है; और भलाई का परिमाण ज्यों का त्यों बना रहता है। पर क्या यह ठीक है? संसार का इतिहास तो यह प्रगट कर रहा है कि बुराई लगातार बढ़ती जा रही है और वैसे ही भलाई भी बढ़ रही है। एक असभ्य मनुष्य को ले लीजिए वह जंगल में रहता है। उसका सुख का भाव बहुत ही परिमित है और इसी प्रकार उसके दुःख का भाव भी न्यून है। उसका दुःख केवल इंद्रियों ही तक है। यदि उसे खाना न मिले तो वह दुखी है; पर उसे यथेच्छ भोजन दीजिए और घूमने फिरने और शिकार करने की स्वतंत्रता दीजिए तो वह नितांत सुखी है। उसका सुख भी इंद्रियों तक है और ऐसे ही उसका दुःख भी वहीं तक है। पर यदि उसी मनुष्य का ज्ञान बढ़ जाय तो उसके सुख भी बढ़ जायँगे और बुद्धि उसमें आजायगी, और उसके विषय-भोग बढ़ते बढ़ते मानसिक सुख-भोग हो जायँगे। उसे सुंदर काव्यों के पढ़ने में आनंद आने लगेगा और गणित के प्रश्नों में उसका जी अधिक लगेगा। पर साथ ही साथ उसकी सूक्ष्म नाड़ियों में मानसिक वेदनाओं के

अनुभव करने की शक्ति बढ़ती जायगी, जिनका जंगली मनुष्य को स्वप्न में भी बोध नहीं हो सकता। एक सामान्य उदाहरण ले लीजिए। तिब्बत में विवाह की प्रथा नहीं है और वहाँ सौतिया डाह भी नहीं है पर फिर भी हम यह जानते हैं कि विवाह उच्च सभ्यता की अवस्था की चीज़ है। तिब्बतियों को इस अद्भुत सुख का बोध नहीं है। वे चारित्र्य के महत्त्व क्या जानें? उन्हें सती साध्वी पत्नी और एकपत्नीव्रत साधु पति होने से क्या आनंद होता है इसका बोध ही नहीं है। वे बेचारे उसे समझ ही नहीं सकते हैं। इसी प्रकार उन लोगों में वह डाह भी नहीं है जो पतिव्रता स्त्री को अपने पति के व्यभिचार पर वा पति को अपनी स्त्री के कुलटात्व पर हुआ करता है। सभ्य और पति-पत्नीभाव को पवित्र माननेवालों को जो जलन और दुःख इत्यादि हुआ करते हैं वे उन्हें नहीं होते। एक ओर तो सभ्य लोगों का आनंद बढ़ता है पर दूसरी ओर उन्हें दुःख की वेदना भी सहन करनी पड़ती है।

आप अपने देश इंगलैंड ही को ले लीजिए, वह तो सारे देशों से संपन्न है और वहाँ सुखभोग की सामग्रियाँ भी अन्य देशों से कहीं अधिक हैं, पर दुःख का भी तो वहाँ पारावार नहीं है। यहाँ कितने पागल हैं! किसी और जाति में इतने न निकलेंगे। इसका कारण यही है कि यहाँ कामनाएँ बहुत उत्कट हैं। मनुष्य को यहाँ उच्च कोटि का जीवन व्यतीत करना पड़ता है और जितना धन वह एक वर्ष में व्यय करता है उतने में भारत-

वर्ष का एक मनुष्य धनाढ्य बन सकता है। आप उसको सामान्य रीति से जीवन व्यतीत करने का उपदेश नहीं कर सकते, कारण यह है कि समाज में वैसे जीवन की आवश्यकता है, वह उसे विवश करता है। समाज का चक्र फिरा करता है; विधवाओं के रोने पीटने और अनाथ बच्चों के कलपने से वह रुकता नहीं है। सब जगह की यही दशा है। आपके सुख-बोध बहुत प्रोन्नत हो गए हैं, आपका समाज दूसरों से कहीं सुंदर है। आपके सुखभोग के लिये बहुत पदार्थ हैं। जिनके लिये कम हैं उन्हें दुःख भी तो कम हैं। आपको सर्वत्र यही सूझेगा, जितना ही ऊँचा आदर्श आपके मन में होगा उतनी ही अधिक आपको सुखोपलब्धि होगी और उतनाही अधिक दुःख भी होगा। एक दूसरे के साथ छाया से लगे हैं। यह हो सकता है कि बुराई कम होती जाती हो पर यदि ऐसा है तो भलाई भी घटती जाती होगी। पर मुझे तो बात कुछ ऐसी जँचती है कि बुराई बढ़ती जा रही है और भलाई घटती जा रही है। यदि भलाई गणित श्रेढ़ी की रीति से बढ़ती है तो बुराई ज्यामितिक श्रेढ़ी के क्रम से बढ़ती है। और यही माया है। यह न तो सुखवाद है न दुःखवाद। वेदांत का यह पक्ष कदापि नहीं है कि यह लोक केवल दुःख ही से भरा है। ऐसा कहना नितांत मिथ्या और अनर्गल है। साथ ही साथ यह भी भ्रम ही है कि इस लोक में सुख ही सुख है। अतः बालकों को यह कह कर बहकाना अच्छा नहीं है कि यहाँ फूल ही फूल हैं, दूध और मधु की नदियाँ हा बह

रही हैं, सब अच्छा ही अच्छा है। इसी का तो हम लोग अब तक स्वप्न देखते रहे हैं। साथ ही यह भी कहना भ्रम ही है कि केवल इसलिये कि एक मनुष्य को दूसरे की अपेक्षा अधिक दुःख है संसार में सब दुःख ही भरा है। यही द्वैत, यही सुख और दुःख का खिलवाड़ है जिससे हमारे अनुभव का संसार बनता है। पर साथ ही वेदांत दर्शन का यह कथन है कि यह मत समझो कि भलाई बुराई दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं, वे एक ही हैं और वही भिन्न भिन्न मात्रा और आकार में प्रगट होती है और एक ही मनुष्य के अंतःकरण में भिन्न भिन्न संवेदना को उत्पन्न करती है। अतः वेदांत का पहला विचार यह है कि बाह्य वस्तुओं में ऐक्य निर्धारित किया जाय अर्थात् यह कि एक ही सत्ता अपने को अभिव्यक्त कर रही है, देखने में चाहे वह कितनी विभिन्न क्यों न प्रतीत हो। पारसियों के प्राचीन अनगढ़ सिद्धांत पर ध्यान दीजिए जिसमें दो ईश्वर संसार के कर्त्ता माने गए हैं। सौम्य ईश्वर सब अच्छा करता है और बुरा सब बुरा करता है। यह तो देखने ही से अनर्गल जान पड़ता है; यदि यह ऐसा होता तो प्रकृति के सारे नियमों के दो भाग होते, आधा एक ईश्वर का निर्धारित किया हुआ और उसके निर्धारित कर लेने पर आधा दूसरे का चलाया हुआ होता। बड़ी अव्यवस्था यह है कि दो दो ईश्वर एक ही संसार में काम करें, और फिर भी दोनों मिल कर एक ही वस्तु के एक भाग को बनावें और दूसरे को बिगाड़ते रहें। यह एक अनगढ़ बात है और

प्रत्यक्ष द्वैत के व्यक्त करने की सचमुच एक अनगढ़ रीति है। पर ऐसे ही अधिक उत्कृष्ट और अधिक सूक्ष्म सिद्धांत को लीजिए कि यह जगत अंशत: अच्छा और अंशत: बुरा है। यह भी अनर्गल है, अयुक्त है। इसी दृष्टि से तर्क करके परीक्षा कर लो। यह एकता का नियम हमें भोजन देता है और इसी नियम से दूसरे लोग अचानक विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

हमें जान पड़ता है कि यह संसार न तो केवल सुख से हो भरा है और न केवल दु:ख ही से भरा है। इसमें सुख दु:ख दोनों मिले जुले हैं और आगे चल कर हमें जान पड़ेगा कि इसमें प्रकृति का कोई दोष नहीं, सारा दोष हमारे ही सिर है। साथ ही वेदांत उससे बचने का उपाय बतलाता है, वह सारी बातों की छानबीन करता है और किसी बात को छिपा नहीं रखता। इसी लिये वह बुराई के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता। वह न तो निराश करता है और न संशयवादी बनाता है। वह प्रतीकार ढूँढ़ कर निकालता है और निकाल कर उसे पत्थर की नींव पर जमा देता है; वह बच्चों की आँखों और मुँह को मिथ्या बातों से बंद नहीं कर देता है कि उन्हें थोड़े ही दिनों में उनका मिथ्यात्व प्रगट हो जाय। मुझे स्मरण आता है कि जब मैं बालक था एक नवयुवक के पिता का देहांत हो गया। वह बेचारा निर्धन रह गया और सारे कुटुंब के भरण पोषण का भार उसी के ऊपर पड़ा। उसके पिता के इष्ट मित्र उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं

देते थे। एक पादरी साहिब से उसकी बातचीत हुई और पादरी साहिब ने इस प्रकार उसका संतोष करना चाहा कि भाई सब अच्छा है, सब कुछ हमारी भलाई के लिये होता है। यह पुराने घावों पर सोने के पत्र चिपकाने का बड़ा ही पुराना ढँग चला आता है। यह अपनी दुर्बलता को स्वीकार करना है, असंभव उपाय है। बेचारा चला आया और छः महीने बीतने पर पादरी साहिब के घर लड़का उत्पन्न हुआ। पादरी साहिब ने ईश्वर को धन्यवाद देने के लिये लोगों को निमंत्रित किया और वह नवयुवक भी वहाँ निमंत्रित हो कर गया। पादरी साहिब उठ कर कहने लगे कि 'ईश्वर को उसकी दया के लिये धन्यवाद है'। वह नवयुवक उठा और कहने लगा कि 'ठहरिए यह सब दुःख ही है'। पादरी साहब ने उससे कारण पूछा तो नवयुवक ने उत्तर दिया कि जब मेरा बाप मर गया था तो आपने कहा था कि 'अच्छा ही है' यद्यपि वह स्पष्ट बुरा था; उसी प्रकार अब यह स्पष्ट अच्छा है पर सचमुच बुरा है। क्या संसार से दुःख दूर करने का यही उपाय है? अच्छे बनो और दीन दुखियों पर दया करो। फटे में थेगली लगाने का प्रयत्न मत करो। इस संसार से बुराई किसी प्रकार जा नहीं सकती—इसका एक-मात्र उपाय इससे परे जाना मात्र है।

यह संसार भलाई बुराई दोनों से मिलकर बना है। जहाँ भलाई है वहाँ बुराई भी साथ साथ लगी है। पर इन सब अभि-

व्यक्तियों के परे, उनकी ओट में, इतना सब विरोध होते हुए भी वेदांत को एकता मिलती है। वेदांत का कथन है कि 'भलाई के भी भाव को त्यागो और बुराई के भाव का भी परित्याग करो।' फिर रह क्या जाता है ? इस भलाई और बुराई की आड़ में वही है जो तुम्हारी सत्ता है, तुम्हारा वास्तविक रूप जो बुरे से भी परे है और भले से भी परे है, और यह वही है जो भले और बुरे दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। उसको पहले जानो और तभी आप सच्चे सुखवादी हो सकेंगे। उसके पहले कभी हो ही नहीं सकते। उसी समय आप सबको अपने वश में कर सकते हैं। इन अभिव्यक्तियों को अपने वश में कर लो, तभी आप अपने रूप को यथावत् व्यक्त करने के अधिकारी होंगे। अपने ऊपर अधिकार प्राप्त करो, अपने पैरों खड़े हो जाओ, स्वतंत्रता लाभ करो, इन नियमों के अधिकार के बाहर हो जाओ, क्योंकि स्मरण रखो कि ये नियम आप पर अधिकार नहीं रख सकते, ये आपका शासन नहीं करते हैं, ये केवल आप ही के अंशमात्र हैं। पहले यह जान लो कि आप प्रकृति के दास नहीं हैं, न कभी उसके दास थे और न होंगे; इस प्रकृति को आप अप्रमेय समझे थे, वह प्रमेय और परिमित है, केवल आपके आत्मारूपी समुद्र की एक बूँदमात्र है; आप चंद्र तारक, ग्रहोपग्रह और सूर्य्य भगवान तक से परे हैं। वे सब आपके अनंत रूप के आगे बुलबुले के सदृश हैं। उसे जान लीजिए और भले बुरे सब पर आप का अधिकार हो

जायगा। तभी सारा भ्रम मिट जायगा, दृश्य पलट जायगा और आप उस समय तटस्थ होकर कहेंगे कि भलाई भी कैसी अच्छी है और बुराई में भी क्या ही अनोखापन है।

यही वेदांत का उपदेश है। यह कोई क्षणिक उपाय इस प्रकार का नहीं बतलाता है कि घाव पर सोने का पत्तर चिपकाओ और ज्यों ज्यों घाव सड़ता जाय और पत्र चिपकाते चले जाओ। यही जीवन बड़ी कठिन समस्या है; इसमें धीरता से प्रयत्न करो, कर्म करो; अष्टधाती दीवाल क्यों न पड़े कुछ चिंता नहीं; आपकी आत्मा तो कहीं प्रबल है। वेदांत छोटे छोटे देवताओं पर भरोसा करने के लिये नहीं कहता है, उसका उद्देश है कि आप ही अपने भाग्य के बनानेवाले हैं। आप ही अपने आपको दुःख में डालते वा दुःखी बनाते हैं, आप ही अच्छे भी बनते हैं और बुरे भी बन जाते हैं; आपने अपनी आंख आप मूँद रखी है और फिर यह चिल्ला रहे हैं कि अंधकार है, अंधकार है। आंख पर से हाथ हटा लीजिए और देखिए तो अँधेरा कहीं नहीं है, प्रकाश ही प्रकाश तो हो रहा है। आप स्वयंप्रकाश हैं, आप सदा से शुद्ध और पूर्ण हैं। अब तो इस वाक्य का तात्पर्य्य समझ में आगया होगा कि 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यदिह नानेव पश्यति' अर्थात् वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त हुआ करता है जो यहाँ नानात्व देखता है। उस एक को देखो और मुक्त हो जाओ।

पर हम उसे देखें तो कैसे देखें ? यह मन तो इतना धोखा खा चुका है कि कहीं ठिकाना नहीं; बड़ा ही दुर्बल है,

जिधर खींचो उधर खिंच जाता है ! पर यही मन प्रबल हो सकता है, इसी में उस ज्ञान की झलक, उसी एकता की झलक पड़ सकती है, जो हमें बार बार मृत्यु से बचाती है। जैसे पहाड़ पर पानी बरसता है तो वह अनेक छोटे छोटे नाले और नदियों से होकर पहाड़ पर से बह चलता है उसी प्रकार सारी शक्तियाँ जिन्हें आप इस संसार में देखते हैं उसी एक से आती हैं। वे माया पर गिरने मात्र के कारण अनेक हो गई हैं और भासमान होती हैं पर उनका लय उसी एक ही में है, उनकी गति वहीं है। नाना के पीछे मत भटको, एक की ओर बढ़ो। वह उन सबमें है जो गति कर रहे हैं; वह उन सबमें है जो शुद्ध हैं, वह विश्व में परिपूर्ण हो रहा है; वही यज्ञ में है; वही अतिथि है; वही मनुष्य में है, वही जल में है; वही पशु में है, वही सत्य में है, वह महान् है। जैसे अग्नि इस संसार में प्रविष्ट होकर नाना रूपों में व्यक्त हो रही है वैसे ही विश्व की एक आत्मा भिन्न भिन्न रूपों में अपने को व्यक्त कर रही है। जैसे वायु इस संसार में प्रविष्ट होकर नाना रूपों में व्यक्त हो रही है वैसे ही विश्व की एक अंतरात्मा भिन्न भिन्न रूपों में अपने को व्यक्त कर रही है। यह आपको उस समय सत्य जान पड़ेगा जब आप एकत्व को जान लेंगे; उसके पहले कभी नहीं। तब आपको चारों ओर सुख ही सुख भासित होगा। कारण यह है कि आपको सब ओर वही एक दिखाई पड़ेगा। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि यह बात ठीक है कि वही एक

शुद्ध अप्रमेय आत्मा सबमें प्रविष्ट है तो फिर इसका क्या कारण है कि वह दुखी और मलिन हो रही है ? उपनिषद् का कथन है कि वह दुखी और मलिन नहीं होती है। "जैसे सूर्य्यदेव जो सबकी दृष्टि के कारण हैं, किसी के दृष्टिदोष से दूषित नहीं होते हैं इसी प्रकार वह सबकी आत्मा शारीरिक और बाह्य दुःखों से दुखी नहीं होती है।" मान लीजिए मुझे कमल-रोग हो गया है और मुझे सारे पदार्थ पीले पीले दिखाई पड़ते हैं तो क्या इतने मात्र से सूर्य्य भगवान् पीले हो जायँगे ? "वह सबका स्रष्टा, सबका शासक, सबकी अंतरात्मा एक ही है जो अपनी एकता को अनेक बनाए हुए है। अतः उन ऋषियों के लिये जिन्होंने उसे अपनी आत्मा की भी आत्मा जाना शाश्वत शांति है; दूसरों के लिये नहीं, दूसरों के लिये नहीं।" इस परिवर्तनशील संसार में जो उस न बदलनेवाले को देखता है, इस मृत्यु के संसार में जो उस एक जीवन को देखता है, जो इस नानारूप में उस एक को देखता है, जो उसे अपनी आत्मा की आत्मा समझता है, उसी के लिये शाश्वत शांति है, दूसरों के लिये नहीं, दूसरों के लिये नहीं। वह बाह्य जगत् में कहाँ मिलने का है, सूर्य्य, चंद्र और तारों में कहाँ मिलनेवाला है ? "वहाँ सूर्य्य का प्रकाश ही नहीं पहुँच सकता, न चंद्रमा और तारों का प्रकाश पहुँच सकता है, विद्युत् की चमक उसे प्रकाशित नहीं कर सकती है; फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या ? उसके चमकने ही से तो सब चमकते हैं; यह उसी का प्रकाश है जिससे सब प्रकाशित जान पड़ते हैं,

वही उन सबमें होकर प्रकाशमान हो रहा है।" यहाँ देखिए क्या ही अच्छी उपमा है। आप लोगों में जो लोग भारतव° गए हैं उन्होंने देखा होगा कि वट का वृक्ष कितना बड़ा होता है, वह एक जड़ से बढ़ कर अपने चारों ओर अपनी डालियाँ फैला कर कितने विस्तृत स्थान में फैला रहता है। वे लोग इसे बड़ी सुगमता से समझ जायँगे। आत्मा एक वटवृक्ष है, वही सबका मूल है और अपनी शाखा प्रशाखा फैला कर वही विश्व होगया है। उसकी शाखा प्रशाखा कितनी ही दूर तक क्यों न फैली हों उनका संबंध अपनी जड़ से बना रहता है।

वेदों के ब्राह्मण भाग में अनेक स्वर्गों के नाम आए हैं पर उपनिषद् की दार्शनिक शिक्षा स्वर्ग जाने के भाव को बिलकुल छोड़ देती है। उपनिषद् की शिक्षा है कि आनंद इस स्वर्ग में या उस स्वर्ग में कहीं नहीं है, वह आत्मा में है; स्थान विशेष से कुछ होता नहीं है। यहाँ एक और वाक्य है जिसमें साक्षात्कार की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। "सत्य का स्वरूप पितृलोक में स्वप्नवत् दिखाई पड़ता है"। स्वप्न में जो बातें देख पड़ती हैं वे स्पष्ट नहीं होती हैं वैसे ही पितृलोक में सत्ता का बोध होता है। दूसरा स्वर्ग गंधर्वलोक है वहाँ बोध उससे भी कुछ कम स्पष्ट है, वहाँ वह सत्ता वैसी देख पड़ती है जैसे मनुष्य को पानी में अपनी छाया दिखाई पड़ती है। हिंदुओं की कल्पना में सबसे उच्च स्वर्ग ब्रह्मलोक है वहाँ सत्य और अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जैसे प्रकाश छाया पर, इससे अधिक

स्पष्ट नहीं। किंतु मनुष्य को अपनी आत्मा में सत्य का स्वरूप वैसा ही पूर्ण, निःसंदेह और स्पष्ट दिखाई पड़ता है जैसे उसे दर्पण में अपना मुँह देख पड़ता है। अतः सबसे उत्कृष्ट और उत्तम स्वर्ग हमारी आत्मा ही में है। वेदांत कहता है कि मनुष्य की आत्मा सब मंदिरों से बड़ा मंदिर है, सारे स्वर्गों से सर्वोत्तम स्वर्ग है क्योंकि सत्ता का बोध हमें किसी स्वर्ग में वैसा स्पष्ट और यथार्थ नहीं होता है जैसा कि इस जीवन में, हमारी इसी आत्मा में, उसका बोध होता है। स्थान के परिवर्त्तन से किसी को उतना लाभ नहीं है और न कुछ उससे आत्मबोध में सहायता ही मिलती है। जब मैं भारतवर्ष में था मैं समझता था कि गुफाओं में मुझे ज्ञान की दृष्टि मिलेगी। पर वहाँ जाने पर मेरे हाथ कुछ न आया। फिर मैंने समझा कि वह जंगल में उपलब्ध होगी; फिर वहाँ भी वैसा ही हुआ। फिर मैं काशी गया वहाँ भी वही बात। सारांश यह है कि वही कठिनाई चारों ओर पड़ती गई क्योंकि हम अपना संसार अपनी कल्पना से आप बनाया करते हैं। यदि मैं बुरा हूँ तो सारा संसार मेरे लिये बुरा है। यही बात है जो उपनिषद् में कही गई है। और वही बात सारे लोकों के लिये ठीक बैठती है। यदि मैं मरने पर स्वर्ग जाऊँ तो वहाँ भी वही बात बनी रहेगी क्योंकि जब तक मैं शुद्ध न होऊँ तब तक गुफाओं में, जंगल में, काशी में वा स्वर्ग में जाने से कुछ नहीं होता; पर यदि मैंने अपने दर्पणरूप अंतःकरण को साफ़ कर लिया है तो मैं चाहे जहाँ रहूँ मुझे सत्ता का यथार्थ बोध होगा। अतः

इधर उधर भटकते फिरना और व्यर्थ शक्ति क्षय उठाना किसी प्रयोजन का नहीं है, वही शक्ति हम अपने दर्पण के साफ करने में लगा सकते हैं। वही बात इन शब्दों में फिर कही गई है कि "वह किसी को दिखाई नहीं पड़ता है, उसके रूप को कोई अपनी आँखों से नहीं देख सकता, उसका दर्शन तो केवल अंतःकरण में और शुद्ध अंतःकरण में होता है और यों अमृतत्व प्राप्त होता है।"

वे लोग जो ग्रीष्मकाल के राजयोग के व्याख्यानों में उपस्थित थे यह जानें कि वह योग जिसकी शिक्षा उस समय दी गई थी और प्रकार का योग था। वह योग जिसकी शिक्षा हम इस समय दे रहे हैं मुख्यतः इंद्रियों के वश करने का योग है। जब इंद्रियाँ आत्मा के वशीभूत हो जाती हैं और जब वे हमारे मन को विचलित नहीं कर सकतीं तभी योगी को परमपद की प्राप्ति होती है। "जब अंतःकरण की सारी व्यर्थ कामनाएँ छूट जाती हैं तभी यह मरणधर्मा अमर हो जाता है और उस समय वह इस लोक में होते हुए भी ब्रह्ममय हो जाता है। जब हृदय की सारी गाँठें छिन्न भिन्न हो जाती हैं उसी समय मनुष्य अमर हो जाता और यहीं ब्रह्मानंद का अनुभव करता है।" यहीं, इसी पृथ्वी पर, अन्यत्र नहीं।

थोड़ी सी बातें यहाँ और कहने की आवश्यकता है। आप लोगों ने प्रायः सुना होगा कि यह वेदांतदर्शन और अन्य पूर्वीय दर्शन किसी परे के पदार्थ की ओर ताकते हैं,

और संसार के सुख और दुःख की चिंता उसी की आशा में छोड़ते हैं। यह बात नितांत मिथ्या है। ये केवल ऐसे अज्ञानियों की बातें हैं जिन्हें पूर्वीय दर्शनों का कुछ बोध नहीं है। जिन्हें उनकी वास्तविक शिक्षा के समझने का मस्तिष्क नहीं है, वेही लोग ऐसा कहा करते हैं। इसके विरुद्ध हमें तो अपने धर्मग्रंथों में यह मिलता है कि हमारे ऋषि यह भी नहीं चाहते कि आप इस लोक को छोड़ कर दूसरे लोक में जाइए, वे तो कहते हैं कि उन लोकों में भी लोग कुछ काल तक हँसते रोते हैं और अंत को मर जाते हैं। यों वे उन लोकों की कदर्थना करते हैं। जब तक हम में निर्बलता है हमें इन सब लोकांतरों के अनुभवों में घूमते रहने की आवश्यकता है, किंतु जो सत्य है वह तो यहाँ ही धरा है, वह मनुष्यों की आत्मा ही है। और यह भी बलपूर्वक कहा गया है कि आत्मघात करके भी आप उससे बच नहीं सकते। जो अवश्यंभावी है उसे हम मिटा नहीं सकते। ठीक मार्ग का पाना कठिन है। हिंदू लोग वैसे कर्मनिष्ठ हैं, जैसे पश्चिम के लोग। केवल थोड़ा सा जीवन के विचारों में अंतर है। उनका कथन है कि अच्छे घर बना लो, अच्छे अच्छे कपड़े पहनो, अच्छे अच्छे खाने खाओ, बुद्धि के सुख बढ़ाओ, मनोविनोद करो, क्योंकि जीवन में यही परम कर्तव्य है; पर हिंदू का कथन है कि संसार का सच्चा ज्ञान आत्मज्ञान है, प्रकृति के परे का ज्ञान है, और वह उसी में अपना जीवन सुखपूर्वक बिताना चाहता है।

अमेरिका में एक संशयवादी था। वह बड़ा ही सज्जन, बड़ा ही सभ्य और बड़ा ही अच्छा वक्ता था। एक दिन उसका धर्म पर व्याख्यान हुआ। उसने कहा कि धर्म किसी काम का नहीं है; क्यों हम परलोक के लिये व्यर्थ माथापच्ची करें? उसने उस समय एक उपमा दी थी कि हमारे पास एक नारंगी है और हम उसके सारे रस को निचोड़ना चाहते हैं। एक समय मैं उससे मिला। मैंने उससे कहा कि भाई, हमारा और आप का कुछ भी मतभेद नहीं है, मैं आपकी सारी बातें मानता हूँ। मेरे पास भी एक फल है और मैं भी उसका सारा रस निचोड़ना चाहता हूँ। भेद केवल इस बात में है कि आपको नारंगी रुचती है और मुझे आम। आप समझते हैं कि खाना पीना और कुछ विज्ञान की बातें जान कर यहाँ सुखपूर्वक रहना ही सब कुछ है; यह ठीक है कि आपके लिये ऐसा ही हो पर आपको यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि यही सब की रुचिके लिये ठीक है। आपका यह विचार मेरी दृष्टि में कुछ भी नहीं है। यदि मुझे इतना ही जानने योग्य होता कि सेब कैसे भूमि पर गिरती है वा विद्युत्-प्रवाह कैसे नाड़ियों में कम्प उत्पन्न करता है तो मैं तो मर ही जाता। मैं तो सब पदार्थों के तत्व को समझना चाहता हूँ जो सब का मूल तत्त्व है। आप जीवन की अभिव्यक्तियों के अभ्यास करनेवाले हैं और मैं स्वयं जीवन का अध्ययन करनेवाला। मेरा दर्शन तो यह कहता है कि उस जीवन का ही ज्ञान संपादन करो और स्वर्ग, नरक आदि मिथ्याबोधों को, चाहे

उनकी स्थिति उसी प्रकार क्यों न हो जिस प्रकार इस जगत् की स्थिति है, मन से निकाल दो। मैं तो इस जीवन का रहस्य, इस जीवन का तत्त्व जानना चाहता हूँ, इतना ही नहीं कि यह कैसे काम करता है और इसकी अभिव्यक्तियाँ क्या क्या हैं, किंतु यह कि यह है क्या। मैं प्रत्येक पदार्थ का कारण जानना चाहता हूँ, वह कैसे काम करता है यह बच्चों के लिए छोड़े देता हूँ। जैसा कि आप ही के देश के एक महाशय का कथन है कि 'यदि मैं चुरुट पीते समय कोई पुस्तक लिखूँ तो उसमें चुरुट के विज्ञान की बातें होंगी'। वैज्ञानिक होना बहुत अच्छा और बड़े महत्त्व की बात है, ईश्वर वैज्ञानिकों को उनकी खोज में सफलता दे; पर बिना जीवन के निदान के लिये कष्ट उठाए हुए और बिना सत्ता का अध्ययन किए हुए जब कोई यह कहता है कि बस यह विज्ञान ही सब कुछ है, तो यह उसकी मूर्खता की बात है। मैं भी कह सकता हूँ कि आपका सारा विज्ञान बिना मूल का होने से व्यर्थ है। आप जीवन की अभिव्यक्तियों का अध्ययन कर रहे हैं और अब मैं आपसे पूछता हूँ कि जीवन क्या है तो आपको यही कहते बनता है कि हम नहीं जानते। आपका अध्ययन आपके लिये सौभाग्यजनक हो पर कृपया मुझे तो मेरी खोज करने दीजिए।

मैं कर्मनिष्ठ हूँ और अपने ढंग का बड़ा ही कर्मनिष्ठ हूँ। अत: आपका यह विचार कि केवल पश्चिम के लोग कर्मनिष्ठ

हैं ठीक नहीं है। आप एक दृष्टि से कर्मनिष्ठ हैं तो मैं दूसरी दृष्टि से कर्मनिष्ठ हूँ। भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्य हैं, उनकी रुचि भी भिन्न भिन्न है। यदि हमारे यहाँ किसी से यह कहा जाय कि तुम सारे जीवन भर एक पैर से खड़े रहो तो तुम्हें सत्य मिल जायगा तो वह उसे करने लगेगा। यदि पश्चिम के लोग यह सुन पावें कि किसी असभ्य देश में सोने की खान है तो सोने के लालच से हजारों मनुष्य चढ़ धावेंगे, अनेक आपत्तियों को झेलेंगे; संभवतः उनमें एक आधही को वह खान मिले तो मिले। वे ही लोग यह बात भी सुन चुके हैं कि हमारे आत्मा है पर उसकी रक्षा का भार गिरजे के सिर पर छोड़ कर निश्चिंत बैठे हैं। भारत का कोई मनुष्य जंगली मनुष्यों के पास न जायगा। वह कहेगा कि संभव है कुछ भय में पड़ना पड़े। पर यदि उसी से यह कहा जाय कि पर्वत के शिखर पर एक सिद्ध महात्मा रहते हैं, वे आत्मज्ञान का उपदेश करेंगे, तो वही पर्वत के शिखर पर चढ़ने का प्रयत्न करेगा, चाहे उसमें उसके प्राण ही क्यों न चले जाँय। दोनों प्रकार के लोग कर्मनिष्ठ हैं, पर भ्रम इतने मात्र में है कि इसी संसार को सब कुछ समझना। आपका लक्ष्य इंद्रियों का क्षणिक विषयभोग है, जो स्थायी नहीं है और उससे दुःख पर दुःख होते हैं, पर मेरा लक्ष्य शाश्वत शांति है।

मैं यह नहीं कहता कि आपके विचार ठीक नहीं हैं। आपके विचार आपके लिये कल्याणकारी हों, उनसे आपका बहुत

भला होता है, पर आप कृपा करके मेरे विचार की निंदा न कीजिए। मेरा विचार भी अपने ढँग पर ठीक है। हमें अपने अपने क्षेत्र में काम करना चाहिए। ईश्वर करे कि दोनों अपने अपने क्षेत्र में काम करने में बराबर सफल मनोरथ हों। मुझे कुछ ऐसे वैज्ञानिक भी मिले हैं जिनको विज्ञान और अध्यात्म दोनों में समान अभ्यास था, और मुझे आशा है एक समय सारे मनुष्य उसी प्रकार दोनों विषयों में निपुण हो जायँगे। जब हाँडी में पानी उबलने लगता है तब आप देखें तो जान पड़ेगा कि पहले एक बुलबुला उठता है, तब दूसरा उठता है और इस प्रकार उठते उठते सब अंत को मिल जाते हैं और बड़ा क्षोभ होने लगता है। यह संसार भी वैसा ही है। प्रत्येक व्यक्ति एक बुलबुला है और जातियाँ बुलबुलों के समूह हैं। धीरे धीरे ये जातियाँ मिल रही हैं और मुझे विश्वास है कि वह दिन आवेगा जब सारा भेदभाव मिट जायगा और केवल एकता, जिसकी ओर हम सब जा रहे हैं, प्रगट हो जायगी। एक समय आनेवाला है और वह अवश्य आवेगा जब सब लोग विज्ञान और अध्यात्म दोनों में बराबर निपुण हो जायँगे और उस समय वह एकता, जो एकतान की एकता होगी, सारे संसार में व्याप्त हो जायगी, सारी मनुष्य जाति जीवन्मुक्त हो जायगी, हम सब ईर्ष्या से, द्वेष से, प्रेम से, सहानुभूति से, उसी ओर जा रहे हैं। एक वेगवती नदी समुद्र की ओर लहर मारती बह रही है और

उसी के प्रवाह के साथ हम सब भी बहे जा रहे हैं; चाहे हमारी गणना तिनके ही के बराबर क्यों न हो, फिर भी बहते बहते हम भी कभी उस जीवन और आनंद के सागर में अवश्य ही पहुँच जायेंगे। इसका दृढ़ विश्वास रखिए।

---

(१०) आत्मा की स्वतंत्रता।

कठोपनिषद्, जिसकी कथा हमने सुनाई, छांदोग्योपनिषद् से बहुत पीछे का है। उसकी कथा आज हम आपको सुनाते हैं। कठोपनिषद् की भाषा आधुनिक और विचार अधिक परिष्कृत हैं। प्राचीन उपनिषदों की भाषा वेदों की संहिताओं की भाषा की सी आर्ष है और उनमें सारसिद्धांत पाने के लिये अनावश्यक बातों में होकर जाना पड़ता है। वेदों के दूसरे भाग, ब्राह्मण भाग, का विषय कर्मकांड है, उस कर्मकांड साहित्य के बारे में मैं आपसे पहले कह चुका हूँ। उसकी छाया इस पुराने उपनिषद् (छांदोग्य) पर बहुत पड़ी है, यहाँ तक कि आधा उपनिषद् कर्मकांड की बातों से भरा हुआ मिलता है। प्राचीन उपनिषदों के अध्ययन में एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि उनके अध्ययन से आपको आध्यात्मिक विचारों के विकाश के इतिहास का पता लगता है। नवीन उपनिषदों में आध्यात्मिक विचार सब इकट्ठे करके रख दिए गए हैं; उदाहरण के लिये भगवद्गीता ही को ले लीजिए; वह सबसे अंतिम उपनिषद् माना

जाता है। उसमें आपको कर्मकांड का एक छींटा भी न देख पड़ेगा। गीता के माने फूलों का एक गुच्छा है जिसमें उपनिषदों के सुंदर सुंदर आध्यात्मिक विचार चुन चुन कर एकत्रित किए गए हैं। पर गीता में आपको यह बात न मिलेगी कि इन आध्यात्मिक विचारों का विकाश कैसे हुआ; आपको उनका स्रोत तक का पता नहीं लग सकता। इसके लिये, जैसा कि अनेक लोगों ने बतलाया है, वेदों के अध्ययन की आवश्यकता है। वेदों को वहाँवाले सबसे अधिक पवित्र मानते हैं। यही कारण है कि आज तक वेद ज्यों के त्यों बने हुए हैं, इतनी प्राचीन अविकृत पुस्तक संसार में दूसरी नहीं है। उसमें ही सब ऊँचे नीचे सारयुक्त और निःसार सभी प्रकार के विचार संगृहीत और सुरक्षित हैं। उनमें सर्वोच्च शिक्षाएँ और साधारण व्यवहार की बातें पास ही पास मिलती हैं, कारण यह है कि उनमें किसी ने हाथ नहीं लगाया है। भाष्य-कार अपने अपने समय पर उनपर लीपा पोती कर गए हैं और उन पुराने मंत्रों से उन्होंने नवीन और अद्भुत भावों को निकालने का प्रयत्न किया है, पर मूल ज्यों का त्यों अछूता बना है और ऐतिहासिक दृष्टि से वे बड़े काम की चीज़ें हैं। हम लोग यह जानते हैं कि सब धर्मों के धर्मग्रंथों में समय समय के आध्यात्मिक विचारानुसार परिवर्तन हुआ है; और देशकालानुसार एक शब्द निकाल कर दूसरा शब्द रखा गया है। पर ऐसा परिवर्तन वेदों में कभी नहीं किया गया है, और यदि हुआ भी हो तो उसकी पहिचान नहीं होती है। अतः यह एक बड़ी विशेषता

की बात है कि हमें उन विचारों को उनके वास्तविक रूप में देखने का सौभाग्य प्राप्त है और हम उनसे यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं कि कैसे सीधे सादे भौतिक विचार सूक्ष्म होते होते आध्यात्मिक होते गए हैं और अंत में वेही वेदांत के उच्च विचार बन गए हैं। इसमें संदेह नहीं कि यहाँ कुछ न कुछ प्राचीन रीति नीति का उल्लेख अवश्य मिलता है पर उपनिषदों में अधिक नहीं। भाषा विशेषत: संक्षिप्त और कंठाग्र करने जैसी है।

इन पुस्तकों के लेखकों ने इन वाक्यों को उन बातों के स्मरणार्थ ही लिख लिया था जो उन्हें बहुत प्रसिद्ध जान पड़ी थीं। कथाओं के कहते समय संभवत: उन लोगों ने यह मान लिया है कि जिन लोगों से कथा कही है वे उसे अच्छी तरह जानते हैं। इससे एक बड़ी कठिनाई यह पड़ती है कि वे कथाएँ अब लुप्तप्राय हो गई हैं और बहुत कम बच रही हैं और जो थोड़ी बची बचाई हैं उनमें अत्युक्तियों की भरमार है, यही कारण है कि उनका ठीक अभिप्राय हमारी समझ में नहीं आता है। कितनी कथाओं की तो इतनी काया पलट हो गई है, उनमें इतना नया अर्थ बढ़ा दिया गया है कि पुराणों में आते आते वे काव्य बन गई हैं। जैसे पश्चिम की जातियों के राजनैतिक विकास में यह बात प्रधान देख पड़ती है कि वे अनियंत्रित शासन को सहन नहीं कर सकती हैं, सदा इसका विरोध करती रही हैं कि कोई पुरुषविशेष उन पर शासन करे, और धीरे धीरे उच्च उच्च सार्वजनिक विचारों

और उच उच लौकिक स्वातंत्र्य की ओर पैर बढ़ाती जाती हैं, इसी प्रकार भारतवर्षवालों की दशा अध्यात्म विद्या में है, ऐसी ही बातें उनकी आध्यात्मिक उन्नति में भी देख पड़ती हैं। अनेक देवताओं के स्थान में इस विश्व का शासक एक ईश्वर माना गया, फिर उपनिषदों में इसी एक ईश्वर के विरुद्ध बगावत की बातें देख पड़ती हैं। न केवल यह भाव, कि विश्व के अनेक शासक हैं जो हमारे भाग्यों के विधाता हैं, उनको असह्य प्रतीत हुआ, अपि तु उन्हें यह भी असह्य हो गया कि विश्व का कोई एक शासक हो। इन ग्रंथों में पहली बात तो यह ध्यान में आती है। यह भाव बढ़ता गया और बढ़ते बढ़ते पराकाष्ठा को पहुँच गया। लगभग सारे उपनिषदों में यही भाव अंत में पराकाष्ठा तक पहुँचता देखा जाता है और वह विश्व के ईश्वर को ईश्वरता से च्युत करने का भाव है। ईश्वर की पुरुषविशेषता का भाव नष्ट होता जाता है और अपुरुषविधि सत्ता का भाव आता जाता है। फिर तो ईश्वर पुरुषविशेष नहीं रह जाता है। चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, उसे कितना ही विराट् क्यों न बनाया जाय, उसकी महिमा कितनी ही क्यों न बढ़ाई जाय, वह विश्व का शासक नहीं रह जाता, वह एक ऐसी परमतत्त्व सत्ता बन जाता है जो संसार के सारे पदार्थों में, समस्त विश्व में निदान रूप से व्याप्त होता है। एक-पुरुष विधि ईश्वर को तो अपुरुषविधि सर्वदेशी सत्ता बनाया जाय पर मनुष्य ज्यों का त्यों बना रहने दिया जाय, यह कैसी अयुक्त

बात थी। अत: व्यक्ति विशेष मनुष्य का नाश किया गया और उसके स्थान पर सत्तामात्र का मनुष्य बनाया गया। यह व्यक्त मनुष्य एक पर्दा ठहरा और उसकी आड़ में वही सत्तामात्र पुरुष रहा। अत: हम देखते हैं कि दोनों ओर से व्यक्तता का नाश साथ ही साथ होता गया है और दोनों सत्ता की ओर पहुँचते गए हैं। पुरुषविशेष ईश्वर सत्तामात्र ब्रह्म हो गया और व्यक्तिविशेष पुरुष सत्तामात्र पुरुष बन गया। फिर इसके पीछे की अवस्थाएँ आती हैं, अर्थात् सत्तामात्र ब्रह्म और सत्तामात्र पुरुष इन दो भिन्न भिन्न भावरूपी रेखाओं की क्रमश: एकता वा समवाय की दशा। और उपनिषद् में उन अवस्थाओं का वर्णन है जिन में इन दोनों सूत्रों की एकता हो गई है और सारे उपनिषदों का अंतिम वाक्य 'तत्त्वमसि' है अर्थात् एक ही आनंदमय ब्रह्म है और वही नाना रूपों में व्यक्त हो रहा है।

फिर तो दार्शनिक लोग आ जाते हैं। अब उपनिषद् का काम मानो यहीं समाप्त हो जाता है और अब आगे दार्शनिकों का काम आता है। उपनिषदों ने ढाँचा बना कर खड़ा कर दिया, अब उसको ठीक ठाक करना दार्शनिकों के लिये रह गया। अवश्य ही अनेक भाँति के प्रश्न उठ खड़े हुए। जैसे मान लीजिए कि केवल एक ही सत्तामात्र ब्रह्म है और वही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है, पर यह तो बतलाइए कि वह एक से अनेक हुआ कैसे? यह उसी पुराने प्रश्न का रूपांतर मात्र है जो अपने स्थूल रूप में लोगों के मन में इस प्रकार उठा करता था कि

संसार में बुराई आदि क्यों हैं ? उनका कारण क्या है ? वही प्रश्न अब परिष्कृत और सूक्ष्म हो गया है । वह अब की बार विषय भोग के विचार से इस रूप में नहीं उठता कि हम दुखी क्यों हैं, अपि तु दार्शनिक दृष्टि से उठता है कि वह एक ब्रह्म अनेक कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि यह सब माया है । भारतवर्ष ने इसका सबसे ठीक उत्तर यही माया का सिद्धांत दिया है । अर्थात् सच मुच वह अनेक नहीं हुआ है और न उसके स्वरूप में ही कुछ अंतर पड़ता है । यह नानात्व केवल भासमान होता है । मनुष्य बाह्य दृष्टि से व्यक्त भाषित होता है पर वस्तुतः वह सत्तामात्र ही है। ईश्वर भी उसी तरह पुरुषविधि से भासमान भले ही हो पर वह भी है केवल सत्तामात्र ब्रह्म ही ।

इस उत्तर में भी उत्तरोत्तर अवस्थाएँ थीं। दार्शनिकों में मतभेद बना ही रहा। सभी भारतीय दार्शनिकों ने माया के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया। संभवतः बहुतों ने उसे नहीं माना। जैसे द्वैतवादी ही हैं, जिन्होंने साधारण द्वैत के भरोसे यह प्रश्न उठने ही नहीं दिया, उत्पन्न होते ही उसका गला घोंट दिया । उनका कथन है कि आपको ऐसा प्रश्न करने का अधिकार ही नहीं है, आप इसका उत्तर नहीं माँग सकते; यह केवल हरि की इच्छामात्र है और हमें चुपचाप उसे मानना चाहिए। मनुष्य की आत्मा स्वतंत्र नहीं है। जो कुछ हम करते हैं, पाते हैं, सुख वा दुःख भोगते हैं सब पहले से नियत है, सब

दैवाधीन है; दु:ख पड़े तो हमें उसे शांतिपूर्वक सहना चाहिए, यदि हम नहीं सहते तो और भी अधिक दंड पावेंगे। यदि पूछो इसका तुम्हें ज्ञान कैसे हुआ ? इसका उत्तर वे यह देते हैं कि वेद ने ऐसा कहा है। इसके लिये उनके पास प्रमाण में मंत्र और भाष्य हैं और उन्हीं को वे मनवाना चाहते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो माया के सिद्धांत को तो नहीं मानते हैं पर वे द्वैत और अद्वैत दोनों के बीचों बीच के हैं। उनका कथन है कि सारा विश्व मानो ईश्वर का शरीर है और ईश्वर सारे विश्व और आत्माओं की आत्मा है। जीवात्मा की दशा में पाप से संकोच उत्पन्न हो जाता है। जब मनुष्य पाप करता है तो उसकी आत्मा संकुचित होने लगती है और उसकी शक्तियों का ह्रास होने लगता है। यह तब तक होता जाता है जब तक वह फिर पुण्यकर्म न करे। फिर उसकी आत्मा विकसित होने लगती है। एक भाव, भारतवर्ष के सारे दार्शनिक सिद्धांतों में, और मेरा तो विचार है कि संसार के सारे सिद्धांतों में, चाहें उन्हें उसका ज्ञान हो वा न हो, व्याप्त जान पड़ता है और वह मनुष्य की आत्मा की देवांशता है। संसार में कोई भी ऐसा सिद्धांत, एक भी ऐसा धर्म न होगा जिसमें यह भाव न हो कि मनुष्य की आत्मा चाहे वह कुछ हो, चाहे उसका ईश्वर के साथ कुछ भी संबंध क्यों न हो, शुद्ध और परिपूर्ण अवश्य है, चाहे इस बात का वर्णन पुराणों की भाषा में, वा अलंकारों में वा दार्शनिक बोलचाल में क्यों न हो। परमानंद और

शक्तिमत्ता आत्मा का वास्तविक गुण है, दुर्बलता और दुःख नहीं। उसमें किसी न किसी प्रकार दुःख आगया है। स्थूल सिद्धांतों में दुःख को मूर्तिमान बुराई, शैतान वा अहिमन कह कर इस दुःख के आने के कारण का समाधान किया गया। दूसरे दर्शनों में एक ही में ईश्वर और शैतान की भावना की गई है जो अपने मन की मौज से विना किसी हेतु के किसी को सुख और किसी को दुःख देते रहते हैं। कोई कोई अधिक विचारशील लोग माया के सिद्धांत आदि को ले आते हैं, पर एक बात स्पष्ट है और उससे ही हमें काम है। सारांश यह है कि दर्शनों की बातें मानसिक व्यायाम और बुद्धि की कलाबाज़ियां मात्र हैं, सब से महत्व का भाव जो मुझे बहुत ही स्पष्ट और सारे देश और सारे धर्मों में मूढ़ विश्वासों की धुंध में से प्रकाशमान रह कर आया हुआ जान पड़ता है वह यही दिव्य विचार है कि मनुष्य की आत्मा दैवी है और दैवी शक्ति हमारी प्रकृति में है।

इसके अतिरिक्त और जो कुछ मिलता है वह केवल ऊपर से डाल दिया गया है, चढ़ा दिया गया है, या जैसे वेदांती कहते हैं आरोप मात्र है, कोई विकार ऊपर से थोप दिया गया है, किंतु वह दैवी प्रकृति कभी नष्ट नहीं होती; नीच से नीच और ऊँच से ऊँच में वह सदा मिलती है। इसी को प्रगट करना चाहिए, फिर यह अपना विकास स्वयं कर लेगी। इस दैवी रूप से कहा कि यह प्रगट हुआ। आगे के लोग जानते थे कि चक-मक पत्थर और रूखी लकड़ी में आग है, पर आग को प्रगट करने

के लिये संघर्षण की आवश्यकता थी । इसी प्रकार यह स्वतंत्रता और शुद्धता की आग मनुष्य की आत्मा का स्वरूप है, गुण नहीं है। गुण तो अन्य के संसर्ग से आ भी जाते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं । आत्मा ही स्वतंत्रता है, आत्मा ही सत् है और आत्मा ही ज्ञान है। सत् चित् और आनंद (निरपेक्ष सत्ता ज्ञान और आनंद) आत्मा का रूप है, यह उसका सहज स्वभाव है । अन्य अभिव्यक्तियाँ जो हमें देख पड़ती हैं, इसी आत्मा की अभिव्यक्तियाँ हैं जिनमें वह अपने को मलिन वा विमल रूप से प्रगट करती है, यहाँ तक कि मृत्यु भी उसी परमसत्ता की केवल एक अभिव्यक्ति है। जन्म और मरण, स्थिति और लय, बिगाड़ और बनाव, सब उसी अद्वितीय एक की अभिव्यक्तियाँ हैं । ज्ञान, चाहे वह कैसे हो व्यक्त क्यों न हो, विद्या हो वा अविद्या, सब उसी चिन्मात्र ज्ञानमय की अभिव्यक्ति मात्र है; भेद केवल मात्रा का है, प्रकार का नहीं। छोटे से छोटे कीड़े के ज्ञान में जो हमारे पैरों तले रेंगता है और बड़े से बड़े बुद्धिमान् के ज्ञान में जो इस सृष्टि में हो सकता है, केवल मात्रा का भेद है, प्रकार का नहीं। वेदांती लोग यह स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि इस जीवन के सारे सुख, कितने ही निकृष्ट क्यों न हों, उसी आनंदघन ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं, जो हमारी आत्मा की भी आत्मा है।

यह भाव वेदांत में अत्यंत प्रधान है और जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ मुझे तो यह जान पड़ता है कि यह बात

सारे धर्मों में मानी जाती है। उदाहरण के लिये इंजील ही को ले लीजिए। आपको उसमें यह रूपकमय कथा मिलेगी कि आदम पवित्र था और फिर उसकी पवित्रता उसके बुरे कर्मों से जाती रही थी। इस रूपक से यह स्पष्ट है कि लोगों का विचार था कि आदिम मनुष्य निर्दोष था। दोष जो हम देखते हैं, निर्बलता जो हमें जान पड़ती है, वे केवल मनुष्य की उसी प्रकृति पर अध्यारोपमात्र हैं, और ईसाई धर्म के पिछले इतिहास से यह प्रगट होता है कि वे लोग भी यह मानते थे, अपि तु उनका विश्वास था कि मनुष्य उस प्राचीन दशा को किसी तरह प्राप्त कर सकता है। यही इंजील की पुरानी और नई धर्मपुस्तक का सारा इतिहास है। यही बात मुसलमान धर्म की भी है। वे भी आदम और आदम की पवित्रता को मानते हैं और मुहम्मद के द्वारा उस खोई हुई पवित्रता के प्राप्त होने के मार्ग का खुलना मानते हैं। बौद्धों की भी ऐसी दशा है। उन लोगों का विश्वास निर्वाण पर है जो एक अवस्था विशेष है और इस सापेक्ष जगत् से परे है। यह ठीक वैसा ही है जैसे वेदांतियों का ब्रह्म; और बौद्ध धर्म की सारी पद्धति उसी खोई हुई निर्वाण की अवस्था के प्राप्त करने के आधार पर बनी है। सारे मतों में यह सिद्धांत देखाई पड़ता है कि आप उसे कभी पा नहीं सकते जो आपका नहीं है। आप पर इस विश्व में किसी का आभार नहीं है। आप अपने जन्मसिद्ध स्वत्व को चाहते हैं और इसी बात को वेदांतियों ने अपनी एक पुस्तक का

ऐसा भावपूर्ण नाम रखकर प्रगट कर दिया है—'स्वाराज्य-सिद्धि'। राज्य हमारा है, स्वाराज्य है, हमने उसे खो दिया और उसी को फिर प्राप्त करना है। मायावादियों का इतना और कथन है कि राज्य खोने की बात केवल भ्रममात्र है, आपने उसे खोया नहीं है, खोया मान छोड़ा है—भेद केवल इतना ही है।

यद्यपि सब मतों की इस बात पर यहाँ तक तो एकता है कि हमारा राज्य था और वह हमारे अधिकार से जाता रहा, पर वे लोग उसकी प्राप्ति के भिन्न भिन्न उपाय बतलाते हैं। एक कहता है कि उसे प्राप्त करने के लिये अमुक अनुष्ठान कीजिए, इतना धन अमुक देवता पर चढ़ाइए, अमुक प्रकार का भोजन कीजिए और अमुक तपश्चर्य्या से रहिए। दूसरा कहता है कि प्रकृति के परे किसी पुरुष विशेष देवता के आगे रोदन करो, उसको साष्टांग दंडवत् करो और उससे क्षमा माँगो तो आपको वह राज्य फिर मिल जायगा। तीसरे का कथन है कि यदि आप ऐसे देवता की भक्ति और उपासना सच्चे हृदय से करें तो आपको स्वाराज्य मिल जायगा। ये सारी बातें उपनिषदों में हैं। ज्यों ज्यों आगे बढ़ेंगे आपको वेही बातें मिलती जायँगी और अंत में परम उपदेश यह है कि आपको रोने वा पश्चात्ताप करने की आवश्यकता नहीं है। आपको अनुष्ठानों का आडंबर रचने की भी आवश्यकता नहीं है, और न इसकी चिंता करने की आवश्यकता है कि स्वाराज्य हमसे चला गया है, कारण यह है कि आपने उसे खोया तो है ही नहीं। जो कभी खोया ही नहीं उसे ढूँढ़ने को क्यों भटकते

फिरते हो ? आप स्वयं शुद्ध और मुक्त हैं । यदि आप अपने को मुक्त समझें तो इसी समय मुक्त हैं और बद्ध समझें तो बद्ध हैं । यह बड़े साहस की बात है और जैसे कि मैं आरंभ में आपसे कह चुका हूँ मैं साहसपूर्वक कहूँगा । इससे आपको अभी भय जान पड़ेगा, पर उस पर विचार कीजिए और अपने जीवन पर उसे घटाइए तो आपको जान पड़ेगा कि जो मैं कह रहा हूँ ठीक है । क्योंकि मान लीजिए यदि स्वतंत्रता आपकी प्रकृति नहीं है, तो आप उसे किसी प्रकार के प्रयत्न से नहीं पा सकते । मान लीजिए कि आप मुक्त थे पर किसी कारण से आपकी स्वतंत्रता आपसे जाती रही, तो यह प्रगट है कि आप आरंभ ही से उसके स्वतंत्र नहीं थे । यदि आप मुक्त होते तो कौन आपको स्वतंत्रता से अलग कर सकता था ? स्वतंत्र कभी परतंत्र नहीं हो सकता, मुक्त कभी बद्ध नहीं हो सकता, यदि वह सच-मुच परतंत्र हो तो उसका स्वतंत्रता का भाव केवल भ्रममात्र था ।

इन दोनों बातों में किसे स्वाकार करोगे ? यदि आप यह कहते हैं कि आत्मा शुद्ध और मुक्तस्वभाव है तो इससे यह निक-लता है कि विश्व में कोई भी ऐसा नहीं है जो उसे बद्ध और प्रमेय कर सकता हो । पर यदि प्रकृति में कोई ऐसी बात थी जिससे आत्मा बद्ध हो सकती थी तो इससे यह स्पष्ट है कि वह मुक्त न थी और आपका यह कथन कि वह मुक्त थी केवल भ्रममात्र है । पर यदि हम मुक्त हो सकते हैं तो इससे उपपत्ति यही निकलती है कि आत्मा स्वभाव से ही मुक्त है ।

दूसरा कोई परिणाम निकल ही नहीं सकता । मुक्ति का अर्थ है किसी बाह्य पदार्थ के बंधन का अभाव और इसका अभिप्राय यही है कि अपने से बाहर का कोई पदार्थ उसपर कारण रूप से क्षमता नहीं रख सकता । आत्मा कारण-रहित है और इसीसे इन सब विचारों की सिद्धि होती है । आप आत्मा को नित्य वा अमर सिद्ध नहीं कर सकते, जब तक कि आप यह न मान लें कि वह अपने स्वभाव से ही मुक्त है अथवा उसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह लीजिए कि उसपर किसी बाह्य पदार्थ का कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि मृत्यु भी तो किसी बाहरी कारण के प्रभाव से उत्पन्न हुआ कार्य है । मैं विषपान कर लेता हूँ और मर जाता हूँ इससे यह प्रगट होता है कि मेरे शरीर पर किसी बाह्य पदार्थ का प्रभाव पड़ता है जो विष कहलाता है । पर यदि यह ठीक है कि आत्मा मुक्त है तो यह स्वभावत: सिद्ध है कि इस पर कोई प्रभाव पड़ेही गा नहीं, यह मर नहीं सकती है । स्वतंत्रता, अमरता, आनंद सब बातें तभी हो सकती हैं जब आत्मा कार्यकारण भाव से परे वा माया से परे हो । इन दोनों में आप को कौन सी बात रुचेगी ? आप किसे लेंगे ? या पहली को भ्रम समझिए या दूसरी को भ्रम मानिए । अवश्य ही मैं तो दूसरी को ही भ्रम मानूँगा । वही मेरी सारी वृत्तियों और इच्छाओं के अनुकूल पड़ती है । मैं तो इसे यथार्थ रूप से जानता हूँ कि मैं स्वभाव से मुक्त हूँ, मैं यह स्वीकार नहीं करूँगा कि यह बंधन सत्य है और मेरी स्वतंत्रता भ्रम है ।

यही वाद-विवाद, पक्ष-प्रतिपक्ष, दर्शनों में किसी न किसी रूप से चला करता है, यहाँ तक कि अत्यंत आधुनिक दर्शनों में भी आपको यही विवाद उठता हुआ जान पड़ेगा। दो पक्ष हैं। एक का कथन है कि आत्मा है ही नहीं, आत्मा की कल्पना भ्रममात्र है, वह द्रव्यों के अणुओं के संक्रमण से उत्पन्न होती है जिनसे उस संयोग की रचना होती है जिसे शरीर वा मस्तिष्क कहते हैं; और स्वतंत्रता वा मुक्त होने का संस्कार उन्हीं अणुओं के कंप, गति और लगातार संक्रमण का परिणाममात्र है। बौद्धों के कुछ भेद हो गए हैं जिनका भी यही मत था और इसके समर्थन के लिये वे लोग यह दृष्टांत दिया करते थे कि यदि आप अपने हाथ में जलती हुई बनेठी लें और उसे घुमावें तो प्रकाश का एक चक्र दिखाई पड़ेगा। वह चक्र वास्तव में नहीं है, कारण यह है कि बनेठी अपना स्थान प्रति क्षण बड़े वेग से परिवर्तन करती जाती है और उसीसे वह चक्र भासित होता है। हम छोटे छोटे अणुओं के समूहमात्र हैं जिनमें वेग से गति होने के कारण एक नित्य वा स्थायी आत्मा का भान होता है। दूसरे पक्ष का कथन है कि शीघ्र शीघ्र विचार में परिवर्तन होने के कारण ही हमें द्रव्य का भ्रम होता है, वास्तव में द्रव्य सत् नहीं है। देखिए, एक पक्ष आत्मा को भ्रम मानता है, दूसरा द्रव्य को। आप किस पक्ष को लेंगे? मैं तो आत्मा की नित्यता का पक्ष लूँगा और द्रव्य की सत्ता को नहीं मानूँगा। वेही प्रमाण वा हेतु दोनों पक्षों के लिये हैं, केवल आत्मा के पक्ष में

यह उपपत्ति कुछ अधिक प्रबल है। कारण यह कि किसी ने आज तक यह देखा नहीं है कि द्रव्य क्या वस्तु है। हमें केवल अपना ही बोध होता है। मैं तो किसी ऐसे मनुष्य को नहीं जानता जिसे अपने से बाहर द्रव्य का बोध होता हो। कभी कोई मनुष्य अपने से बाहर कूद कर नहीं निकला है। अतः आत्मा के पक्ष में यह तर्क कुछ प्रबल है। दूसरे, आत्मवाद से विश्व की संगति बैठ जाती है, द्रव्यवाद से नहीं। इसलिये द्रव्य का पक्ष युक्ति-विरुद्ध है। यदि आप सारे दर्शनों को उथाल डालें और उनका विश्लेषण करें तो आपको जान पड़ेगा कि वे इन दोनों बातों में किसी न किसी पर आ जाते हैं। अतः हमें यहाँ भी वही शुद्ध और मुक्त स्वभाव का प्रश्न अत्यंत दुरूह और अधिक दार्शनिक रूप में मिलता है। एक पक्ष पहले को भ्रम बतलाता और दूसरा दूसरे को भ्रम समझता है। मैं तो दूसरे का पक्षपाती हूँ और बंधन को भ्रम समझता हूँ।

वेदांत का समाधान यह है कि हम बद्ध नहीं हैं, हम मुक्त ही हैं। इतना ही नहीं, यह मानना या कहना तक भयानक है कि हम बद्ध हैं; यह भूल है; यह अपनी संज्ञा को आपही आप खोना है। ज्यों ही आप यह कहते हैं कि 'मैं बद्ध हूँ' 'मैं अशक्त हूँ', 'मैं असहाय हूँ' आप दुःख में पड़ गए, आप अपने हाथ अपने पैरों में एक और बेड़ी डालते हैं। इसे मुँह पर न लाओ, इसका ध्यान तक न करो। मैंने एक मनुष्य की कथा सुनी है कि

वह जंगल में रहता था और दिन रात 'शिवोऽहम् शिवोऽहम्' (= मैं आनंदमय हूं) कहा करता था । एक दिन की बात है कि दैवयोग से एक बाघ उसके ऊपर झपटा और उसे पकड़ कर उठा ले चला । नदी के पार से लोगों ने उसे देखा और वे सुनते रहे कि बाघ के मुँह में पड़ा भी वह जब तक बोल सका 'शिवोऽहम' 'शिवोऽहम्' कहता रहा । संसार में ऐसे बहुत लोग होगए हैं । ऐसे लोग भी हो गए हैं जिनको लोगों ने बोटी बोटी काट डाला है पर वे उन्हें भला ही कहते गए हैं । सोऽहम, सोऽहम्, तत्त्वमसि, मैं शुद्ध हूँ और पूर्ण हूँ और वैसे ही मेरे शत्रु भी शुद्ध और पूर्ण हैं । आप वह हैं और मैं भी वही हूँ. । यह प्रबल प्रश्न है । तथापि द्वैतवादियों के मत में अनेक महत्त्वपूर्ण और अपूर्व बातें भी हैं; उनमें सबसे अपूर्व बात प्रकृति से परे पुरुषविशेष ईश्वर का होना हा है जिसकी भक्ति और उपासना होती है । कभी कभी तो यह भाव बहुत ही शांतिप्रद होता है । पर वेदांत का कथन है कि यह शांति तो कुछ वैसी है जैसी निद्रावह मादक औषध के प्रभाव से मिला करती है, वह स्वाभाविक शांति नहीं है । इससे आगे जाकर दुर्बलता आती है और आज कल तो संसार को जिस वस्तु की सबसे अधिक आवश्यकता है, जितनी कभी न थी, वह बल है । वेदांत का कथन है कि निर्बलता ही सारे संसार भर के दुःखों की जड़ है । निर्बलता दुःख का एकमात्र कारण है । हम दुखी इसी लिये होते हैं कि हम निर्बल हैं । हम इसी लिये

झूठ बोलते, चोरी करते, हत्या और अन्य पापों को करते हैं कि हम निर्बल हैं। हम दुःख इस लिये सहते हैं कि हम निर्बल हैं। हम मरते भी इसी कारण से हैं कि हम निर्बल हैं। जहाँ हमें निर्बल बनानेवाला कोई कारण नहीं है वहाँ हमें न मृत्यु है न दुःख है। हम भ्रम वा अज्ञान से दुखी बने हैं। अज्ञान को छोड़ो, सब दुःख भाग जाते हैं। यह बहुत स्पष्ट और सीधी बात है। इन सारे दार्शनिक झगड़ों और बड़े बड़े मानसिक व्यायामों के करने पर हम इसी एक धार्मिक सिद्धांत पर पहुँचते हैं जो संसार भर में सबसे सरल है।

अद्वैत (एकवादी) वेदांत सत्य को प्रकाश करने का सब से सीधा रूप है। भारतवर्ष में और अन्य देशों में द्वैतवाद का प्रचार करना बड़ी भूल की बात हुई, कारण यह है कि लोगों की आँख अंत के तत्त्व की बात पर नहीं पहुँचती, वे मार्ग ही में उलझ जाते हैं और सचमुच वह बड़े उलझेड़े की चीज़ है भी। कितने लोग तो इन कठिन दर्शन और तर्क की बातों से घबरा जाते हैं। वे समझते हैं कि अद्वैत की बातें सर्वसाधारण के लिये नहीं हैं, वे नित्य के व्यवहार में नहीं लाई जा सकती हैं, और इस दर्शन की आड़ में जीवन में बहुत ही अनाचार फैल जायगा।

पर मैं तो यह नहीं मानता हूँ कि इन अद्वैत विचारों के प्रचार करने से संसार में कुकर्म और निर्बलता फैलेगी। इसके विरुद्ध मुझे तो यह मानने के लिये हेतु

मिल रहे हैं कि संसार में यही सब क्लेशों का एकमात्र परम औषध है। यदि यह सत्य है तो लोगों को गड़ैया का पानी क्यों पिलाया जाय जब कि पास ही अमृत की नदी बह रही है ? यदि यही सच है कि सब शुद्ध हैं तो क्यों न सारे संसार में आज ही इसका ढिंढोरा पीट दिया जाय ? क्यों न इसकी शिक्षा सारे मनुष्यों को, साधु, असाधु, पापी, पुण्यात्मा, बाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, राजसिंहासन पर बैठनेवाले से सड़क पर झाड़ू देनेवाले तक को, डंके की चोट सुना दी जाय ?

इस समय तो यह बहुत कठिन और बड़े महत्त्व का काम जान पड़ता है; कितने लोगों के तो इसके सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं पर इसका कारण उनका अंधविश्वास या कुसंस्कार है, दूसरा नहीं। अंड बंड, कुपच चीज़ें खाते खाते या उपवास करते करते हमारी जठराग्नि मारी गई है, हम अच्छे भोजन को पचा नहीं सकते। बचपन से हमारे कानों में निर्बलता के शब्द पड़ते आ रहे हैं। आपने लोगों को यह कहते तो सुना होगा कि हम भूत को नहीं मानते हैं पर ऐसे बहुत कम मिलेंगे जो अँधेरे में कुछ थर्रा न उठते हों। इसका कारण कुसंस्कार है। यही दशा धार्मिक कुसंस्कारों की है। इस देश में ऐसे लोग भी हैं कि यदि उनसे यह कह दिया जाय कि शैतान कोई चीज़ नहीं तो वे समझते हैं कि धर्म गया। कितने लोगों ने तो मुझसे कहा है कि भला बिना शैतान के भी कोई धर्म हो सकता

है ? वह धर्म काहे को ठहरा जिसमें कोई राह देखलानेवाला न हो ? बिना किसी शासक के हम रह कैसे सकते हैं ? हम यह क्यों चाहते हैं कि हमारे साथ ऐसा व्यवहार किया जाय ? इसका यही कारण है कि हम ऐसे व्यवहार के अभ्यासी हो गए हैं। हमें तब तक चैन ही नहीं पड़ता जब तक कि कोई रोज हमें दो चार भली बुरी न सुनाया करे। कारण क्या, वही कुसंस्कार की पुरानी बात। पर इस समय यह अद्वैत कथा कितनी ही डरावनी क्यों न जान पड़े, एक समय ऐसा आवेगा जब हम लोग इन संस्कारों, अंधविश्वासों, को देख कर हँसेंगे जो शुद्ध और नित्य आत्मा को आच्छादित किए हुए हैं और प्रसन्नतापूर्वक, स्पष्ट शब्दों में, सत्य से, बल से, इसकी घोषणा करेंगे कि हम मुक्त हैं, सदा मुक्त थे और सदा मुक्त रहेंगे। यह अद्वैत का ज्ञान वेदांत से प्रकट होगा और यही एक ऐसा विचार है जो रखने योग्य है। सारे धर्मग्रंथ चाहे कल ही नष्ट हो जाँय, चाहे यह ज्ञान पहले पहल इब्रानियों के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ अथवा ध्रुवदेश वासियों की बुद्धि में आया इसका कोई विचार नहीं है। क्योंकि यह सत्य है और सत्य शाश्वत है; सत्य स्वयं यह बतला रहा है कि वह किसी व्यक्तिविशेष वा जातिविशेष की संपत्ति नहीं है। मनुष्य, पशु और देवता सभी इस एक सत्य के अधिकारी हैं। सबको इसे लेने दो। जन्म को क्यों दुखी कर रहे हो ? लोगों को क्यों नाना प्रकार के अंध पक्षपातों के गड्ढों में गिरा रहे हो ? यदि उनमें बीस मनुष्य अपने अंध पक्षपात को छोड़ दें तो मैं दस हज़ार

जीवन उनपर न्यौछावर कर दूँ। इस देश में क्या, उस देश में भी जहाँ इसका जन्म हुआ है, यदि आप लोगों से इस सचाई को कहें तो लोग डर जाते हैं। वे कहते हैं कि यह ज्ञान तो संन्यासियों के लिये है जो घर बार छोड़ कर जंगल में जाकर रहते हैं; उन्हीं के लिये यह ठीक है। पर हम लोग तो गृहस्थ हैं हमें तो कुछ न कुछ डरना चाहिए, कुछ धरम करम करना चाहिए।

द्वैतमत का राज्य संसार में बहुत दिनों से है और उसी का यह फल है। एक नई बात की परीक्षा क्यों न की जाय? सब लोगों को अद्वैत का उपदेश ग्रहण करने में समय लगेगा पर इसका आरंभ अभी क्यों न किया जाय? यदि हम अपने जीवन में इसका उपदेश बीस मनुष्यों को कर दें तो समझ लो कि हमने बहुत बड़ा काम कर लिया।

एक विचार है जो प्राय: इसके विरुद्ध पड़ता है। वह यह है, यह तो कहना ठीक है कि 'मैं शुद्ध हूँ, आनंदमय हूँ' पर मैं इसे सदा जन्म भर निबाह नहीं सकता, अपने जीवन में सदा बात बात में प्रगट नहीं कर सकता हूँ। यह बहुत ठीक है; आदर्श सदा बहुत कठिन हुआ करता है। बचा उत्पन्न होते ही अपने ऊपर आकाश को देखता है, वह बहुत दूर है तो क्या इसलिये हम आकाश की ओर देखें ही नहीं? यह भी कोई युक्ति की बात है? क्या भलाई इसी बात में है कि अंधविश्वास की ओर जाँय? यदि हम अमृत नहीं पा सकते तो क्या विष

पी लेना भला होगा ? इसलिये कि सत्य का हमें इसी तरह बोध नहीं हो सकता क्या यह कुछ लाभदायक हो सकता है कि हम अंधकार में चले जाँय और वहाँ निर्बलता और कुसंस्कार के वशीभूत हो जाँय ?

मुझे द्वैतवाद के कई रूपों पर कोई आपत्ति नहीं है। उनमें कितने ही तो मुझे बहुत ही भले जान पड़ते हैं; पर मुझे ऐसे सब उपदेशों से चिढ़ है जिनसे निर्बलता आती हो। मैं सब पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों से, जब यह देखता हूँ कि वे शारीरिक, मानसिक वा आध्यात्मिक शिक्षा लाभ कर रहे हैं, यही एक प्रश्न किया करता हूँ कि क्या तुम बलवान् हो ? तुम्हें बल जान पड़ता है ? क्योंकि मैं जानता हूँ कि सत्य ही बल का स्रोत है। मैं जानता हूँ कि सत्य ही जीवन देता है; हम केवल सत्यो-न्मुख होने से ही बलिष्ठ हो सकते हैं, अन्य प्रकार से नहीं; और कोई सत्य को तब तक नहीं पा सकता जब तक कि वह बलिष्ठ न हो। अतः सारे विचारों को, जो मनुष्य के मन को निर्बल करते हैं, जिनसे लोग अंधविश्वासी बनते हैं, जिनसे लोग हताश हो जाते हैं, जिनसे लोगों में नाना प्रकार की असंभवताओं, गूढ़-ताओं और पक्षपातों की कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, मैं बुरा समझता हूँ क्योंकि उनका परिणाम भयानक होता है। ऐसे विचारों से कुछ भलाई नहीं होती है; इन बातों से मन दूषित हो जाता है, निर्बलता आती है और वह इतना निर्बल हो जाता है कि आगे चल कर उसका सत्य तक पहुँचना और सत्य

से जीवन निर्वाह करना असंभव हो जाता है। अतः बल एक अत्यंत आवश्यक पदार्थ है। बल ही संसार के रोगों का एकमात्र औषध है। बल ही निर्धनों के लिये एकमात्र उपाय है, जब धनी लोग उन पर अत्याचार करें। बल अज्ञानियों के लिये विद्वानों के अत्याचार से बचने का एकमात्र उपाय है; इसी से पापी अन्य पापियों के अत्याचार से बच सकते हैं। इतना बल किसी और से नहीं प्राप्त होता है जितना अद्वैतवाद से। कोई और इतना धार्मिक नहीं बना सकता है जितना कि अद्वैत ज्ञान। हम किसी और उपाय से इतने कर्मनिष्ठ और कर्तव्यपरायण नहीं होते जितने कि हम उस समय होते हैं जब सारा भार हमारे ही सिर पर डाल दिया जाता है। मैं आप सबको एक चुनौती देता हूँ कि आप लोगों के हाथ में यदि एक छोटे बच्चे को सौंप दूँ तो आप कैसा व्यवहार करेंगे ? थोड़े समय के लिये आपका जीवन बदल जायगा। आप कैसे ही हों पर आप उस समय तो अवश्य निःस्वार्थ हो जायँगे। ज्यों ही कर्तव्य का भार पड़ा आप अपने सारे पापभावों को त्याग देंगे और आप का आचरण बदल जायगा। अतः यदि हमारे कंधों पर सारे का सारा भार डाल दिया जाय तो हम उसी दम अपने कर्तव्य में पूरी तरह तत्पर हो जाँयगे क्योंकि फिर हमको कोई अंधे की लाठी न मिलेगी, न कोई शैतान रह जायगा कि उसके सिर पर दोष मढ़ें, न कोई ईश्वर रहेगा जो हमारे बोझे को ढोवे; उस समय हम अपने कामों के आप ही उत्तरदायी रहेंगे और

अपना कर्तव्य ठीक ठीक करेंगे। मैं अपने भाग्य का उत्तरदायी आप हूँ, मैं अपने ऊपर आपही भलाई और बुराई दोनों का लानेवाला हूँ। मैं शुद्ध और आनंदघन हूँ। और सारे विचारों को जो इसके विरोधी हैं त्याग देना चाहिए। 'न मुझे मृत्यु है, न भय है, न मेरे जाति है, न धर्म है, न मेरे माता है न पिता है, न मेरा जन्म है न मरण है, न मित्र है न शत्रु है' क्योंकि मैं सच्चिदानंद रूप शिव हूँ, शिव हूँ। न मैं पुण्य से बद्ध हूँ न पाप से, न मुझे सुख है, न मुझे दुख है; तीर्थाटन, शास्त्र और कर्म मुझे बंधन में नहीं रख सकते हैं; न मुझे भूख है न प्यास है; न मेरा यह शरीर है और न मुझे शरीर के धर्मों से जो दुराग्रह और चय हैं कोई संबंध है, मैं सच्चिदानंदरूप हूँ, शिव हूँ, शिव हूँ।

वेदांत कहता है कि हमारे लिये यही प्रार्थना है। यही परमावधि का मार्ग है कि अपने से और प्रत्येक मनुष्य से यह कहते रहें कि हम शिव हैं। हम इसको जितना ही कहेंगे बल आवेगा। जो पहले ठोकर खायगा वही आगे प्रबल होता जायगा, शब्द की ध्वनि बढ़ती जायगी, यहाँ तक कि सत्य का अधिकार हमारे हृदय पर हो जायगा, वह हमारी नस नस में पहुँचेगा और शरीर के रोम रोम में भर उठेगा। ज्यों ही प्रकाश बढ़ता जायगा, भ्रम का नाश हो जायगा, अज्ञान के ढेर ढेर का नाश होता रहेगा और अंत को वह समय आ जावेगा जब सबका लोप हो जायगा और केवल सूर्य्य का उदय होगा।

---

(११) सृष्टि।

[स्थूल जगत्]

देखिए चारों ओर कैसे सुंदर फूल खिल रहे हैं, सूर्योदय कैसा सुहावना जान पड़ता है, प्रकृति अपने रंग बिरंगे शृंगार में कैसी सुंदर देखाई पड़ रही है। सारा विश्व मूर्तिमान सौंदर्य्य है। मनुष्य सृष्टि के आरंभ ही से इसके आनंद को लूट रहा है। पर्वत कैसे विशाल और गौरवपूर्ण हैं, महा नदियाँ कैसी कलकल शब्द करती समुद्र की ओर बहती जा रही हैं, निर्जन मरुस्थल, अपार समुद्र, और नक्षत्रमंडलों से सुशोभित आकाश, सब कैसे संभ्रमात्मक, अद्भुत और मनोहर हैं। यह सारा संसार जिसे हम प्रकृति कहते हैं अनादि काल से मनुष्य के अंतःकरण पर अपना प्रभाव डाल रहा है। इसका प्रभाव मनुष्यों के विचार पर पड़ता आया है और उसका प्रतिफल यह हुआ है कि उसके अंतःकरण में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि 'यह सब क्या है और कहाँ से आया है?' यहाँ तक कि मनुष्यों की अति प्राचीन रचना वेदों के अति प्राचीन भाग की रचना के काल में भी यही प्रश्न उठता दिखाई पड़ता है—

"यह सृष्टि कहाँ से आई, जब न सत् था न असत् था, अंधकार अंधकार में छिपा था, तब इस सृष्टि को किसने प्रगट किया? कैसे प्रगट किया? इस रहस्य को कौन जानता है?" और वही प्रश्न अब तक हमारे सामने भी ज्यों का त्यों बना है। इसके उत्तर देने के लिये करोड़ों प्रयत्न हो चुके हैं पर फिर भी इसके

समाधान के लिये करोड़ों प्रयास आगे भी होते रहेंगे। यह बात नहीं है कि कोई उत्तर ठीक ही नहीं हुआ, प्रत्येक उत्तर में कुछ न कुछ सत्य अवश्य है और इसी सत्य की जड़ ज्यों ज्यों काल बीतता जाता है दृढ़ होती जाती है। आज मैं आप लोगों के सामने उन बातों को स्थूल रूप से वर्णन करने का प्रयत्न करूँगा जो मुझे इस प्रश्न के भारतवर्ष के दार्शनिकों के उत्तरों में आधुनिक विज्ञान के अनुसार जान पड़ती हैं।

मैं देखता हूँ कि इस प्राचीन प्रश्न में ही अनेक अंशों का समाधान हो चुका है। सबसे पहली बात यह है कि यह कहा गया है कि एक समय ऐसा था जब न सत् था न असत् था, उस समय यह संसार कहीं था ही नहीं; यह पृथ्वी, जिस पर समुद्र नदियाँ, पर्वत, नगर, ग्राम, मनुष्य, पशु, पत्ती आदि हैं, सूर्य्य, चंद्र, तारक, ग्रह, नत्तत्रादि सारी सृष्टि के अनंत भेद कुछ भी न थे। क्या हमें इसका निश्चय है? हम यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि इस परिणाम पर कैसे पहुँचे। मनुष्य को संसार में क्या दिखाई पड़ता है? एक पौधे को ले लीजिए। बीज भूमि में पड़ता है, फिर उससे अंकुर निकल आता है; फिर वही अंकुर ऊपर को बढ़ने लगता है और बढ़ते बढ़ते एक बड़ा पेड़ हो जाता है; फिर वही फलता फूलता और काल पाकर नष्ट हो जाता है और फिर उसका बीजमात्र रह जाता है। इस प्रकार एक चक्र पूरा हो जाता है। वह बीज से निकलता, वृत्त होता, वृत्त से बीज होता और पुनः

चक्र परिवर्तित होता रहता है। यही गति पक्षियों की भी है— अंडे से पक्षी होते हैं, फिर पक्षी अंडे देते हैं, उनसे आगे के पक्षी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पक्षियों में भी वैसा ही चक्र चलता देखा जाता है। यही पशुओं का हाल है, यही मनुष्य का। प्रकृति के सारे पदार्थों की उत्पत्ति किसी बीज वा कारण से होती है, उनकी कुछ न कुछ प्रारंभिक सूक्ष्म अवस्था होती है, कुछ न कुछ सूक्ष्म रूप होता है और वही क्रमशः स्थूल होता जाता है, कुछ काल तक वे आप्यायित होते जाते हैं और अंततः वे फिर अपनी सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होते होते लय को प्राप्त हो जाते हैं। वर्षा की बूँद जो सूर्य्य की किरण पड़ने से चमक रही है समुद्र से भाप के रूप में उठी और वायु से होकर ऊपर गई, वहाँ वह ठँडी होकर पानी बनी और वहाँ से मेह होकर बरसी, वही फिर अंत को भाप बन जावेगा। यही दशा इस जगत् में प्रकृति के सारे पदार्थों की है। हम जानते हैं कि बड़े बड़े पर्वतों पर हिम नद और नदियाँ बहा करती हैं उनकी गति से पर्वत धीरे धीरे किंतु अवश्य घिसते जाते हैं और पिस पिस कर बालू बन कर समुद्र में पहुँचते रहते हैं, वहाँ तह पर तह जमते जमते वही फिर चट्टान बनते और कठ हो जाते हैं; वेही फिर ढेर पर ढेर तह जमते जमते आगे के पहाड़ बन जाते हैं। फिर पहाड़ बन कर घिसते घिसते बालू बनते हैं इसी प्रकार चक्र चल रहा है, रेत से पहाड़ बनते हैं, फिर वे रेत में मिल जाते हैं।

यदि यह ठीक है कि प्रकृति सर्वतोभावेन समान है, और कोई मनुष्य अपने अनुभव द्वारा अब तक इसके विरुद्ध सिद्ध नहीं कर सका है, कि जिस नियम के अनुसार बालू का एक कण बनता उसी नियम का काम बड़े बड़े सूर्य्य और तारात्रों के बनने में दिखाई पड़ता है, यहाँ तक कि सारे विश्व की सृष्टि भी उसी नियम के अनुसार हुई जान पड़ती है, यदि यह ठीक है कि सारे विश्व की सृष्टि ठीक उसी ढंग पर हुई है जिस पर एक अणु की सृष्टि हुई है, यदि यह ठीक है कि सारे विश्व में एक धर्म व्याप्त है, तो जैसा कि वेदों में कहा गया है कि 'एक मिट्टी के ढेले को जान कर हम सारे विश्व की मिट्टी की बातें जान सकते हैं'। एक पौधे को ले लीजिए, उसके जीवन का मनन करने से हमें सारे विश्व का रहस्य बोध में आजाता है। यदि हम बालू के एक कण का ज्ञान प्राप्त कर लें तो सारे विश्व का रहस्य हम पर प्रगट हो जायगा। विश्व के चरित पर इस तर्क को लगाने से हमें जान पड़ता है कि पहले तो सारी बातें आदि से अंत तक एक ही प्रकार की हैं। पर्वत बालू से बनते हैं और अंत को बालू ही में मिल जाते हैं; नदियों का जल भाप से बनता और अंत को फिर वह भाप हो जाता है; वनस्पतियाँ बीज से होती हैं और अंत को बीज ही हो जाती हैं; मनुष्य मनुष्य के वीर्य्य से उत्पन्न होते और अंत को वह वीर्य्य ही के रूप में परिणाम को पहुँचते हैं। तारे, नदियाँ और ग्रह उपग्रह सब सूक्ष्म अवस्था से स्थूल दशा

को प्राप्त हुए हैं और अंत को फिर उसी सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होते हैं। इससे हमें शिक्षा क्या मिलती है ? यही न कि स्थूलावस्था कार्य है और सूक्ष्मावस्था उसका कारण वा परिणाम है। सहस्रों वर्ष हुए आदि दर्शनकार भगवान् कपिल ने यह निश्चय किया था कि, नाशः कारणलयः, अर्थात् नाश कहते हैं अपने कारण में लय होने को। यदि यह मेज़ नाश हो जाय तो यह अपने कारण में लय हो जायगी, उन सूक्ष्मरूपों और अणुओं में परिणत हो जायगी जिनके संयोग से इसने यह रूप धारण किया था जिसे हम मेज़ कहते हैं। यदि मनुष्य मर जाता है तो वह उन तत्त्वों को प्राप्त होता है जिनके संयोग से उस के शरीर का संगठन हुआ था; इसी प्रकार यदि इस पृथ्वी का नाश हो जाय तो यह भी उन तत्त्वों में परिणत हो जायगी जिनसे इसकी यह आकृति बनी थी। इसी का नाम नाश है अर्थात् अपने कारण में लौट जाना। इसलिये हमने जाना कि कार्य्य कारण से भिन्न नहीं है अपितु दोनों एक ही हैं। कार्य कारण का केवल रूपांतरित होना मात्र है। यह आईना कार्य्यमात्र है, इसका कारण है और वह कारण इस रूप में विद्यमान है। कुछ काँच नामक द्रव्य की मात्रा और बनानेवाले के हाथ की शक्ति का योग कारण हैं, जिनके नाम क्रम से उपादान और निमित्त कारण हैं, वे परस्पर मिलकर इस कार्य्य को जिसे हम आईना कहते हैं उत्पन्न करते हैं। बनानेवाले के हाथ की शक्ति आईने में आसक्ति रूप से विद्यमान है और यदि वह न रहती तो

उसके एक एक अणु अलग हो जाते; और कांच द्रव्य भी विद्यमान ही है। आईना इन्हीं सूक्ष्म कारणों की नए रूप में एक अभिव्यक्ति मात्र है और यदि यह चूर चूर कर दिया जाय तो वह शक्ति जो इन अणुओं में बाँधे हुए थी निकल जायगी और अपने तत्व में लय हो जायगी, केवल कांच के अंश रह जावेंगे और तब तक रहेंगे जब तक कि किसी नवीन रूप को न धारण करें।

इस प्रकार हमें यह स्पष्ट जान पड़ता है कि कार्य्य कारण से भिन्न नहीं है। बात यह है कि कार्य्य कारण की स्थूलरूप में केवल एक पुनरुत्पत्ति मात्र है। पुनः हमें इसकी सीख मिलती है कि सारे भिन्न भिन्न रूपविशेष जिन्हें हम मनुष्य, पशु, वनस्पति आदि कहते हैं अनादि काल से बराबर बनते और बिगड़ते, आविर्भूत और तिरोभूत होते आ रहे हैं। बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है। वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है और वही पुनः दूसरे वृक्ष के रूप में प्रादुर्भूत हो जाता है और इसी प्रकार यह क्रिया होती रहती है। इसका कोई अंत नहीं है। जो पानी की बूँद पर्वत पर बरस कर उससे नीचे को ढलकती हुई समुद्र में पहुँचता है वही फिर भाप बनकर ऊपर जाती और पर्वत पर पहुँचती है और पुनः समुद्र को प्राप्त होती है। इस प्रकार चक्र का आरोह अवरोह होता रहता है। ये बातें सारे प्राणियों, सारी सत्ताओं के संबंध में हैं जो हमें देख पड़ती, सुनाई पड़ती और जान पड़ती हैं। सारे

पदार्थ जो हमारे बोध में आ सकते हैं इस प्रकार आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं जैसे हमारा श्वास हमारे नथुनों से बाहर निकलता और पुनः भीतर जाता रहता है। सृष्टि के सारे पदार्थों की दशा समुद्र की लहरों की सी है। एक लहर उठती है दूसरी बैठती, इस प्रकार उठना और बैठना लगा रहता है। प्रत्येक लहर के साथ अवकाश होता है और प्रत्येक अवकाश के पीछे लहर लगी हुई है। यही नियम सारे विश्व को एक मान कर उसपर लगाया जा सकता है क्योंकि उसमें समता है। यह सारा विश्व अवश्य अपने कारण में लय हो जायगा—सूर्य्य, चंद्र, तारे, पृथ्वी, शरीर, मन और विश्व के सारे पदार्थ अपने सूक्ष्म कारणों को प्राप्त होंगे, लय को प्राप्त होंगे, विलीन हो जायँगे, तिरोहित होंगे, मानो नाश हो जायँगे। पर वे अपने कारणों में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहेंगे। इन्हीं सूक्ष्म रूपों से वे पुनः नई पृथ्वी, नए सूर्य्य, चंद्र, आदि रूप में प्रगट होंगे।

इस इनके आविर्भाव और तिरोभाव या उत्पत्ति और लय के संबंध में एक बात और विचारणीय है। बीज वृक्ष से तो उत्पन्न होता है पर वह उसी क्षण वृक्ष नहीं हो जाता है, उसे कुछ काल विराम के लिये भी अपेक्षित है। अथवा परिणाम शक्ति का एक दम विराम न कह कर यह लीजिए कि उस समय उसमें बहुत सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं जो व्यक्त नहीं कहे जा सकते। बीज को कुछ काल तक भूमि के भीतर काम करना पड़ता है, उसमें परिणाम होता रहता है। वह खंड

खंड हो जाता है, मानों वह प्रध्वंस होता है, उसी प्रध्वंस से उसकी पुनरुत्पत्ति है। प्रारंभ में सारा विश्व इसी प्रकार सूक्ष्म रूप वा कारण रूप में था, उसमें यों ही परिवर्तन होता रहा है, और इस दशा में यह बहुत दिनों तक अपनी सूक्ष्मावस्था में अदृष्ट और अव्यक्त पड़ा रहा। इसी का नाम पुराणों में प्रलय वा महाप्रलय है और इसी अव्यक्त दशा से यह फिर व्यक्तरूप में प्रगट हुआ है। इस विश्व की एक अभिव्यक्ति, फिर सूक्ष्मरूप में लय, फिर कुछ काल तक उस अवस्था में रहने और फिर व्यक्त होने तक के काल की संस्कृत में कल्प संज्ञा है, इसे संवर्त वा चक्र भी कहते हैं। अब एक बहुत ही उपयोगी प्रश्न आता है जो आधुनिक लोगों के लिये बड़े ही काम का है। हम देखते हैं कि सूक्ष्म दशा से आप्यायन धीरे धीरे होता है और वह क्रमशः स्थूल दशा को प्राप्त होता है। हम देख चुके हैं कि जो कारण है वही कार्य्य है और कार्य्य कारण का एक रूपांतर मात्र है। अतः यह विश्व कभी शून्य से उत्पन्न वा प्रादुर्भूत हो ही नहीं सकता। कोई वस्तु अकारण हुआ नहीं करती, कारण भी तो रूपांतर में कार्य्य ही है।

फिर यह विश्व हुआ कहाँ? यह पूर्व के विश्व के सूक्ष्मरूप से ही निकला यही उत्तर है। मनुष्य की उत्पत्ति किससे हुई? पूर्व के सूक्ष्म मनुष्य से। वृक्ष कहाँ से उत्पन्न हुआ? बीज से; सारा वृक्ष बीज में कारणरूप से विद्यमान था। वह निकला और वही व्यक्त हुआ। सारा विश्व उसी कारणरूप विश्व

से उत्पन्न हुआ जिसमें वह अव्यक्त वा सूक्ष्मरूप से तिरोहित था। वही अब व्यक्तावस्था को प्राप्त हुआ है। वह फिर अपनी अव्यक्तावस्था को प्राप्त होगा और पुनः व्यक्त होगा। हम यह भी देखते हैं कि सूक्ष्म रूप क्रमशः व्यक्त होते और स्थूलरूप धारण करते जाते हैं यहाँ तक कि अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं और तब फिर क्रमशः सूक्ष्म होते जाते हैं और अव्यक्तावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अव्यक्तावस्था से निकलकर व्यक्त होना और स्थूलदशा को प्राप्त होना मानो केवल अंशों के क्रम में परिणाम होना है और इसी को आधुनिक समय में विकाश वा आरोह कहते हैं। यह बहुत ठीक है, और यथार्थ सत्य है; यह हमें जीवन में प्रत्यक्ष देख पड़ता है। कोई समझदार मनुष्य संभवतः विकास वा आरोह-वादियों से विवाद नहीं कर सकता। पर हमें एक बात और जानने की आवश्यकता है। हमें एक पग और आगे जाना है और वह यह है कि प्रत्येक विकास वा आरोह के पूर्व एक संकोच वा अवरोह लगा हुआ है। बीज वृक्ष का कारण तो है पर दूसरा वृक्ष उस बीज का भी कारण था। वृक्ष एक सूक्ष्मरूप है जिससे एक बड़ा वृक्ष निकलता है पर दूसरा बृहत् वृक्ष भी एक रूप ही था जो संकुचित रूपक बीज के रूप में आया था। यह सारा विश्व उसी कारण रूप सूक्ष्म विश्व में विद्यमान था। वह छोटा कोश, जो पीछे मनुष्य के रूप में परिणत हो जाता है, केवल संकुचित मनुष्यमात्र ही था और वही विकास पाकर मनुष्य हो गया। यदि यह स्पष्ट है तो हमें

विकास-वादियों से कोई विवाद नहीं है क्योंकि हम देखते हैं यदि वे इस क्रम को स्वीकार कर लेते हैं तब तो धर्म को नष्ट करने के स्थान में उनसे धर्म को बड़ी सहायता मिल जाती है।

हम देखते हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती। सब कुछ अनादि काल से चले आ रहे हैं और अनंत काल तक चले जायँगे। गति केवल समुद्र की लहरों और गड्ढों की भाँति होती है, जहाँ लहर उठी कि गड्ढा पड़ा, गड्ढा पड़ा कि लहर उठी, स्थूल रूप सूक्ष्मकारण रूप में परिवर्तित हुए और फिर वहाँ स्थूल कार्यरूप में प्रकट हुए। सारी प्रकृति में यह आरोह और अवरोह का चक्र चलता रहता है। सारे आरोहों की श्रृंखला, जो छोटी से छोटी व्यक्ति से प्रारंभ होकर ऊँची से ऊँची व्यक्ति तक, अर्थात् सर्वांगपूर्ण मनुष्य तक, पहुँची है, वह भी किसी अन्य वस्तु का अवरोह ही होनी चाहिए। अब प्रश्न यह है कि वह किसका संकोच वा अवरोह है? किसका अवरोह हुआ? कौन संकुचित दशा को प्राप्त हुआ? विकासवादी तो चट यह कह देंगे कि आपका यह विचार कि ईश्वर का अवरोह हुआ है, भ्रम है। यदि कारण पूछिए तो वे कहेंगे कि आप तो ईश्वर को चेतन बताते हैं पर चेतनता का विकास तो आरोह के क्रम में बहुत पीछे मिलता है। मनुष्य और ऊँचे प्राणियों में ही तो हमें चेतनता देख पड़ती है, किंतु इस चेतनता का आविर्भाव होने के पहले इस संसार में करोड़ों वर्ष बीत चुके हैं। आगे चल कर जब हम अपने

सिद्धांत को काम में लावेंगे तब आपको जान पड़ेगा कि विकास-वादियों की इस आपत्ति में कुछ सार नहीं है। वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है और अंत को बीज हो हो जाता है। आरंभ और अंत एक ही है। पृथ्वी अपने कारण से उत्पन्न होती और फिर कारण ही में लय को प्राप्त हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि हमें आदि का पता लग जाय तो हमें अंत का पता लग जाता है। इसके विपरीत यदि हमें अंत का ज्ञान हो जाय तो हमें आदि का ज्ञान हो सकता है। यदि यह ठीक है तो सारे विकास वा आरोह की समूची की समूची शृंखला को, प्रोटो-प्लाज्म वा एकेंद्रिय जंतु को एक ओर और पूर्ण मनुष्य को दूसरी ओर समझ कर एक ही जीवन मान लीजिए। यदि पूर्ण पुरुष इसके एक किनारे पर है फिर दूसरे किनारे पर भी उसी को होना चाहिए। अतः प्रोटोप्लाज्म वा एकेंद्रिय जंतु किसी सर्वोच्च प्राणी का अवरोह वा संकोच था। चाहे आप उसे न देख सकते हों पर वही संकुचित चेतनता विकसित हो रही है और होती जायगी, यहां तक कि पूर्ण पुरुष के रूप में वह व्यक्त हो जायगी। यह गणित की रीति से सिद्ध किया जा सकता है। यदि शक्ति के संभरण का नियम ठीक है तो आपको यंत्र से कुछ शक्ति नहीं मिल सकती है जब तक कि आप उसे उसमें न भरें। जो काम आप यंत्र से लेते हैं वह उतना ही है जितना आपने कोयला पानी के रूप में यंत्रकला में डाला है। वह उतना ही है, न कम न अधिक। वह काम जो हम कर रहे

हैं वही है जो हमने अन्न, पानी और वायु के रूप में अपने भीतर भरा है। केवल परिवर्तन और अभिव्यक्ति की ही बात है। इस विश्व में न तो एक अणु भर द्रव्य, न और पैसा भर शक्ति बढ़ाई जा सकती या घटाई ही जा सकती है। यदि ऐसी बात है तो यह चेतनता है क्या ? यदि यह एकेंद्रिय प्रोटोप्लाज्म में न थी तो क्या अचानक कूद पड़ी या असत् वा शून्य से सत् रूप प्रगट हो गई ? यह बात तो नितांत अनर्गल है। इससे यह आता है कि आप्त पुरुष, मुक्त पुरुष, देव पुरुष—जो प्रकृति के बंधन से परे गया और सब को अतिक्रमण कर गया, जो विकास क्रम की पराकाष्ठा पर पहुँच गया और जन्म-मरण के बंधन से विनिर्मुक्त हो गया, जिसे ईसाई लोग ईसा, बौद्ध बुद्ध और योगी जन मुक्त कहते हैं—वही आप्त पुरुष जो विकास वा अवरोह की शृंखला की एक छोर पर है वही संकुचित हो एकेंद्रिय जंतु के कोशरूप में विद्यमान है जो विकास की शृंखला की निचली छोर है।

इसी न्याय को सारे विश्व पर लगाने से हमें जान पड़ता है कि चेतनता ही इस सृष्टि की परमेश्वरी है, वही सब का मूल कारण है। मनुष्य का इस विश्व के संबंध में अत्युत्कृष्ट सुसंपन्न विचार क्या है ? यही कि वह चेतनता है, एक अंग का दूसरे अंग के साथ यथानियम रहना, चेतनता की अभिव्यक्ति, जिसकी प्राचीनों ने ईश्वरीय व्यवस्था के रूप कल्पना और वर्णन करने की चेष्टा की थी। यह चेतना वा प्रज्ञान ही सब का आरंभ है। आदि में वही चेतनता संकुचित रूप में रहती है और अंत को वही चेतनता

विकसित हो जाती है। जो सारी चेतनता, विश्व भर में है, संकुचित अवस्था में रह कर विकसित होती हुई परम चेतना है। इसी विश्व व्यापक चेतनता को हम ईश्वर कहते हैं। इसे किसी नाम से कह लीजिए पर यह निश्चित है कि आदि में यही अनंत जगदादिकारण चेतनता थी। यही मूल प्रकृति चेतनता संकुचित रहती है, फिर वही व्यक्त होती और विकसित होती जाती है, यहाँ तक कि वह आप्ततम पुरुष के रूप में प्रगट होती है जिसे ईसा वा बुद्ध आदि कहा करते हैं। फिर यह अपने मूल की ओर लौटती है। यही कारण है कि सब धर्मग्रंथ कहते हैं कि उसी में हम जन्म लेते, उसीमें रहते और उसी में हमारी सत्ता है। यही कारण है कि सब धर्मग्रंथ इसका उपदेश करते हैं कि हम ईश्वर से आए हैं और ईश्वर में जायंगे। धर्म के पारिभाषिक शब्दों को सुनकर घबड़ाओ मत; यदि उनसे आपको भय लगता है तो आप दार्शनिक होने योग्य नहीं हैं। यहा जगदादिकारण चेतनता ही को लोग धार्मिक परिभाषा में ईश्वर कहते हैं।

मुझसे लोगों ने बारंबार यह प्रश्न किया है कि आप पुराने धुराने शब्द ईश्वर का प्रयोग क्यों करते हैं। इसका कारण यही है कि यही एक श्रेष्ठ शब्द हमारे काम के लिये उपयुक्त है; आपको इससे अच्छा शब्द मिल ही नहीं सकता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य जाति की सारी आशाओं, आकांक्षाओं और आनंदों का आलय वही एक शब्द

है। अब इस शब्द को छोड़ कर दूसरे शब्द का उसके स्थान पर ग्रहण करना असंभव है। इस प्रकार के शब्दों को आदि में बड़े बड़े महर्षियों ने गढ़ा है जिन लोगों ने उनके भावगौरव को जाना और अर्थों को समझा था। पर जब उनका प्रचार समाज में हो गया तो अज्ञानी लोगों ने उनका व्यवहार करना प्रारंभ कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि उनका भाव और महत्त्व जाता रहा। ईश्वर शब्द अनादि प्राचीन काल से प्रयोग होता चला आ रहा है और इस जगदादिकारण चेतनता का भाव तथा और जो कुछ श्रेष्ठता और महत्त्व की बातें हैं सब इसी शब्द में समावेशित हैं। क्या आपका यह तात्पर्य्य है कि कुछ मूर्ख लोग कहा करते हैं कि यह शब्द ठीक नहीं है इसी कारण हम भी इसे त्याग दें? फिर तो कोई एक आकर कहेगा कि 'मेरा शब्द लीजिए' और कोई दूसरे महाशय आकर कहेंगे कि 'मेरा शब्द लीजिए'। फिर तो ऐसे व्यर्थ के शब्दों का कोई अंतही न रह जायगा। प्राचीन शब्दों ही का प्रयोग करना भला है, उसमें इतने मात्र का विचार होना चाहिए कि उनका प्रयोग ठीक अर्थ में होना चाहिए और इस ढंग से कि पुराने पक्षपात के अर्थों का लेश भी न रह जाय तथा यह ठीक रूप से समझना चाहिए कि इन प्राचीन महत्त्वपूर्ण शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है। यदि आपको साहचर्य्य की शक्ति के नियम का कुछ भी बोध है तो आपको ज्ञात हो जायगा कि इस शब्द के साथ कितने अनगिनत महत्त्वपूर्ण और ओजस्वी

भाव लगे हुए हैं; उनका प्रयोग और मान करोड़ों मनुष्य करते आ रहे हैं और उनके साथ मनुष्य प्रकृति में जितने कुछ सर्वोत्कृष्ट, श्रेष्ठ, युक्तियुक्त, परमश्रद्धेय और महत्त्व-पूर्ण भाव हैं उन्हें लगाते आ रहे हैं। वे शब्द उन सब भावों के साहचर्य की व्यंजना करते हैं, उनका परित्याग हो कैसे सकता है? यदि हम इन सब बातों को प्रगट करना चाहते और आपको केवल इतना कह देते कि ईश्वर ने यह सब रचा है तब तो आपकी समझ में उसका कोई अर्थ ही न आता। पर इतना प्रयास करने पर अब हम उसी पुराणपुरुष और परमात्मा ईश्वर पर आकर पहुँचे हैं।

अब हम देखते हैं कि सृष्टि की शक्ति के भिन्न भिन्न रूप जैसे द्रव्य, बुद्धि, बल, चेतनता इत्यादि सब उसी जगदादि कारण चेतनता की सर्गकारी अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। उसको हम अब आगे महाप्रभु वा भगवान् कहेंगे। जो कुछ आप देखते सुनते वा समझते हैं वह सारा विश्व उसी की सृष्टि है; यदि और अधिक ठीक ठीक कहें तो उसी का प्रसार है और यदि और यथार्थ पूछते हो तो साक्षात् स्वयं ब्रह्म ही है। यह वही है जो सूर्य्य और तारात्रों में चमक रहा है, वही जगद्धात्री पृथ्वी है, वही साक्षात् समुद्र है। वही पानी होकर बरसता है, वही वायु रूप होकर हमारे श्वास प्रश्वास के द्वारा भीतर जाता आता रहता है, वही हमारे शरीरों में बलरूप होकर कर्म कर रहा है। वही वाणी है जो कही जा रही है, वही वक्ता है जो कह रहा है, वही श्रोता है जो सुन रहा है, वही यह वेदी है जहाँ मैं

खड़ा हूँ, वही प्रकाश है जिससे मैं आपको देखता हूँ, वही सब कुछ है। वही इस विश्व का उपादान और निमित्त कारण है, वही संकुचित होकर क्षुद्र कोश में प्रविष्ट होता है, वही पुनः विकसित होकर अंत को ईश्वर हो जाता है। वही है जो नीची अवस्था को प्राप्त होता और अणुरूप में प्रगट होता है और वही धीरे धीरे विकसित होते होते अपने गुणों को फैला कर ब्रह्मरूप हो जाता है। यही विश्व का रहस्य है। तू ही पुरुष है, तू ही स्त्री है, तू ही जवान बन के अकड़ता हुआ चलता है, तू ही बुड्ढा होके लकड़ी टेकता धीरे धीरे पैर बढ़ाता है। हे भगवन्, तू ही सब में है, तू ही सब कुछ है। इस सृष्टि के रहस्य का यही समाधान है, इसी से मनुष्य की बुद्धि को शांति मिलती है। सारांश यह है 'जन्माद्यस्य यतः' अर्थात् हम सब उससे उपजते, उसी में रहते और उसी में लय को प्राप्त होते हैं।

---

(१२) आंतर जगत् वा अंतरात्मा।

मनुष्य का मन बहिरुन्मुख होना चाहता है, मानो इंद्रियों के झरोखे से बाहर झाँकना चाहता है। आँखों से हम बाह्य जगत् को देखते, कानों से बाहर के शब्दों को सुनते, इसी प्रकार अन्य इंद्रियों से अन्य बाह्य विषयों का ग्रहण करते हैं; और सची बात तो यों है कि प्रकृति की रमणीयता और मनोहरता ही मनुष्य के ध्यान को पहले पहल आकर्षित करती है। पहला प्रश्न जो

मनुष्य की आत्मा में उठा वह इस बाह्य जगत् के संबंध में था। इस रहस्य का समाधान आकाश, तारे, चंद्र, सूर्यादि ग्रह नक्षत्रों, पृथ्वी, नदियों, पर्वतों, और समुद्रों से चाहा गया; सारे प्राचीन धर्मों में हम यह देखते हैं कि मनुष्य का मन, जैसे कोई अँधेरे में टटोलता हो वैसे कभी इसे कभी उसे यों प्रत्येक बाह्य विषय को पकड़ता रहा कि उससे समाधान हो जायगा। नदी भी देवता है, आकाश में देवता है, मेघ भी देवता, मेह भी देवता है; कहाँ तक कहें संसार भर के सारे बाह्य विषय जिन्हें अब हम प्रकृति की शक्तियाँ समझते हैं पहले मनुष्यों की दृष्टि में बदल बदला कर देवरूप बन गए हैं और सब में चेतन की तरह उपचार देखाई पड़ता है; कोई देवता है तो कोई देवी, कोई देवदूत, कोई कुछ, कोई कुछ। जब यह विचार और गंभीर होता गया तब आगे चल कर ये बाह्य विषय मनुष्य की आत्मा को शांति देने में असमर्थ सिद्ध हुए; अंत को विचार शक्ति अंतरुन्मुखी हुई और मनुष्य की आत्मा से उत्तर चाहा गया। स्थूल जगत् के प्रश्न से सूक्ष्म जगत् का प्रश्न उठ खड़ा हुआ; बाह्य जगत् से ध्यान अध्यात्म की ओर झुक गया। बाह्य जगत् की छान बीन करते करते मनुष्य आंतरिक जगत् की छान बीन करने में लगा, यह मनुष्य की अंतरात्मा की जाँच उस समय प्रारंभ होती है जब उसमें उच्च सभ्यता आ जाती है, जब वह प्रकृति की बड़ी ओर दृष्टि से निरीक्षण करने लगता है और बहुत उन्नति कर लेता है।

आज का विषय जिस पर हमें विचार करना है वह अंतरात्मा है। मनुष्य के लिये इस अंतरात्मा के प्रश्न से बढ़ कर कोई प्रिय और उपयोगी दूसरा प्रश्न है ही नहीं। यही प्रश्न करोड़ों बार सारे देशों में उठ चुका है। ब्रह्मर्षि राजर्षि, धनी निर्धन, साधु असाधु, स्त्री पुरुष, सब समय समय पर यही प्रश्न करते आए हैं; क्या इस मनुष्य के निःसार जीवन में कुछ सार नहीं है? जब इस शरीर का नाश हो जाता है तो क्या कुछ बच नहीं रहता है? इस क्षणभंगुर शरीर में कुछ नित्य स्थायी है वा नहीं? मनुष्य शरीर के भस्मांत के अनंतर कुछ रह जाता है वा नहीं? यदि है तो उसका क्या परिणाम होता है? वह जाता कहाँ है? वह कहाँ से आता है? यह प्रश्न बार बार होता चला आया है और जब तक सृष्टि है और मनुष्य में सोचने की शक्ति है लगातार होता ही जायगा। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इसका कुछ उत्तर वा समाधान हुआ ही नहीं है; प्रत्येक बार इसका समाधान हुआ है और ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा अच्छे से अच्छा समाधान होता जायगा। इस प्रश्न का उत्तर सहस्रों वर्ष हुए निश्चयरूप से सदा के लिये दिया जा चुका है और पीछे से लोग उसी को बार बार दुहराते, उसपर टीका टिप्पणी चढ़ाते और उसे उदाहरणों द्वारा विशद और बोधगम्य करते आ रहे हैं। अब हमें उसी को पुनः दुहराना है। मैं यह नहीं कहता कि मैं उस सर्वग्राही प्रश्न पर कोई विशेष नया प्रकाश डालूँगा, केवल

उस प्राचीन सत्य समाधान को आज कल की बोलचाल में वर्णन करूँगा, प्राचीन लोगों के विचार को आधुनिक भाषा में कहूँगा, दार्शनिकों की वार्ता सामान्य लोगों की बोलचाल में समझाऊँगा, देवताओं के विचार को तुच्छ मनुष्यों की भाषा में व्यक्त करूँगा कि मनुष्य उसे समझें; कारण यह है कि वही देवांश जिससे ये विचार उत्पन्न हुए हैं सदा मनुष्य में विद्यमान है और यही कारण है कि वह उन्हें सदा समझ सकता है।

मैं आपकी ओर ताक रहा हूँ। इस ताकने के लिये कितनी बातों की आवश्यकता है? पहले तो आँख की आवश्यकता है, क्योंकि यदि मैं और सब तरह संपन्न होऊँ और आँख न हो तो मैं आपको देख ही नहीं सकूँगा। दूसरी आवश्यकता हमें चक्षु-इंद्रिय की है क्योंकि आँख इंद्रिय नहीं है वह तो गोलकमात्र है—देखने का साधनमात्र है। आँखों के पीछे चक्षु-इंद्रिय है जिसका सूत्र मस्तिष्क से लगा है। यदि वह केंद्र मारा जाय तो मनुष्य की आँख कितनी ही अच्छी क्यों न हो उसे कुछ सुझाई ही न पड़ेगा। अतः यह आवश्यक है कि यह केंद्र, या वास्तव इंद्रिय भी हममें ठीक ही हो। यही दशा हमारी अन्य इंद्रियों की भी समझ लो। बाहरी कान श्रोत्रेंद्रिय नहीं है वह एक चोंगा है जिसमें होकर शब्दों के कंप केंद्र तक भीतर पहुँचते हैं। पर इतना ही मात्र पर्य्याप्त नहीं है। मान लीजिए कि आप अपने पुस्तकालय में बैठे ध्यानपूर्वक एक

पुस्तक पढ़ रहे हैं, घंटा बजता है पर आप उसे नहीं सुनते। शब्द भी हुआ, कान भी आपका है, आपकी इंद्रिय भी ठीक है, वायु में गति भी हुई, कान द्वारा कंप केंद्र में भी पहुँचा पर आपने सुना क्यों नहीं ? कमी किस बात की थी ? कमी यह थी कि आपका मन उधर नहीं था। अतः हम देखते हैं कि तीसरी आवश्यक बात यह है कि हमारा मन भी उधर ही हो। अतः तीन मुख्य चीजें हुईं, पहले तो इंद्रियों के बाहरी गोलक, दूसरे इंद्रियाँ जिनमें इन गोलकों द्वारा संवेदना पहुँचती है और अंत को मन और इंद्रियों का योग। जब तक इंद्रियों के साथ मन का योग नहीं होता बाह्य करण और इंद्रियों में संवेदना भले ही पहुँचे हमें उसका बोध नहीं होगा। और मन भी एक करण वा इंद्रिय ही है, यह भी संवेदना को और आगे ले जाता है और बुद्धि के सामने उसे रख देता है। बुद्धि भी व्यवसायात्मिका शक्ति है, वह जो उसके पास आता है उस पर निश्चय करती है। यहाँ पर भी समाप्ति नहीं हुई। बुद्धि उसे और आगे ले जाती है और शरीर के शासक के सामने, जिसे आत्मा कहते हैं, जो इसका राजा है, सब कुछ रख देती है। सब कुछ उसी के आगे जाता है, फिर उसके मुँह से आज्ञा होती है कि अमुक काम करो, अमुक काम मत करो; और वह आज्ञा उसी क्रम से पहले बुद्धि के पास, फिर मन के पास, फिर इंद्रियों के पास आती है। इंद्रियाँ उसे गोलकों तक पहुँचाती हैं, तब कहीं संवेदना की क्रिया की समाप्ति वा पूर्ति होती है।

इंद्रियों के कारण हमारे इसी बाह्य शरीर में हैं जिसे स्थूल शरीर कहते हैं, पर मन और बुद्धि उसमें नहीं हैं। वे उसमें हैं जिसे हिंदू दर्शनों ने सूक्ष्म शरीर और ईसाई लोगों ने आत्मिक शरीर कहा है; वह इस शरीर से बहुत ही सूक्ष्म है पर वह आत्मा नहीं है। आत्मा इन सब से कहीं परे है। स्थूल शरीर सुगमता से थोड़े दिनों में नाश हो जाता है, साधारण से साधारण बात में उसका नाश हो सकता है। सूक्ष्म शरीर का इतनी सुगमता से नाश नहीं होता पर वह कभी दुर्बल और कभी प्रबल होता रहता है। हम देखते हैं कि जब मनुष्य वृद्ध हो जाता है तो उसका मन निर्बल हो जाता है, शरीर जब शक्तिशाली और स्वस्थ रहता है तब मन भी बलवान् रहता है, भिन्न भिन्न औषधियों का मन पर प्रभाव होता है, उत्तम भोजनादि से मनुष्य के शरीर और मन को प्रबलता प्राप्त होती है। इस मन पर बाह्य जगत् के विषयों का प्रभाव पड़ता है और मन इस बाह्य जगत् पर प्रभाव डालता है। जैसे शरीर का क्रमशः वृद्धि और ह्रास होता रहता है वैसे ही मन में भी वृद्धि और ह्रास भी लगा रहता है; अतः मन आत्मा नहीं है क्योंकि आत्मा में क्षय और विकार नहीं होते हैं। पर उसका हमें बोध कैसे हो? हम यह जान कैसे सकते हैं कि मन से परे भी कुछ है? इसी से कि ज्ञान जो स्वयं ज्योतिःस्वरूप है और सारी चेतनता का मूल है जड़ और अचेतन द्रव्य का धर्म हो नहीं सकता। कभी किसी जड़ द्रव्य के संघात में निज की

चेतनता देखी नहीं गई है; जड़ अचेतन द्रव्य में अपना प्रकाश कहाँ ? यह चेतनता ही है जिससे द्रव्यों में प्रकाश आता है। इस कमरे की सत्ता का बोध चेतनता ही से होता है। क्योंकि यदि कोई चेतनता इसे न बनाती तो इसकी सत्ता ही कमरे के रूप में अज्ञात होती। यह शरीर स्वयंप्रकाश नहीं है, यदि इसमें निज का प्रकाश होता तो मरने पर भी तो वह रह जाता। न मन में और सूक्ष्म शरीर हो में निज का प्रकाश है। इनमें चेतनता का तत्त्व नहीं है। जो स्वयंप्रकाश है उसका क्षय कहाँ ? जिनमें दूसरे की ज्योति से प्रकाश होता है उनका प्रकाश आता जाता रहता है; पर जो स्वयं ज्योतिःस्वरूप है, प्रकाशमय है, उसमें गति विगति, वृद्धि क्षय, किसके करने से हो सकते हैं ? हम देखते हैं कि चंद्रमा की कलाएँ घटती बढ़ती रहती हैं, इसीसे कि वह सूर्य्य की ज्योति से प्रकाशमान है। लोहे का गोला जब आग में तपाया जाता है तब वह लाल अग्नि वर्ण हो जाता है, दमक उठता और चमकने लगता है पर उसका प्रकाश क्षय हो जायगा क्योंकि वह दूसरे से आया है। अतः क्षय केवल उसी प्रकाश का हो सकता है जो दूसरे से मिला हुआ है, अपने तत्त्व का नहीं।

अब हम देखते हैं कि इस शरीर, इस स्थूल पिंड, का धर्म निजका प्रकाश नहीं है, न यह स्वयंप्रकाश ही है और न इसे अपना ज्ञान ही हो सकता है। और यह दशा मन की भी है। उसे भी आत्मबोध नहीं है। क्यों नहीं ? इसका कारण

यही है कि मन के साथ भी ह्रास और वृद्धि लगी हुई है, वह भी कभी प्रबल और कभी निर्बल होता रहता है क्योंकि इस पर थोड़ा बहुत किसी न किसी वस्तु का और सब वस्तुओं का प्रभाव पड़ता रहता है। अतः वह प्रकाश जो मन से हो कर निकलता है इसका अपना प्रकाश नहीं है। अच्छा फिर वह है किसका ? यह उसीका प्रकाश है जिसका धर्म ही प्रकाश है; और प्रकाश-धर्म होने ही के कारण जिसका नाश और क्षय नहीं है; जो न कभी बढ़ता ही है न घटता ही, न प्रबल होता है न निर्बल, जो स्वयं प्रकाश है, प्रकाशस्वरूप ही है। यह हो नहीं सकता कि आत्मा को ज्ञान हो, किंतु आत्मा स्वयंज्ञानस्वरूप और ज्ञान ही है। यह हो नहीं सकता कि आत्मा की सत्ता हो, किंतु आत्मा स्वयं सत्ता ही है। यह संभव नहीं कि आत्मा को आनंद हो, अपितु स्वयं आत्मा आनंद ही है। उसके अतिरिक्त जो आनंद पाता है वह दूसरे के आनंद ही से स्वयं आनंदित होता है; जिसे ज्ञान होता है वह दूसरे के ज्ञान से ज्ञानी बनता है; जिसमें सापेक्ष सत्ता होती है वह केवल प्रतिबिंबित सत्ता मात्र है, जहाँ गुण देख पड़ते हैं, वहाँ वे गुण केवल प्रतिबिंब मात्र हैं, जो द्रव्य पर पड़ते हैं; पर आत्मा में सत्ता, ज्ञान और आनंद गुणरूप नहीं हैं, वे उसके धर्म हैं, वे आत्मा के स्वधर्म हैं।

अब आप लोग यह कहेंगे कि हम इसे यों ही मान कैसे लें ? हम यह क्यों मानें कि ज्ञान, सत्ता और आनंद आत्मा के धर्म हैं और ये किसी दूसरे के धर्म नहीं हैं जो उसमें आ गए हैं ? इसपर

यह तर्क उठ सकता है कि आत्मा में भी प्रकाश, आनंद और ज्ञान उसी प्रकार किसी और से आए हैं जैसे शरीर का प्रकाश मन से आता है ? इस प्रकार के तर्क में यह दूषण है कि इसमें अनवस्था दोष आ जायगा, जाते जाते हम कहाँ ठहरेंगे ? ये कहाँ से आए ? यदि हम किसी और से आना बतलाते हैं तो फिर वही प्रश्न हमारे सामने आ जाता है और कहीं अंत नहीं होता। अतः अंत को हमें किसी न किसी स्वयंप्रकाश ठिकाने पर लगना पड़ेगा; और किसी न किसी को प्रकाशस्वरूप वा स्वयंप्रकाश मानना ही पड़ेगा; विवाद को अधिक न बढ़ा कर न्याय की शैली यही है कि हम वहाँ ठहर जाँय जहाँ हमें स्वयंप्रकाशता मिलती हो और आगे बढ़ने का व्यर्थ प्रयास न करें।

हम देखते हैं कि मनुष्य में पहले तो यह बाह्य आवरण है जिसे हम स्थूल शरीर कहते हैं। फिर दूसरा सूक्ष्म शरीर है जिसमें मन, बुद्धि और अहंकार हैं। उसके परे मनुष्य की आत्मा है। हम देख चुके हैं कि स्थूल शरीर के सारे गुण और शक्तियाँ मन से आई हैं और मन वा सूक्ष्म शरीर में शक्ति और प्रकाश आत्मा से आए हैं जो सबसे परे हैं।

आत्मा के धर्म के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। यदि आत्मा के स्वयंप्रकाश होने से यह उपपत्ति निकाली जाय कि इसकी पृथक् सत्ता है और ज्ञान, सत्ता और आनंद इसके धर्म हैं, इससे उसका होना माना जाय तो इससे यह आता है कि आत्मा की सृष्टि नहीं हुई है, वह नित्य है। स्वयंप्रकाश सत्ता, अन्य सत्ता

की निरपेक्ष सत्ता, कभी अन्य सत्ता से उत्पन्न नहीं हो सकती। यह नित्य है, ऐसा कोई समय न था जब यह न रही हो, कारण यह है कि जब आत्मा ही नहीं थी तब काल कहाँ था ? काल तो आत्मा ही में है; जब आत्मा अपना बल मन को देती है और मन विचार में प्रवृत्त होता है तभी काल की उत्पत्ति होती है। जब आत्मा ही न थी तब विचार कहाँ: और विचार के बिना काल कहाँ ? फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा काल में है जब काल स्वयं आत्मा में है ? न इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है, तो यह सभी अवस्थाओं में बनी रहती है। यह धीरे धीरे क्रमश: अभिव्यक्त होती रहती है और नीची दशा से ऊँची दशा को प्राप्त होती जाती है। यह अपनी महिमा को प्रकाशित करती जाती है और मन के द्वारा शरीर पर काम करती है; शरीर द्वारा बाह्य विषयों को ग्रहण करती है और उन को अपने बोध में लाती है। यह शरीर धारण करती है और शरीर से काम लेती है; और जब शरीर काम के योग्य नहीं रह जाता और निकम्मा हो जाता है तब यह दूसरा शरीर धारण करती है और इसी प्रकार करती जाती है।

अब एक बड़े महत्त्व का प्रश्न उठता है। वह प्रश्न आत्मा के पुन: शरीर धारण करने का है जिसे आवागमन कहते हैं। कभी कभी लोगों को इसे सुन कर भय लगता है। अंधविश्वास तथा पक्ष-पात इतना प्रबल है कि विवेकी लोगों का भी यह विश्वास है कि वे शून्य से उत्पन्न हुए हैं, और फिर वे बड़ी युक्ति से इस कल्पना

को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि यद्यपि हुए तो हैं वे शून्य से, पर रहेंगे सदा और शाश्वत। जिनकी उत्पत्ति शून्य से है उनका क्षय भी अवश्य शून्य ही में होगा। न तो आप, न मैं, न और कोई जो यहाँ उपस्थित हैं शून्य से हुए हैं और अंत को शून्य होंगे। हम सदा से हैं और रहेंगे, सूर्य्य के इधर या उधर कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो आपकी या हमारी सत्ता का नाश कर सकती हो या हमें शून्य बना सकती हो। यह आवागमन का सिद्धांत डरावना सिद्धांत नहीं है किंतु मनुष्य जाति के धार्मिक कल्याण के लिये अत्यंत उपयोगी सिद्धांत ठहरता है। केवल यही न्याययुक्त परिणाम है जिसपर समझदार मनुष्य पहुँच सकते हैं। यदि आप भविष्य में अनंत काल तक रहना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि आप भूतकाल में अनादि काल से रहते आए हों; यह अन्यथा हो ही नहीं सकता। मैं कुछ ऐसी आपत्तियों का उत्तर देना चाहता हूँ जो इस सिद्धांत पर हुआ करती हैं। यद्यपि आप लोगों में कितने उन्हें लड़कपन की सी बातें कहेंगे पर फिर भी मैं उनका समाधान करना आवश्यक समझता हूँ। कारण यह है कि कभी कभी बड़े बड़े बुद्धिमान लोग भी ऐसी लड़कपन की बातें करने पर उद्यत हो जाते हैं। किसी ने ठीक कहा है कि कोई ऐसी मूर्खता की बात न होगी जिसके पक्ष का समर्थन तार्किकों ने न किया हो। पहली आपत्ति यही है कि यदि पुनर्जन्म है तो हमें हमारे पूर्वजन्म का स्मरण क्यों नहीं रहता? क्या हमें इस जन्म की सारी बीती बातों का स्मरण रहता है? आप लोगों में कितने

लोगों को अपने बचपन की बातों की सुधि आती है ? मैं समझता हूँ कि आप लोगों में किसी को अपने बहुत छुटपने की बातों की सुधि न आती होगी। अब यदि आपकी स्मृति ही पर आपकी सत्ता निर्भर है तब तो बचपन में आपकी सत्ता ही न ठहरी क्योंकि आपको उस अवस्था की स्मृति नहीं है। यह कहना कि हमारी सत्ता केवल स्मृति ही के कारण है केवल प्रलापमात्र है। हमें पूर्वजन्म का स्मरण ही क्यों रहे ? वह मस्तिष्क तो रहा नहीं, यह तो एक नया मस्तिष्क है। जो इस मस्तिष्क में है वह पूर्व-जन्म-कृत कर्मों का परिणाम है—पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कारों का समूह-मात्र, जिसे लेकर हमारा मन इस नए शरीर में आया है।

मैं जो यहाँ खड़ा हूँ अनादि काल से होते हुए पूर्व जन्मों का कार्य्य और फलस्वरूप हूँ, मुझमें अनंत काल के संस्कार भरे पड़े हैं और इसकी आवश्यकता ही क्या है कि मुझे बीते हुए जन्मों का स्मरण ही हो ? जब कोई यह कहता है कि अमुक महर्षि वा नबी ने सत्य का साक्षात् करके कुछ कहा है तब आधुनिक लोग यही कहा करते हैं कि 'वह मूर्ख था', उसकी बातें ठीक नहीं थीं, पर उनके स्थान पर नाम बदल दो और कहो कि यह हक्सले या टेंडल ने कहा है तब वे कहते हैं कि वह अवश्य ठीक है, उसे झट निर्विवाद मान ही लेते हैं। प्राचीन अंधविश्वास के स्थान में अब उनमें आधुनिक अंधविश्वास आ गया है। धर्म के पुराने पोपों के स्थान पर नए वैज्ञानिक पोपों को गद्दी पर बैठा दिया है।

अतः हम देखते हैं कि यह आपत्ति कि हम को पूर्वजन्म का स्मरण नहीं रहता असंगत है और यही एक प्रबल आपत्ति है जो इस सिद्धांत पर की जाती है। यद्यपि हम यह दिखला चुके हैं कि इस सिद्धांत की सत्यता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि पूर्वजन्म का स्मरण हो ही, पर फिर भी हम कह सकते हैं कि ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि यह स्मृति होने लगती है और हम सबको पूर्व जन्मों का स्मरण उस जन्म में हो जायगा जब हम मुक्त हो जायँगे। तभी आपको यह जान पड़ेगा कि यह संसार स्वप्नवत् है; तभी आपको अपनी आत्मा की आत्मा में यह साचात्कार हो जायगा कि आप नट हैं और यह संसार रंगभूमि है; तभी आप में मेघ की सी गरज के साथ असंगता के भाव का उदय होगा; तभी सुख की सारी तृष्णा, इस जीवन और संसार के सारे राग सदा के लिये छूट जायँगे; तब आपको स्पष्ट देखाई पड़ेगा कि यह संसार आपके लिये कितनी बार बन बिगड़ चुका है और कितनी बार आपका माता, पिता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पुरुष, इष्ट, मित्र धन, बल के साथ संयोग हो चुका है। वे आए और गए। कितनी बार आप इस भवसागर की लहरों के शिखर पर आए हैं और कितनी बार नैराश्य की गहराई में पहुँच चुके हैं। फिर जब आपको इन सब बातों का स्मरण हो जायगा तब आप महापुरुष बन कर खड़े होंगे और जब संसार में आपको कोई कष्ट पड़ेगा तब उसे देख कर हँसेंगे। उस समय आप कह सकेंगे कि

मृत्यु, मैं तेरी परवाह नहीं करता, तू मेरा कर ही क्या सकती है ? यही सब की अवस्था होगी।

क्या आवागमन के पक्ष में कोई युक्ति और न्यायसंगत प्रमाण भी हैं ? अभी तक तो हम विरुद्ध पक्ष का खंडन करते आए हैं और हमने सिद्ध किया है कि विपक्ष की उपपत्तियां जो इसके खंडन में दी जाती हैं कैसी असंगत हैं। अब हम मंडन का पक्ष उठाते हैं। इसके पक्ष में प्रमाण भी हैं और वे बड़े प्रबल प्रमाण हैं। हम देखते हैं एक मनुष्य की समझ में दूसरे मनुष्य की समझ से कितना अंतर है, एक उसी बात को चट समझ जाता है, दूसरा बारबार समझाने से भी नहीं समझता, इस भेद का समाधान आवागमन के सिद्धांत के अतिरिक्त दूसरी बात से यथार्थ हो ही नहीं सकता है। पहले हमें उस क्रम का विचार करने की आवश्यकता है जिसके अनुसार बोध प्राप्त होता है, ज्ञान की उपलब्धि होती है। मान लीजिए कि मैं सड़क या गली में निकला और वहाँ मैंने एक कुत्ता देखा। मुझे इसका ज्ञान कैसे होता है कि यह कुत्ता ही है ? मैं अपने अनुभव को मन के पास भेज देता हूँ, मेरे मन में पूर्व के सब अनुभूत विषयों का यथाक्रम वर्गानुसार संचय रहता है। ज्यों ही कोई नई उपलब्धि होती है मैं उसे लेकर पुराने वर्गीकरणों से मिलाता हूँ, जब मुझे उनमें कोई वैसा ही संचित संस्कार मिल जाता है मैं उसे उसी वर्ग में रख देता हूँ, और मुझे उसका निश्चय हो जाता है। मैं इसे कुत्ता इस कारण समझ लेता हूँ कि यह पूर्व के संचित अन्य

तद्रूप संस्कारों से मिलता जुलता है। यदि मुझे वहाँ उसके समान धर्मी कोई अन्य संचित संस्कार नहीं मिलते हैं तो मुझे निश्चय नहीं होता। जब हमें कोई संचित समान धर्मी संस्कार नहीं मिलता और निश्चय नहीं होता है तब मन की इस वृत्ति को अज्ञान वा अबोध कहते हैं, पर जब हमें और सधर्म संस्कार मिल जाते हैं और निश्चय हो जाता है तब उस वृत्ति का नाम ज्ञान होता है। जब एक सेब गिरा तो देखने-वाले में अनिश्चय वृत्ति हुई, पर ज्योंही उसे धीरे धीरे अपने संचित संस्कारों में उस का समान धर्मी वर्ग मिल गया उसमें निश्चय की वृत्ति आगई। अब उन लोगों ने इसका कौन सा वर्ग बनाया? यही कि सब सेब गिरते हैं, इस वर्ग का नाम 'गुरुत्व' वा 'गुरुत्वाकर्षण' नियम रख लिया। यों हम देखते हैं कि बिना पूर्व संचित अनुभवों के समूह के नया अनुभव असंभव हो जाता है। कारण यह कि जहाँ संचित संस्कार का नितांत भाव है वहाँ नए संस्कार का मिलान किसके साथ हो। अतएव यदि जैसा कि योरोप के कुछ दार्शनिक लोग समझते हैं, बच्चा संसार में बिना किसी पूर्व संस्कार के जन्म लेता है जिसे कहते हैं कि कोरा कागज़ या कोरी तख्ती लेकर जन्म लेता है, तो ऐसे बच्चे को कुछ भी ज्ञान-शक्ति नहीं हो सकती है क्योंकि उसके भीतर तो कुछ संस्कार हैं ही नहीं, वह नए अनुभवों को किससे मिलावेगा। हम यह भी देखते हैं कि ज्ञानोपलब्धि की शक्ति भिन्न भिन्न मनुष्यों में विभिन्न हुआ करती है, इससे स्पष्ट प्रगट होता

है कि सब अपना अलग अलग ज्ञानभांडार लेकर जन्म लेते हैं। ज्ञान के प्राप्त करने का मार्ग एक ही है और वह अनुभव है, इसके अतिरिक्त दूसरा ज्ञान का मार्ग ही नहीं है। यदि हमारे पास इस जन्म का अनुभव नहीं है तो किसी और जन्म का अनुभव सही। हमें मृत्यु से भय क्यों लगता है? यह भय एकदेशी नहीं है, सर्वव्यापक है। मुर्गी का बच्चा अभी अंडे से बाहर निकला है, चील उसपर झपटी और बेचारा डर से अपनी माता के पास भागता है। इसका एक पुराना समाधान है। मैं तो उसे समाधान के नाम का गौरव देना नहीं चाहता। सहज ज्ञान वा नैसर्गिक बुद्धि के नाम से इसका समाधान किया जाता है। भला यह तो बतलाइए कि उस बेचारे को अभी अंडे से निकले कुछ देर भी न हुई वह मरने से क्यों डरा? अच्छा यह कहिए कि मुर्गी बतख के अंडे को लेकर फोड़े और उससे बतख का बच्चा निकला है तो ज्यों ही वह पानी के पास जाता है तो वह उसमें कूद कर तैरने कैसे लगता है? वह तो कभी तैरा नहीं था और न उसने किसी को तैरते ही देखा था। लोग इसे 'सहज ज्ञान' कहते हैं। देखने में तो यह बड़ा सा नाम है पर इससे काम कुछ नहीं चलता। तनिक सहज ज्ञान की लीला तो देखिए। बच्चा पियानो बजाना आरंभ करता है। पहले तो उसे एक एक पर्दे पर ध्यानपूर्वक हाथ लगा कर बजाना पड़ता है और इस प्रकार महीनों क्या, वर्षों अभ्यास करने पर बिना विचारे भी उसका हाथ पर्दे पर ठीक ही पड़ेगा

और वह बिना ध्यान दिए भी उसे बजा सकेगा। जो काम वह पहले जान बूझ कर करता था अब उसे वैसा करना नहीं पड़ता, सहज सा हो गया, बुद्धि पर ज़ोर देने की आवश्यकता न रही, इच्छा पर बल नहीं लगाना पड़ता। यह प्रमाण अभी पूरा नहीं हुआ, आधा तो रह गया। सारे काम जो सहज ही बिना प्रयत्न के होते हैं वे भी इच्छा के वशीभूत किए जा सकते हैं। शरीर की नस नस वश में लाई जा सकती है। यह सभी जानते हैं। अब इसने दूने चक्कर पर प्रमाण पूरा हुआ अर्थात् जिसे हम अब सहज ज्ञान कहते हैं वह ज्ञानपूर्वक क्रिया का संकोच या रूपांतर मात्र है; अतः यदि इसी न्याय को सृष्टि मात्र पर लगाया जाय, यदि प्रकृति में विषमता नहीं है, तब तो यह सिद्ध होता है कि छोटे छोटे जंतुओं से लेकर मनुष्य तक में जो 'सहज ज्ञान' है वह केवल इच्छा का एक विकार मात्र है।

अब उस नियम को लगाने से जिसका हम स्थूल जगत् के व्याख्यान में वर्णन कर चुके हैं, अर्थात् आरोह के पूर्व अवरोह और अवरोह के पूर्व आरोह रहा करता है, हमें तो यह जान पड़ता है कि सहज ज्ञान बुद्धि या विवेक का केवल अवरोह स्वरूपमात्र है। मनुष्यों और पशुओं में जिसे हम सहज ज्ञान कहते हैं वह केवल ज्ञानपूर्वक क्रिया का एक विकार, संकोच या अव-रोह मात्र है और ज्ञानपूर्वक क्रिया का होना अनुभव बिना असंभव है। अनुभव से वह ज्ञान उत्पन्न हुआ और वह ज्ञान अब तक है। मुर्गी के बच्चे में मृत्यु का भय, बतख़ के बच्चे में तालाब देख कर

उसमें तैरने के लिये कूदना और मनुष्यों में जो बिना ज्ञान के क्रियाएँ देखी जाती हैं, जो सब सहज ज्ञान से उत्पन्न कहलाती हैं उसी पूर्वानुभव की परिणाममात्र हैं। यहाँ तक तो हम आनंद से आ गए और आधुनिक विज्ञान भी यहाँ तक हमारे साथ साथ आया। अब यहाँ एक कठिनाई का सामना पड़ता है। आधुनिक वैज्ञानिक भी अब ऋषियों के मत को फिर मानने लगे और जहाँ वे सुपथ पर लौट आए हैं वहाँ दोनों के मत एक हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक जंतु अनुभव का भंडार लिए उत्पन्न होता है और उसके सारे मानसिक व्यापार उसी पूर्वानुभव के परिणाम हैं। पर यहाँ आकर वे यह पूछने लगते हैं कि यह कहने में क्या लाभ है कि अनुभव आत्मा वा जीवात्मा ही का है? यह क्यों नहीं कहा जाय कि वह शरीर का, केवल शरीर ही का, अनुभव है अन्य का नहीं? उसे पैत्रिक संक्रमण क्यों नहीं मानते, यह कोई नहीं कहता कि देह देह में ही वंश-परंपरा में चला आया है? यही अंतिम प्रश्न है कि यह क्यों नहीं कहा जाय कि सारा अनुभव जिसे लेकर हम उत्पन्न होते हैं हमारे पूर्वजों के अनुभवों का परिणाम स्वरूप कार्य्य मात्र है? छोटे एकेंद्रिय जंतु से लेकर ऊँचे से ऊँचे मनुष्य तक का अनुभव हममें संचित है, पर यह पिता पितामह आदि से संक्रमण द्वारा एक के शरीर से दूसरे के शरीर में होता हुआ हम तक आया है ऐसा मानने में कठिनाई कहाँ पड़ेगी? बात

तो बहुत ही अच्छी है और हम भी इस पैत्रिक संक्रमण को किसी न किसी अंश में स्वीकार किए लेते हैं। पर कहाँ तक? जहाँ तक कि इसका काम शरीर के लिये सामग्री संपादन करने का है। हम अपने पूर्व जन्म के कर्मों द्वारा अपने को इस योग्य बना लेते हैं कि अमुक जन्म में अमुक प्रकार का शरीर हमें मिले और ऐसे शरीर के लिये उपयुक्त सामग्री माता पिता के शरीर ही से आती है जो अपने को इस योग्य बना चुके हैं कि अमुक आत्मा उनके यहाँ संतान रूप में जन्म ग्रहण करे।

पैत्रिक संक्रमण का सिद्धांत सीधा सादा जान पड़ता है किंतु उसमें यह आश्चर्यकारक सिद्धांत बिना सोचे विचारे मान लिया गया है कि मानसिक अनुभव का संस्कार भौतिक देह पर रक्खा रह सकता है, मानसिक अनुभव भौतिक रूप में अपना संकेत बना लेता है। जब मैं आप को देखता हूँ तब मेरे अंतःकरण में एक लहर उठती है। लहर विलीन हो जाती है पर सूक्ष्म रूप से उसका संस्कार वा उल्लेख बना रहता है। हम मान सकते हैं कि भौतिक उल्लेख वा संस्कार शरीर में रह जाय। पर इसमें प्रमाण क्या है कि हम यह भी मान लें कि मानसिक संस्कार का उल्लेख भी शरीर ही में रह सकता है, क्योंकि हम यह भी तो देखते हैं कि शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है। फिर उसे जन्मांतर तक कौन ले जाता है? हम यह भी मान लें कि यदि यह संभव हो कि सारे के सारे मानसिक उल्लेख शरीर में बने ही रहें, और आदि पुरुष से लेकर मेरे पिता तक के सारे संस्कार वा

उल्लेख मेरे पिता के शरीर में थे तो भी यह बतलाइए कि वे मुझ तक आए तो कैसे आए ? क्या जीवनतत्व के कोश अर्थात् वीर्याणु के द्वारा ? पर यह हो कैसे सकता है ? बाप का सारा शरीर तो बच्चे में आता नहीं है। इसके अतिरिक्त एक ही माता पिता के अनेक संतान होती हैं; तो इस पैत्रिक संक्रमण के सिद्धांत के अनुसार जिसमें संस्कृत और संस्कार एक ही (अर्थात् भौतिक वा प्राकृतिक) ठहरते हैं यही परिणाम निकलता है कि प्रत्येक संतान के जन्म के साथ माता पिता के संस्कारों का एक एक अंश क्षय होता जाता है। यदि कहीं माता पिता के सारे संस्कार संतान में आते हों तब तो पहली ही संतान की उत्पत्ति होने पर उनका मन संस्कारशून्य रह जायगा।

फिर यदि जीवनतत्त्व के कोश में सदा के संस्कार जिनका कुछ अंत नहीं, समाविष्ट हैं तो यह बतलाइए कि वे कहाँ समाविष्ट हैं और कैसे समाविष्ट हैं ? यह पक्ष अत्यंत असंभव है और जब तक भौतिक विज्ञानवेत्ता लोग यह न सिद्ध कर दें कि उस कोश में वे संस्कार कहाँ रहते हैं और कैसे रहते हैं और यह न बतला दें कि इस कथन से कि मानसिक संस्कार भौतिक कोश में प्रसुप्त दशा में रहते हैं उनका अभिप्राय क्या है उनका पक्ष कभी बिना प्रमाण के माननीय नहीं हो सकता। अब यहाँ तक तो स्पष्ट है कि यह संस्कार मन में रहता है, मन जन्म जन्मांतर ग्रहण करता

रहता है और अपने लिये जो सामग्री उसे उपयुक्त जान पड़ती है उसे काम में लाता है। यह भी सिद्ध हुआ कि जो मन अपने को विशेष प्रकार के शरीर को धारण करने के योग्य बना चुका है वह तब तक प्रतीक्षा करता रहता है जब तक कि उसे उपयुक्त सामग्री नहीं मिलती है। यहाँ तक तो हम समझ गए। अब आगे सिद्धांत यह है कि पैत्रिक संक्रमण वहीं तक है जहाँ तक कि जीवात्मा के लिये द्रव्य वा सामग्री के संपादन करने का संबंध है। पर जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता और अपने लिये नए नए शरीर बनाता रहता है और हमारे प्रत्येक विचार और कर्म जिन्हें हम करते रहते हैं पुनः उत्पन्न होने और नया रूप धारण करने के लिये सूक्ष्म रूप से संचित और तैयार रहते हैं। जब मैं आपकी ओर देखता हूँ तब मेरे मन में एक लहर उठती है। वह लहर बैठ जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्म होती जाती है, पर नष्ट नहीं होती। वह बनी रहती है कि स्मृति के रूप में पुनः लहर ही की तरह उठ सके। अतः सारे संस्कार मेरे अंतःकरण में बने रहते हैं और जब मैं मर जाता हूँ तो उनके फल का प्रभाव मुझ पर बना रहता है। मान लीजिए कि यहाँ एक गेंद है और हम लोग अपने हाथों में हथौड़ा लिए उस गेंद पर चारों ओर से चोटें मार रहे हैं। गेंद कोठरी भर में एक ओर से दूसरी ओर चोटों के मारे फिर रहा है पर ज्यों ही वह द्वार पर पहुँचता है वह झट बाहर निकल ही जाता है। वह अपने साथ क्या लेकर जाता है? उन्हीं चोटों का फल।

वही उसे जाने की दिशा बतलाता है। अतः जीवात्मा को शरीर के नाश होने पर ले कौन जाता है? उसके सारे कायिक और मानसिक कर्मों के फल ही ले जाते हैं। यदि कर्मों का फल यह होता है कि वह और अनुभव प्राप्त करने के लिये नया शरीर धारण करे तो वह उन माता पिता के पास जायगा जो उसके लिये उपयुक्त शरीर के बनाने की सामग्री देने के लिये तैयार बैठे हैं। इस प्रकार वह एक शरीर से दूसरे शरीर में, कभी स्वर्ग में कभी पृथ्वी पर, आता जाता रहेगा; कभी मनुष्य योनि में जायगा, कभी पशु की योनि में। इस प्रकार वह आवागमन के चक्र में फिरता रहेगा जब तक कि उसे पूर्ण अनुभव प्राप्त नहीं हो जायगा और चक्र पूरा न हो जायगा। तब उसे अपने स्वरूप का बोध हो जायगा और वह यह जान जायगा कि मैं क्या हूँ, उसकी अविद्या जाती रहेगी, उसकी शक्तियाँ अभिव्यक्त हो जायँगी, वह आप्त बन जायगा, तब फिर उसे आगे को भौतिक शरीरों के द्वारा कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है और न उसे सूक्ष्म वा मानसिक शरीर ही के द्वारा काम करने की आवश्यकता रहती है। वह अपने प्रकाश से प्रकाशमान और मुक्त हो जाता है, न फिर उसे जन्म लेना रह जाता है, न मरना।

अब हम इसके विशेष विवरण में उलझना नहीं चाहते। केवल आपके सामने आवागमन के सिद्धांत के संबंध में एक और बात कहना चाहते हैं। इस सिद्धांत से ही आत्मा वा

जीवात्मा का मुक्त-स्वभाव होना पाया जाता है। यहा एक ऐसा सिद्धांत है जो मनुष्य जाति की सब त्रुटियों का दोष दूसरे के सिर पर नहीं मढ़ता, जो मनुष्य जाति का सामान्य हेत्वाभास है। हम अपने दोषों पर दृष्टिपात नहीं करते हैं; आंखें अपने को नहीं देखतीं, दूसरों की आंखों को देखा करती हैं। मनुष्य अपने दोषों को देखने में बड़े शिथिल होते हैं, जब तक हमें कोई दूसरा जिस के सिर हम अपने दोषों को मढ़ते रहें मिलता जाता है, तब तक हम अपने को दोषी कभी नहीं ठहराते। मनुष्य प्रायः अपने दोषों को दूसरे मनुष्यों पर लगाया करते हैं और जब और कोई नहीं मिलता तो ईश्वर ही सही, या नया भूत खड़ा कर लिया कि भाग्य है, नियति है; उसी को कोसा करते हैं। पर भाग्य कहाँ है और क्या है? हम जो बोते हैं वही काटते हैं। हम अपने भाग्य के आप विधाता हैं। किसी और का इसमें दोष क्या है, स्तुति है तो हमारी, निंदा है तो हमारी। वायु चल रही है, जिन नावों पर पाल चढ़ा है वायुबल से अपने मार्ग पर जाती हैं, जिन पर पाल नहीं है वे पड़ीं झोंका करती हैं। इसमें वायु का क्या दोष है? क्या यह उस करुणामय परम पिता का दोष है, जिसकी करुणा की वायु निरंतर दिन रात चल रही है, जिसकी दया का कहीं अंत ही नहीं है। इसमें उसका क्या दोष है कि कोई सुखी है और कोई दुखी? अपने भाग्य के विधाता हम ही हैं। उसका सूर्य जैसे निर्बल के लिये प्रकाश करता है वैसे ही प्रबल के लिये। उसकी वायु पापी

और पुण्यात्मा दोनों के लिये समान चलती है। वह सबका स्वामी, सबका पिता, दयामय, पक्षपातशून्य है। क्या आप समझते हैं कि वह करुणामय जगदीश्वर हमारे जीवन की तुच्छ तुच्छ बातों को उसी दृष्टि से देखता है जैसे हम लोग देखा करते हैं? यह ईश्वर के विषय में क्या ओछा भाव है? हम तो कुत्ते हैं, दिन रात जन्म-मरण के झगड़े में पड़े हैं और अपनी मूर्खता से यह समझा करते हैं कि ईश्वर भी हमारे झगड़ों को ऐसा ही समझता है। वह भली प्रकार जानता है कि कुकुरझौंझौं क्या है। हमारा उस पर दोष लगाना और उसे पाप-पुण्य का फल देनेवाला बनाना हमारी मूर्खता है। वह न किसी को दंड देता है और न फल देता है। उसकी अनंत करुणा का द्वार सब के लिये सदा सब जगह निरंतर खुला है, यह हमारा अभेद और अचूक काम है कि उससे जैसा चाहें काम लें, जैसा चाहें उसका उपयोग करें। न किसी मनुष्य को दोष दो, न ईश्वर को दोष दो, और न किसी और को दोष दो। जब आप दुःख में पड़ो तो अपने को दोष दो और अच्छा होने की चेष्टा करो।

इस समस्या का यही समाधान है। जो लोग दूसरों को दोष देते हैं—और दुःख की बात है कि ऐसे लोगों की संख्या दिन दिन बढ़ती जा रही है—वे प्रायः दुखी हैं। वे कूढ़मग़ज़ समझते नहीं और अपनी मूर्खता से ऐसी अवस्था में फँसे हैं। वे दूसरों को तो दोष लगाते हैं, पर इससे उनका सुधार नहीं होता। इससे उनका काम किसी प्रकार न निकलेगा। दूसरों पर दोष

लगाते लगाते वे अधिक निर्बल होते जाते हैं। अतः अपने दोषों को दूसरों के सिर मढ़ना छोड़ो, अपने पैरों के बल खड़े हो और सारा भार अपने कंधे पर सम्हालो। कहो कि ये दुःख जिन्हें हम सह रहे हैं हमारे ही कर्मों के फल हैं और इसीसे यह सिद्ध होता है कि हम ही उन्हें मेट भी सकते हैं। जिसे हमने बनाया उसको बिगाड़ेंगे भी हम ही, जिसे दूसरे ने बनाया है हम उसको हाथ भी नहीं लगा सकते। अतः उठो, साहस करो और दृढ़ बनो। सारा भार अपने ऊपर उठा लो और समझो कि आप ही अपने भाग्य के विधाता हैं। सारा बल और सहायता जिसकी आपको आवश्यकता है आप में ही है। अतः अपना भविष्य बनाओ। बीती को बिसार दो। आगे को तो देखो, अनंत भविष्यत् आपके सामने है। चेत करो कि आपके सारे मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म संचित होते रहते हैं, आप के दुष्कर्म आप पर व्याघ्र के समान झपटने को उद्यत हैं, पर साथ ही यह भी आशा रखो और धैर्य्य धरो कि आपके शुभ विचार और कर्म लाखों देवताओं का बल धारण करके आपकी रक्षा के लिये सदा तैयार हैं और सदा तैयार रहेंगे।

---

(१३) अमृतत्व।

ऐसा कौन प्रश्न है जो सब से अधिक बार इस संसार में पूछा जा चुका है, ऐसा कौन सा विचार है जिसने मनुष्य को

इस जगत् में उसका समाधान पाने के लिये खोज करने को सब से अधिक प्रवृत्त होने में उत्तेजित किया है, कौन सा प्रश्न मनुष्यों को सबसे अधिक प्रिय और हितकर है, कौन सा प्रश्न हमारी सत्ता से इतना घनिष्ठ संबंध रखता है कि हम से कभी छूट नहीं सकता ? वह प्रश्न यही है कि क्या मनुष्य की आत्मा अमर है ? कवि और महर्षि, पुरोहित और पैग़म्बर सब का ध्यान इस पर गया है, बड़े बड़े राजा महाराजों ने इसपर विचार किया है और गली गली में भीख माँगने वालों ने इसका स्वप्न देखा है । बड़े बड़े महात्मा लोगों ने इसे हाथ में लिया है और पापी से पापी तक ने इसके लिये इच्छा की है । इस विषय के साथ मनुष्यों का अनुराग उचट नहीं गया है और न जब तक मनुष्यों की प्रकृति बनी है वह उचटेगा । इस संसार के भिन्न भिन्न लोगों ने इसका भिन्न भिन्न उत्तर दिया है । इतिहास के प्रत्येक युग में हजारों इसपर विचार करने से विरक्त हो चुके, छोड़ कर भाग चुके, पर यह प्रश्न ज्यों का त्यों अब तक बना हुआ है । प्राय: हम अपने संसारी झगड़ों और झमेलों में पड़ कर इसे भूले रहते हैं पर ज्यों ही कोई हमारा इष्ट, मित्र, हित, संबंधी मरता है त्यों ही इस संसार की सारी बातें चण भर के लिये भूल जाती हैं और हमारी आत्मा में वही पुराना प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इसके पीछे क्या होता है ? जीवात्मा क्या हो जाती है ? जो कुछ ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है वह अनुभवजन्य है; बिना अनुभव के तो ज्ञान होता ही नहा । हमारे सारे

तर्कों का आधार अनुभूत विषयों का साधर्म्य है और हमारा सारा ज्ञान केवल एकीभूत अनुभवमात्र ही है। हमें अपने चारों ओर देखने से क्या दिखाई पड़ता है ? लगातार परिवर्तन। पौधा बीज से उत्पन्न होता है और फिर वही बीज बढ़ कर पौधा हो जाता है; पौधा बढ़कर वृक्ष बनता है और चक्कर पूरा करके फिर बीज हो जाता है। पशु उत्पन्न होता है, कुछ दिन जीता है और मर जाता है, उसका चक्र पूरा हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपना चक्र पूरा करता है। पर्वत धीरे धीरे घिसता जाता है, नदियाँ सूखती जाती हैं, मेघ समुद्र से उठता है और अंत को पानी के रूप में समुद्र में ही लौट जाता है। सर्वत्र चक्र पूरा हो रहा है, जन्म, वृद्धि, उपचय और क्षय ठीक गणित के क्रम के अनुसार, एक के अनंतर एक आया करते हैं। यह हमारा नित्य का अनुभव है। इस सब में, इस समस्त समूह में जिसे हम जीवन कहते हैं, करोड़ों आकृतियों और रूपों में, करोड़ों भिन्न भिन्न प्रकारों में, अणु से लेकर आध्यात्मिक पुरुष तक सब की ओट में हमें एक साम्य देखाई पड़ता है जिसे हम एकत्व कहते हैं। हम नित्य देखते जाते हैं कि भेद की दीवाल जिससे एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होता था, मिटती जा रही है, आधुनिक विज्ञान में प्रकृति वा जड़ अचेतन एक मूल प्रकृति निश्चित होती जा रही है जो भिन्न भिन्न प्रकार से नाना रूपों में अभिव्यक्त होती सिद्ध होती है। यही प्रकृति एक जीवन है जो सब अभिव्यक्तियों में एक अखंड श्रृंखला की तरह चला गया है, नानारूप उसकी न्यारी न्यारी

कड़ियाँ हैं, कड़ी के पीछे कड़ी अनंतता तक चली गई है किंतु कड़ियाँ सब एक ही शृंखला की हैं। इसीको हम लोग विकाश वा आरोह कहते हैं। यह बड़ा पुराना विचार है, इतना पुराना जितना कि मनुष्यसमाज है, अंतर केवल इतनाही है कि ज्यों ज्यों मनुष्य ज्ञान में उन्नति करता जाता है यह नित्य नूतन रूप धारण करता जाता है। पर इसमें एक बात रह गई है जिसे आगे के लोगों ने तो समझा था पर जो आधुनिक समय के लोगों के ध्यान में अभी तक स्पष्ट नहीं आई है और वह अव-रोह है। बाज से वृक्ष होता है, बालू के कण से वृक्ष नहीं उत्पन्न हो जाता। पिता पुत्र होता है, मिट्टी का ढला लड़का नहीं हो जाता। प्रश्न यह है कि यह आरोह किससे होता है? बीज क्या था? वह वही था जो वृक्ष है, भावी वृक्ष की सारी संभावनाएं उसी बीज में निहित थीं। होनेवाले मनुष्य की सारी संभावनाएं छोटे बच्चे में रहती हैं; भविष्य जीवन की सारी संभावनाएं बीज-कोश में तिरोहित रहती हैं। यह वही है जिसे भारतवर्ष के प्राचीन दार्शनिकों ने अवरोह का नाम दे रखा था। हम देखते हैं कि प्रत्येक आरोह के पहले अवरोह लगा रहता है। कोई वस्तु जो पहले कहीं पर नहीं रहती है वहाँ से फूट कर नहीं निकल सकती। यहाँ हमें आधुनिक विज्ञान सहायक होता है। आपको गणित की उपपत्तियों से विदित है कि उस शक्ति की मात्रा जो सारे विश्व में सर्वत्र व्याप्त हो रही है सदा समान रहती है। आप विश्व में से

एक अणुभर द्रव्य और रत्ती भर शक्ति कम नहीं कर सकते, न आप विश्व में एक अणु भर द्रव्य और रत्ती भर शक्ति अधिक कर सकते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि शून्य से तो आरोह होगा नहीं। फिर वह होता है कहाँ से ? पूर्व के अवरोह ही से। बच्चा मनुष्य ही का संकुचित रूप है और मनुष्य उसीका विकसित रूप है। बीज वृक्ष का सूक्ष्मरूप है और वृक्ष बीज का स्थूलरूप। जीवन की सारी संभावनाएं उसके कारण वा बीज में रहती हैं। अब कुछ यह विषय स्पष्ट होता है। इसके साथ जीवन के सततप्रवाह के भाव को लगा दीजिए। क्षुद्र से क्षुद्र एकेंद्रिय जंतु से लेकर उच्च से उच्च आप्त मनुष्य तक मिलकर सब एक ही जीवन है। जिस प्रकार हमारे एक ही जन्म में अभिव्यक्ति की अनेक भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होती हैं, वही एकेंद्रिय जंतु बढ़ कर बच्चा हो जाता है, फिर कुमार, युवा, वृद्ध होता है, इसी प्रकार उसी प्रोटोप्लाज़्म वा एकेंद्रिय जंतु से आप्त पुरुष तक एक जीवन पूरा होता है और एक जंजीर पूरी होती है। इसे विकास कहते हैं पर हम देख चुके हैं कि प्रत्येक विकास के साथ संकोच वा अवरोह लगा रहता है। इस जीवन की समष्टि प्रोटोप्लाज़्म वा एकेंद्रिय जंतु से आरंभ होती है और क्रमश: व्यक्त होते होते आप्त पुरुष में, जिसे ईश्वरावतार कहते हैं अंत को पहुँचती है और यह सारी शृंखला मिलकर एक पूरा जीवन बनता है। यह सारी अभिव्यक्तियाँ संकुचित हो कर उसी सूक्ष्मरूप में समाविष्ट रही होंगी जिसे हम प्रोटोप्लाज़्म वा एकेंद्रिय

जंतु कहते हैं। यह समूचा जीवन, अर्थात् वही ईश्वर, उसमें गुप्त-रूप से सन्निविष्ट वा अंतर्हित था और उसमें से अपने को धीरे धीरे व्यक्त करता हुआ प्रगट हुआ। उसकी यह अभिव्यक्ति इतनी धीमी थी कि उसका अनुभव बड़ी कठिनता से हो सकता था। सर्वोच्च अभिव्यक्ति पहले तो बीज ही में बहुत ही सूक्ष्म रूप से रही होगी; अतः यह सारी लड़ी, या श्रृंखला उसी सृष्टि के जीवन का, जो चारों ओर प्रगट हो रहा है, एक संकुचित रूप वा अवरोह अवश्य है। यह वही चेतनता की समष्टि है जो एकेंद्रिय जंतु से लेकर आप्त पुरुष तक धीरे धीरे अपने को प्रगट कर रही है वा विकसित हो रही है। यह बढ़ती नहीं, केवल अपने हाथ पैर फैलाती है। अपने मन से बढ़ने के सारे भावों को निकाल दीजिए। बढ़ने का साधारण अभिप्राय यही है कि कुछ बाहर से लेकर जमा करना या बाह्य पदार्थों से कुछ बढ़ना। इससे इस सत्य में बाधा पड़ेगी कि जो नित्य सत्ता सब में ओतप्रोत हो रही है उसमें कोई बाह्य परिणाम नहीं आ सकता। वह बढ़ती नहीं है; वह सदा सब में है और केवल अभिव्यक्त होती है।

कार्य्य केवल व्यक्त कारण मात्र है। इसके अतिरिक्त कार्य और कारण में कोई विशेष अंतर नहीं है। उदाहरण के लिये इस काँच को ले लीजिए। पहले केवल द्रव्यमात्र ही था। वही द्रव्य बनानेवाले की इच्छा के साथ मिला और वे दोनों ही इसके कारण बन गए, और इस काच में वर्तमान हैं। यदि पूछो कि किस रूप में, तो उत्तर है कि संघात रूप में।

यदि इसमें शक्ति का योग न होता तो इसके अणु अणु विलग हो जाते और जमे या मिले न रह सकते। फिर कार्य्य क्या ठहरा ? वह केवल कारण ही है, केवल रूप में अंतर पड़ गया, केवल योग ही में अंतर ठहरा। जब कारण में विकार होता है और वह कुछ काल के लिये रहता है तब कार्य्य की उत्पत्ति होती है। हमें इसका ध्यान रहना चाहिए। अब यदि हम इस नियम को अपने जीवन संबंधी विचार पर लगाते हैं तो सारी अभिव्यक्तियां जो इस जीवन की लड़ी में दिखाई पड़ती हैं, एकेंद्रिय जंतु से आप्त पुरुष तक, सब की सब वही हैं जिन्हें सर्वगत जीवन हम कहते हैं। पहले वही संकुचित रूप में होकर सूक्ष्म दशा को प्राप्त हुआ और फिर उस सूक्ष्म दशा से जो कारणरूप थी अभिव्यक्त विकसित होते होते स्थूल होता गया है।

पर अमरत्व के प्रश्न का अभी तक निर्धारण नहीं हुआ। हम यह तो देख चुके हैं कि विश्व के सारे पदार्थ नाशरहित हैं। कोई नई चीज़ नहीं है; और कोई चीज़ नई होगी। अभिव्यक्ति की उसी शृंखला का बार बार आवर्त हुआ करता है, चक्र के समान उसकी गति ऊपर नीचे; कभी अवरोह, कभी आरोह, चलती रहती है। इस विश्व में गति की दशा लहर के समान है, उठना गिरना, आविर्भाव तिरोभाव, होता रहता है। विश्व के विश्व सूक्ष्म रूप से निकलते रहते हैं, विकसित होते, स्थूल रूप धारण करते और अंत को मानों मुरझा कर क्षय को प्राप्त हो कर

सूक्ष्मरूप धारण करते और सूक्ष्म अवस्था में लय होते रहते हैं। फिर वे सूक्ष्म रूप से प्रगट होते, एक समय तक विकास को प्राप्त होते और फिर अपने कारण में लय हो जाते हैं। यही दशा सारे जीवन की है। जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति उठती रहती है और अंत को विलीन हुआ करती है। लय किसका होता है? रूप का। रूप छिन्न भिन्न होता रहता है और फिर बनता है। एक प्रकार से तो पिंड और रूप भी नित्य हैं। कैसे? इसका उत्तर यह है कि मान लीजिए हम कुछ पासे लेते हैं और जब वे फेंके जाते हैं, तो वे छ, पाँच, तीन और चार के संबंध से पड़ते हैं। हम पासों को लेकर फेंकें और लगातार फेंकते जाँय तो कभी न कभी वही दाँव वा संख्या अवश्य पड़ जाती है। वैसी ही संख्याएं उसी क्रम से आ जाँयगी। अब इस विश्व के एक एक कण, एक एक अणु या परमाणु को पासा मान लीजिए और यह मानिए कि वे फेंके जा रहे हैं और प्रत्येक बार उनके भिन्न भिन्न योग पड़ा करते हैं। संसार के सारे रूप जो आपके सामने हैं, उन्हीं के योगमात्र हैं। यह काच, मेज, पानी का घड़ा इत्यादि मान लीजिए कि एक योग है। इस योग का विच्छेद काल से हो जायगा, पर कभी न कभी ऐसा समय फिर आ जायगा जब वैसा ही योग फिर बन जायगा, सारी की सारी बातें वैसी ही हो जाँयगी जैसी कि आज हैं, उस समय आप भी यहां होंगे, यह शरीर भी यहीं रहेगा, और इसी विषय पर बातें होंगी, यह घड़ा भी यहीं

पर ज्यों का त्यों रहेगा। ऐसा असंख्य बार हो चुका है और असंख्य बार फिर होगा। यह तो भौतिक रूपों की बात हुई। सारांश यह निकला कि भौतिक रूपों का वही संयोग भी बार बार होता रहता है, यह अनादि काल से होता आ रहा है और अनंत काल तक होता रहेगा।

इस सिद्धांत से जो अत्यंत उपयोगी परिणाम निकलता है वह यह है कि इससे अनेक ऐसी बातों के रहस्य का समाधान हो जाता है, जैसे कि आप लोगों ने ऐसे लोगों को प्रायः देखा होगा जो दूसरों को देखकर उनके पूर्व जन्म की बातें बतला देते हैं और आगे की होनेवाली बातें कह देते हैं। भला जब भविष्य का कोई नियम न हो तब कैसे कोई किसी की भविष्य बातों को जान सकता है? भूत के कार्य्य ही बार बार आगे को हुआ करते हैं और हमें यह देखाई भी पड़ता है। आप लोगों ने शिकागो के बड़े फेरिस के चक्कर को देखा होगा। चक्कर चला करता है और चक्कर पर छोटी छोटी कोठड़ियाँ लगातार सामने आती रहती हैं; दो चार मनुष्य इन में जाते हैं और बैठते हैं, जब चक्कर पूरा हो जाता है, तब वे उतर पड़ते हैं और दूसरे लोग चढ़ जाते हैं। इन चढ़नेवालों के समूहों में एक एक उन अभिव्यक्तियों के समान है जो छोटे से छोटे जंतु से उच्च से उच्च मनुष्य तक हैं। प्रकृति फेरिस के चक्कर की ज़ंजीर के समान है जो अनादि और अनंत है; छोटी छोटी गाड़ियाँ वा कोठरियाँ पिंड या रूप हैं जिनमें नई नई

आत्माएं सवार होती हैं और ऊपर तक जाती रहती हैं, उन्नति करती जाती हैं और आप्त हो कर चक्कर से बाहर निकल जाती हैं। पर चक्कर चलता रहता है। और जब तक कि चक्कर में कोठड़ियां हैं यह गणित की रीति से निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे कहां जायेंगी, पर आत्माओं के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतः प्रकृति के भूत और भविष्य को ठीक ठीक जानना संभव है। हम देखते हैं कि समय समय पर भौतिक घटनाएं गणित की रीति से लगातार क्रम से फिर फिर संघटित हुआ करती हैं और वैसे ही योग अनादि काल से लगातार आया जाया करते हैं। पर यह आत्मा का अमरत्व नहीं है। किसी शक्ति का नाश नहीं होता और न कोई भौतिक द्रव्य नष्ट होते हैं अर्थात् वे शून्य नहीं हो जाते हैं। पर उनका होता है क्या ? उनमें लगातार आगे को और पीछे को परिवर्तन होता जाता है और अंत को वे उस कारण में जहां उनका प्रादुर्भाव हुआ था लय को प्राप्त हो जाते हैं। गति सरल रेखा की तरह नहीं होती। सब की गति चक्कर में वा वर्तुलाकार होती है, वही सरल रेखा यदि अनंतता तक बढ़ाई जाय तो उसके छोर मिल कर वृत्त का रूप धारण कर लेते हैं। यदि यही दशा है तो किसी आत्मा को सदा के लिये अधोगति हो नहीं सकती है। ऐसा हो ही नहीं सकता है। सब चक्कर पूरा करते हैं और अपने ठिकाने पर आ जाया करते हैं। आप और हम और अन्य सब जीवात्माएं क्या हैं ? आरोह और अवरोह के विचार में तो यह हम

दिखला चुके हैं कि आप और हम सब उसी परम चेतनता, पर-मात्मा, परम जीवन और परम मन के अंश मात्र हैं जो संकुचित वा सूक्ष्मावस्था को प्राप्त था और हम सब अपना चक्कर पूरा करके उसी परम चेतनता को प्राप्त होंगे जिसे ईश्वर कहते हैं। इस परम चेतनता को आप भगवान् कहें, ईश्वर कहें, ईसा कहें, बुद्धदेव कहें, ब्रह्म कहें, इसे वैज्ञानिक लोग शक्ति के रूप में देखते हैं और संशयवादी अनंत और अनिर्वचनीय कहते हैं; हम सब इसी के अंशमात्र हैं।

यह दूसरा विचार है पर यह पर्य्याप्त नहीं है, इसमें फिर भी संदेह रह जाता है। यह कहना तो सहज है कि किसी शक्ति का नाश नहीं है। सारी शक्तियाँ और रूप जो हमें देख पड़ते हैं संयोग से उत्पन्न होते हैं। जो रूप हमारे आगे है वह अनेक घटक भागों से मिल कर बना है, इसी प्रकार प्रत्येक शक्ति भी संयोगज है। यदि आप शक्ति के वैज्ञानिक विचार को लें और शक्ति को शक्तिराशि—अर्थात् विभिन्न शक्तियों की संघात शक्ति कहें, तो आपकी विभिन्न सत्ता की क्या दशा होगी? जो वस्तु संयोगज है वह आज या कल अपने भिन्न भिन्न भागों में विभिन्न हो जायगी। इस विश्व में जो कुछ है द्रव्य या शक्ति के संयोग से उत्पन्न हुआ है, आज नहीं तो कल उसके सब अंश पृथक् पृथक् हो जायँगे। जो कारणों से उत्पन्न हुआ है उसका विनाश अवश्य होगा, वह छिन्न भिन्न हो जायगा, उसका एक एक अंश अलग विलग हो जायगा और संयोगजात वस्तु

अपने घटक पदार्थों के विभिन्न रूप को प्राप्त हो जायगी। जीवात्मा शक्ति नहीं है और न यह बुद्धि है। यह बुद्धि की बनानेवाली है, बुद्धि नहीं; शरीर की रचनेवाली है, शरीर नहीं। ऐसा क्यों ? हम देखते हैं कि शरीर जीवात्मा नहीं हो सकता है। क्यों नहीं हो सकता ? इसलिये कि शरीर चेतन नहीं है। शव चेतन नहीं होता और न मांस बेचनेवाले की दूकान का मांस-खंड चेतन है। चेतनता किसका नाम है ? संवेदना शक्ति का। हमें इस पर और गंभीरता से दृष्टिपात करना चाहिए। सामने एक घड़ा है। हम उसे देखते हैं क्योंकि प्रकाश की किरण घड़े पर पड़कर हमारी आँखों में जाती और हमारी पुतली के पीछे घड़े के आकार की प्रतिकृति बनाती है और वह हमारे मस्तिष्क में पहुँचती है। फिर भी इतने पर हम उसे देख नहीं सकते। जिन्हें प्राणिशास्त्र-विद् लोग चेतनवाहक नस वा ज्ञानतंतु कहते हैं वे इस संस्कार को भीतर ले जाते हैं। इतने पर भी संवेदना नहीं होती है। मस्तिष्क में जो नसों का केंद्र है वह जब वहाँ से होकर संस्कार मन तक पहुँचता है तब मन में संवेदना होती है और संवेदना होते ही हमें सामने घड़ा देखाई पड़ता है। एक और साधारण उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि आप मेरी बातें बड़ी सावधानी से सुन रहे हैं और आपकी नाक पर एक मच्छड़ बैठा अपने स्वभावानुसार संवेदना पहुँचा रहा है, पर आप सुनने में इतने निरत हैं कि आपको मच्छड़ के काटने का पता नहीं चलता। इसका कारण क्या है ? मच्छड़ ने आपकी

नाक पर कहीं काटा और वहाँ ज्ञानवाहक तंतु थे। उन्होंने वेदना को मस्तिष्क तक पहुँचाया और वहाँ संस्कार पड़ा, पर आपका मन और काम में लगा था इस कारण उसमें संवेदना उत्पन्न नहीं हुई, और इसी लिये आपको मच्छड़ का बोध न हुआ। जब कोई नया संस्कार पहुँचता है और मन में संवेदना नहीं होती तब हमें उसका बोध नहीं होता पर ज्योंही मन में संवेदना हुई कि हमें झट ज्ञान हो जाता है, उसी समय हम सुनते हैं, देखते हैं और अन्य इंद्रियों के विषय को ग्रहण करते हैं। इसी वेदना के साथ, जैसा कि सांख्यवाले कहते हैं, प्रकाश आ जाता है। हम देखते हैं कि शरीर में प्रकाश नहीं होता क्योंकि ध्यान न रहने पर उसमें कोई वेदना हो ही नहीं सकती। कितनी ऐसी घटनाएं भी हुई हैं जिनमें लोग विशेष अवस्था में ऐसी भाषा को बोलते सुने गए हैं जिसका उन्हें कभी ज्ञान भी न था। उनके विषय में पीछे अधिक छानबीन करने से जाना गया कि वे लोग जब छोटे थे तब ऐसे लोगों के बीच में रहे थे जो उस भाषा को बोलते थे और उसी का संस्कार उनके मस्तिष्क में बना रहा। वे संस्कार वहाँ पड़े रहे और किसी कारणवश उस मनुष्य के मन में संवेदना उत्पन्न हुई और प्रकाश आ गया; तब वह मनुष्य उस भाषा को बोलने लगा। इससे यह प्रगट होता है कि केवल मन ही पर्य्याप्त नहीं है, मन भी दूसरे के हाथ में एक कारणमात्र है। छोटी अवस्था में उस मनुष्य के मन में वह भाषा थी पर उसे उसका बोध न हुआ; पीछे समय आने पर

उसे उसका ज्ञान हो गया। इससे प्रगट होता है कि मन के परे भी कोई है और जब वह मनुष्य बच्चा था, उस मन के परे वाले ने अपनी शक्ति से काम नहीं लिया; पर जब वही बच्चा बड़ा हुआ तब उस मन के परे वाले ने उस शक्ति का लाभ उठाया और उसे अपने काम में लिया। अब पहले तो शरीर है, दूसरे मन वा बुद्धि है जिसे अंत:करण कहते हैं, फिर मन से परे जो है उसे संस्कृत में आत्मा वा जीवात्मा कहते हैं। आधुनिक दार्शनिक लोग बुद्धि को मस्तिष्क के अणुओं का परिवर्तन-मात्र बतलाते हैं, वे ऐसी घटना को समझा नहीं सकते हैं और उनका संभव होना नहीं मानते हैं। मन का मस्तिष्क से बड़ा घना संबंध है और अब जब शरीर का नाश होता है मन का भी नाश हो जाता है। आत्मा प्रकाशक है, मन उसके हाथ का एक करण है, इसके द्वारा वह बाह्य करणों को अपने वश में रखता और इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। बाह्य करण वा इंद्रिय-गोलक संस्कार को ग्रहण करते हैं और उन्हें इंद्रियों तक पहुँचाते हैं। आप स्मरण रखिए कि आँख, कान आदि केवल इंद्रियों के गोलकमात्र हैं, अंत:करण अर्थात् मस्तिष्क के भीतर जो इंद्रियों का केंद्र है वही काम करता है। संस्कृत में इन्हीं केंद्रों का नाम इंद्रिय है, वे संवेदनाओं को मन के पास ले जाती हैं, मन उन्हें और भी आगे अपनी दूसरी अवस्था के पास पहुँचाता है जिसे संस्कृत में चित्त कहते हैं। वहाँ वे संकल्प का रूप धारण कर सबके भीतर मनुष्य की आत्मा

के सामने, जो राजाधिराज और इस शरीर का शासक है, पहुँचती हैं। तब वह उन्हें देखता है और यथोचित आज्ञा देता है। फिर तो मन झटपट इंद्रियों पर और इंद्रियाँ स्थूल शरीर के ऊपर काम करती हैं। इस सबका सच्चा द्रष्टा, सच्चा शासक, उत्पादक, संचालक और शासक वही जीवात्मा वा आत्मा ही है।

हम देखते हैं कि मनुष्य की आत्मा न शरीर है और न बुद्धि। वह संयोगज नहीं हो सकती। कारण यह है कि जो संयोगज है वह दृष्ट और अनुभूत हो सकता है। जिसे हम न ध्यान ही में ला सकते और न देख ही सकते हैं, जो हमारे परिमाण में नहीं आ सकता है वह न द्रव्य है न शक्ति, न कारण है न कार्य्य है, वह संयोग नहीं हो सकता। संयोग का राज्य तो वहाँ ही तक है जहाँ तक हमारे मन और बुद्धि के जगत् का विस्तार है। इसके आगे संयोग हो नहीं सकता, संयोग तो वहीं तक है जहाँ तक नियम की प्रवृत्ति है; उसके आगे नियम के अधिकार के बाहर यदि कुछ है तो वह संयोग हो ही नहीं सकता। मनुष्य की आत्मा, परिणाम के नियम के अधीन नहीं है, इसलिये वह संयोगज नहीं। वह नित्य मुक्त और उन सबकी शासक है जो नियम के अधिकार में हैं। उसका नाश नहीं है, क्योंकि नाश तो घटक अंशों में लय होना है। जो संयोगज है ही नहीं उसका नाश कहाँ? यह कहना कि वह नाश होता है निरी मूर्खता की बात है।

अब हम सूक्ष्म विषयों पर जा रहे हैं और आप लोगों में कितने तो डर जायेंगे। हम यह देख चुके हैं कि यह आत्मा द्रव्य और शक्ति और बुद्धि के जगत् से परे है और असंग है, इसी लिये इसका नाश नहीं हो सकता। जिसकी मृत्यु नहीं उसका जीवन भी नहीं। जीवन और मरण तो एक ही सिक्के के सामने और पीछे के भाग हैं। मृत्यु का दूसरा नाम ही जीवन है, जीवन का नामांतर मृत्यु है। एक प्रकार की अभिव्यक्ति वह है जिसे हम जीवन कहते हैं, उसी पदार्थ की दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति वह है जिसका नाम मृत्यु है। जब लहर ऊपर उठती है तो हम उसे जीवन कहते हैं और जब वह पिचक जाती है तब उसे मृत्यु कहते हैं। यदि कोई वस्तु मृत्यु से परे है तो वह स्वभावतः जीवन से भी परे है। अब हम आपको पहले परिणाम का ध्यान दिलाते हैं कि जीवात्मा उस विश्वशक्ति का जो सर्वव्याप्त है अंशमात्र है। उसी व्याप्त सत्ता का नाम ईश्वर है। अब हमें यह जान पड़ता है कि आत्मा जीवन और मरण दोनों से परे है। आप न कभी उत्पन्न हुए हैं और न मरेंगे। पर यह जन्म और मरण क्या है जो संसार में दिखाई पड़ रहा है? यह केवल शरीर से संबंध रखता है, आत्मा तो सर्वगत है। आप लोग कहेंगे यह हो कैसे सकता है? यहाँ इतने लोग बैठे हैं और आप कह रहे हैं कि आत्मा सर्वगत है। पर यह तो बतलाइए जो नियम और परिणाम से परे है उसे बंधन वा परिमाण में कौन ला सकता है? यह कांच परिमित या बद्ध है; यह

सर्वगत नहीं है, कारण यह है कि और सब द्रव्य उसे बलात् एक रूप दिए हुए हैं, उसे विभु (व्याप्त) होने नहीं देता। यह अन्य पदार्थों के साथ स्थित है और यही कारण है कि यह परिमित है। पर वह जो नियम से परे है, जिसपर औरों का प्रभाव नहीं, वह परिमित कैसे हो सकता है? वह अवश्य सर्वगत होगा। आप इस विश्व में सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। फिर यह सब कैसे होता है कि मैं उत्पन्न हुआ, मैं मर रहा हूँ? यह अज्ञान की बातें हैं, नितांत भ्रम है। तुम न कभी उत्पन्न हुए हो और न मरते हो। न तुम्हारा कभी जन्म ही था, न है, और न होगा। न आवागमन है और न और कुछ। भला कहाँ का आना और कहाँ का जाना। सब थोथा बकवाद है। आप सर्वत्र हैं। फिर आवागमन क्या है? यह सारा भ्रम केवल उस सूक्ष्म शरीर के परिवर्तन के कारण होता है जिसे आप मन कहते हैं। यह होता रहता है। जैसे बादल की एक धज्जी आकाश में उड़ती जा रही है। ज्यों ज्यों वह उड़ती जाती है यह भ्रम होता जाता है कि आकाश चलायमान है। कभी कभी आप देखते हैं कि बादल उड़ता हुआ चाँद पर से निकल जाता है और आपको भ्रम होता है कि चाँद चल रहा है। जब आप कभी रेलगाड़ी पर चढ़ते हैं तो आस पास के खेत भागते हुए देखाई पड़ते हैं वा जब नाव पर चढ़ते हैं तब पानी चलता हुआ देख पड़ता है। सचमुच न आप कहीं आते हैं, न जाते हैं, न आपका जन्म हुआ है, और न

फिर होगा। आप अनंत, नित्य, परिणामरहित और मुक्तस्वभाव हैं। ऐसा प्रश्न नितांत अप्रासंगिक है और असंबद्ध है। भला मृत्यु कहाँ हो सकती है जब जन्म ही नहीं है ?

तर्कानुकूल उपसंहार तक पहुँचने के पहले हमें एक और बात मानने की आवश्यकता है। अब अधबीच में ठहर नहीं सकते, दर्शन-शास्त्र के विचारों में अधूरा काम नहीं होता। यदि हम नियम के बंधन से परे हैं तो हम अवश्य सर्वगत, आनंदमय और ज्ञानमय हैं, हममें सारी शक्तियाँ तथा सारे आनंद हैं। पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि आप इस विश्व के सर्वद्रष्टा और सर्वगत हैं। पर क्या ऐसी सत्ताएं कई हो सकती हैं ? क्या ऐसी सर्वगत व्यापक सत्ताएं लाखों, करोड़ों, संखों हो सकती हैं ? कभी नहीं, यह असंभव है। फिर हम सबकी क्या दशा होगी ? आप एक हैं, केवल एक ही आत्मा है और वह आत्मा आप हैं। इसी प्रकृति की ओट में वह छिपा है जिसे हम आत्मा कहते हैं। वह एक ही है, वह केवल एक, आनंदमय, सर्वव्यापी, सर्वांतर्यामी, जन्म-मरण से परे एकमात्र सत्ता है। उसी के प्रभाव से आकाश में अवकाश है, वायु चलती है, सूर्य्य तपता है और सब जीते हैं, वही प्रकृति में सत्ता है, वही तुम्हारी आत्मा की आत्मा है, सच बात तो यों है आप वही हैं, आपमें और उसमें कोई अंतर नहीं है। जहाँ दो हैं वहीं भय है, वहीं शंका है, वहीं झगड़ा है, वहीं विरोध है। जब सब एक ही है तो घृणा किससे, विवाद किससे, जब वही

सब कुछ है तो वैर विरोध किससे ? इसके जीवन के सच्चे स्वरूप का बोध हो जाता है, इसी से सत्ता की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान होता है। यही पूर्णता है। यही ईश्वर है। जब तक आपको अनेक भासमान होते हैं, आप भ्रम में हैं। इस नानात्व में जो एकत्व को देखता है, इस विकारी संसार में जो उस निर्विकार को, जो उसकी आत्मा की भी आत्मा है, देखता है और उसे अपना स्वरूप समझता है वही मुक्त है, कल्याण का भाजन है, वही आप्तकाम है। अतः तत्त्वमसि वाक्य के अर्थ को समझो और यह जान लो कि इस विश्व का ईश्वर तू है, वह तू ही है, दूसरा नहीं। मैं स्त्री हूँ, पुरुष हूँ, रोगी हूँ, नीरोग हूँ, निर्बल हूँ, सबल हूँ, राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ, मुझे कम शक्ति है अधिक शक्ति है इत्यादि सारे भेदज्ञान भ्रममात्र हैं। इन्हें परित्याग करो। तुम निर्बल क्यों हो ? तुम्हें भय किसका है ? संसार में आप ही आप तो हैं। आपको भय किसका है ? सावधान हो जाओ और मुक्त बनो। यह समझ लो कि जिस विचार और शब्द से आपको इस संसार में भय उत्पन्न होता है केवल वही बुराई है। जिससे मनुष्य में निर्बलता आवे, उसे भय लगे, वही बुरी वस्तु है, उसको नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए। आपको डरा कौन सकता है ? सूर्य्य गिर पड़े, चाँद टुकड़े टुकड़े होकर धूर में मिल जाय, ब्रह्मांड के ब्रह्मांड नाश हो जाँय, इससे आपको क्या पड़ी है ? पर्वत की भाँति अविचल रहो; आप तो अविनाशी हैं। आप आत्मा हैं, विश्व के अधिपति ईश्वर

हैं। यह कहो कि हम अनंत सत्ता, अनंत ज्ञान, और अनंत आनंद अर्थात् सच्चिदानंद ब्रह्म हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' सिंह की भाँति जो अपने पींजड़े को तोड़ डालता है अपने बंधन तोड़ कर नित्य मुक्त हो जाओ। आपको भय किसका है? आप किसके बंधन में हैं? केवल अज्ञान के, भ्रम के; आपके और कोई बंधन नहीं है। आप शुद्ध और आनंद-घन हैं।

मूर्ख लोग आपसे कहते हैं कि आप पापी हैं और आप कोने में सिर नीचा करके रोते हैं। यह कहना कि आप पापी हैं मूर्खता है, बुरी बात है, नितांत नीचता है। आप सब ब्रह्म हैं। क्या आप ईश्वर को नहीं देखते और उसे मनुष्य नहीं कह रहे हैं? अतः यदि आपमें कुछ साहस हो तो इसी बात पर तुल जाओ, अपने जीवन को इसी साँचे में ढालो। यदि कोई आपका गला काटे तो 'ना' मत कहो, क्योंकि आप अपने गले पर आप छूरी फेरते हैं। जब आप किसी दीन की सहायता करें तब तनिक भी गर्व मत कीजिए। वह आपका धर्म है, उसमें गर्व की क्या बात? क्या सारा विश्व आप नहीं हैं? कहाँ ऐसा कोई है जो आप नहीं हैं? आप इस विश्व की आत्मा हैं। आप ही सूर्य्य हैं, आप ही चंद्र हैं, आप ही तारा हैं, आप ही सर्वत्र भासमान हो रहे हैं। सारा विश्व तो आप ही आप हैं। किससे आप घृणा कर रहे हैं, किससे लड़ रहे हैं? अतः अब तो आप चेतें और तत्त्वमसि के वाक्यार्थ को समझें। अपने जीवन को इसी अनुसार चलावें।

जो इसे जानता है और अपने जीवन को इसी अनुसार चलाता है वह कभी अंधकार में नहीं रहता।

---

(१४) आत्मा।

आप लोगों में बहुतेरों ने प्रोफेसर मैक्समूलर के 'वेदांत पर तीन व्याख्यान' पढ़े होंगे और कितनों ने जर्मनी के प्रोफेसर ड्यूसन की पुस्तक जो वेदांत पर है पढ़ी होगी। पश्चिम में भारतवर्ष के धर्म के विषय में जो कुछ लिखा जा रहा है या जिसकी शिक्षा दी जा रही है उसमें केवल भारतवर्ष के एक ही दर्शन की बात है जिसे अद्वैतवाद कहते हैं, जो भारतवर्ष के धर्म का एकतावादी अंश है; कभी कभी तो यह समझा जाता है कि सारे वेदों की शिक्षा का निचोड़ इस एक ही दर्शन में आगया है। पर भारतवर्ष में अनेक प्रकार के सिद्धांत हैं और संभवतः यह अद्वैतवाद का सिद्धांत तो अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा बहुत कम लोगों में पाया जाता है। बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में भिन्न भिन्न प्रकार के सिद्धांतों का प्रचार रहा है और उस देश में, ऐसे निर्धारित और व्यवस्थित धर्म का या ऐसी संस्था का जो सबके लिये एक मत का निर्देश करे, सदा अभाव रहा है; अतः वहाँ के लोग सदा से स्वतंत्र रहे हैं और उन्हें अपना यथाभिमत सिद्धांत, दर्शन और मत प्रवर्तन करने का पूर्ण अधिकार रहा है।

इसी लिये बहुत प्राचीनकाल से ही हिंदुस्थान धार्मिक संप्रदायों से भरा पड़ा है। मैं ठीक ठीक नहीं कह सकता कि इस समय भारतवर्ष में कै सौ संप्रदाय हैं, फिर भी अनेक संप्रदाय प्रति वर्ष नए नए निकला करते हैं। जान यह पड़ता है कि उस जाति में धार्मिक उत्साह का कोई ठिकाना नहीं है।

इन भिन्न संप्रदायों को पहले दो प्रधान भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक शास्त्र-संगत और दूसरे अशास्त्र-संगत। जिन संप्रदायों का विश्वास हिंदुओं के धर्मग्रंथ वेद की अपौरुषेयता और नित्य-सत्यता पर है वे शास्त्र-संगत कहे जाते हैं और जो वेदों पर विश्वास नहीं करते, और प्रमाण मानते हैं, वे भारतवर्ष में अशास्त्र-संगत कहलाते हैं। आधुनिक अशास्त्र-संगत या नास्तिक संप्रदाय हिंदुओं में मुख्यतः जैन और बौद्ध हैं। शास्त्र-सम्मतों वा आस्तिक संप्रदायों में कितनों का मत है कि वेदों का प्रमाण तर्क की अपेक्षा श्रेष्ठ है, दूसरे का मत है कि धर्मग्रंथों का अंश उतना मात्र माननीय है जो युक्तिसंगत है, शेष मान्य नहीं है।

आस्तिक दर्शनों में तीन प्रधान दर्शन हैं, सांख्य, न्याय और मीमांसा; इनमें पहले दोनों सांख्य और न्याय दर्शन रूप में तो अवश्य हैं पर उनका अनुयायी संप्रदाय नहीं बन सका। अब केवल सारे भारतवर्ष में जिसके अनुयायी मिलते हैं वह उत्तर मीमांसा वा वेदांत है। इस दर्शन का नाम वेदांत दर्शन है। यों तो हिंदुओं के सारे दर्शनों का प्रारंभ वेदांत वा उपनिषद से होता है पर अद्वैत-

वादियों ने वेदांत का शब्द अपने लिये रूढ़ि बना लिया, इसका कारण यह है कि उन लोगों ने केवल वेदांत को ही अपनी अध्यात्मविद्या और दर्शन का आधार बनाया, किसी और का सहारा नहीं लिया। धीरे धीरे ज्यों ज्यों समय बीतता गया वेदांत का प्रचार बढ़ता गया और भारतवर्ष के सारे संप्रदाय जिनका आज कल प्रचार है इसी वेदांत की किसी न किसी शाखा के अंतर्गत हो जाते हैं। पर इन सब शाखाओं के विचार सर्वथा एक नहीं हैं।

वेदांत में हमें तीन प्रधान भेद मिलते हैं। एक बात पर सबका एकमत है, कि वे सब आस्तिक हैं अर्थात् ईश्वर को सब मानते हैं। सभी वेदांती वेद को ईश्वरीय वाक्य मानते हैं, वैसा ईश्वरीय नहीं जैसे कि ईसाई या मुसलमान लोग अपनी धर्मपुस्तकों को मानते हैं, अपि तु एक निराले ढंग से। उनका कथन है कि वेद ईश्वर के ज्ञान को कहते हैं, वेद में ईश्वर के ज्ञान का प्रकाशन है। और जब ईश्वर नित्य है तब उसके साथ ही उसके ज्ञान भी नित्य हैं और इस प्रकार वेद नित्य हैं। एक और विचार में, अर्थात् एक कल्प के मानने में, समानता है। अर्थात् सृष्टि और प्रलय, एक दूसरे के बाद, होते रहते हैं; जगत् का आविर्भाव होता है और वह स्थूल होता जाता है, फिर असंख्य काल तक ऐसा रहकर वह अंत को सूक्ष्म होने लगता है और उसका तिरोभाव हो जाता है, फिर लय अवस्था में रहता है। फिर उसका आविर्भाव होता और सब उसी क्रम से हुआ करता है। वे एक तत्त्व या मूल को मानते हैं जिसका नाम

आकाश है जो वैज्ञानिकों के ईथर के साथ कुछ मिलता जुलता हुआ है और एक शक्ति को मानते हैं जिसे वे प्राण कहते हैं। वे लोग कहते हैं कि इसी प्राण की गति से विश्व की उत्पत्ति होती है। जब कल्पांत आता है तब प्रकृति की सारी अभिव्यक्तियाँ सूक्ष्म होते होते आकाश में लय को और अज्ञातदशा को प्राप्त हो जाती हैं। आकाश न देखा जाता है न छुआ, पर उसीसे सबका आविर्भाव होता है। प्रकृति में जो शक्तियाँ देख पड़ती हैं;—गुरुत्व हो या आकर्षण हो या अपसारण हो या विचार, प्रत्यक्षबोध या अन्य ज्ञानतंतु की गति हो; सारी शक्तियाँ प्राण में लय हो जाती हैं और प्राण की गति निरुद्ध हो जाती है। इस अवस्था में प्राण द्वितीय कल्प के आरंभ तक लय को प्राप्त रहता है। फिर प्राण में गति वा स्फूर्ति आरंभ होती है, इस गति से आकाश क्षुब्ध होता है और उससे सारे रूपों का क्रमश: आविर्भाव होता है।

जिस संप्रदाय का मैं पहले वर्णन करूंगा उसी का नाम द्वैतवाद है। द्वैत मत ईश्वर को इस विश्व का स्रष्टा और शासक मानता है और उसे प्रकृति और जीवात्मा से सदा पृथक् और नित्य मानता है। उसके मत में ईश्वर, प्रकृति और जीवात्मा तीनों अलग अलग और नित्य हैं। प्रकृति और जीवात्मा व्यक्त होते और विकार को प्राप्त होते हैं पर ईश्वर सदा एकरस बना रहता है। द्वैतवादियों के मत से ईश्वर पुरुष-विशेष है, उसमें गुण तो है पर उसके शरीर नहीं है। उस

में मनुष्यों के गुण हैं, वह दयालु है, न्यायी है, सर्वशक्तिमान है; उसके शरण में प्राप्त हो सकते हैं, उसकी प्रार्थना कर सकते हैं, उसकी भक्ति और अनुराग कर सकते हैं और वह भी लोगों पर प्रेम, दया इत्यादि करता है। सारांश यह है कि वह एक प्रकार से पुरुष ही है, भेद इतना ही है कि यह मनुष्यों से कहीं बढ़ कर है; उसमें मनुष्यों की कोई बुराई नहीं है। वह अनंत, अगणित शुभ गुणों का आलय है, उनके मन में यही ईश्वर का लक्षण है। वह बिना द्रव्य के सृष्टि नहीं कर सकता है और प्रकृति ही उपादान कारण है जिससे वह सारे विश्व की सृष्टि करता है। कुछ लोग ऐसे द्वैतवादी हैं जिन्हें वेदांती नहीं कह सकते, उन लोगों को अणुवादी वा वैशेषिक कहते हैं; उनका विश्वास है कि प्रकृति अनंत अणुओं का समुदायमात्र है और इन्हीं अणुओं से ईश्वर की इच्छा से सृष्टि होती है। वेदांती अणुवाद को नहीं मानते और उसे युक्तिविरुद्ध कहते हैं। अदृश्य अणु ज्यामिति के बिंदुमात्र हैं जिनका न तो कुछ मान है और न जिनके भाग ही हो सकते हैं; जो मानरहित और अविभाज्य है यदि उसे अनंत बार गुणों तो भी वह ज्यों का त्यों बना रहेगा। जिसके भाग ही नहीं हो सकते भला उससे ऐसे पदार्थ की उत्पत्ति कैसे होगी जिसके भाग हो सकते हों? कितने ही शून्यों का संकलन कीजिए तो भी एक पूरी संख्या न होगी। अतः यदि परमाणु वा अणु अमान और अविभाज्य ही हैं तो विश्व की सृष्टि ऐसे अणुओं से असंभव ही है। अतः

वेदांती द्वैतवादियों के मत में केवल एक अव्यक्त प्रकृति है और उसीसे ईश्वर विश्व की सृष्टि करता है। भारतवर्ष में विशेष जनसंख्या के लोग द्वैतवादी ही हैं। साधारणतः मनुष्य इससे उच्च कल्पना नहीं कर सकता। पृथ्वी के निवासियों में, जिनका किसी न किसी मत पर विश्वास है, प्रति सैकड़ा नव्वे द्वैतवादी हैं। यूरोप के और पश्चिमी एशिया के सब धर्म द्वैतवादी हैं और उन्हें ऐसा होना ही पड़ता है। बात यह है कि सामान्य लोगों की समझ में कोई बात आ ही नहीं सकती है जो मूर्तिमान् न हो। मनुष्य स्वभाव से उसीको ग्रहण करेगा जो उसकी बुद्धि में आवेगी। बात यह है कि वह उच्च आध्यात्मिक विचारों को तभी समझ सकेगा जब वे उसकी बुद्धि के अनुकूल कर दिए जाँय। उसे सूक्ष्म विचारों का तभी ज्ञान होगा जब वे स्थूल बना दिए जाँय, अमूर्त उसके ध्यान में तभी आवेगा जब वह मूर्त बना दिया जाय। संसार भर में सर्वसाधारण का यही धर्म है। वह ऐसे ईश्वर को मानते हैं जो उनसे बिलकुल अलग है, वह मानो एक बड़ा राजा, शक्तिशाली राजाधिराज है। भेद इतना ही है कि वे लोग उसे इस पृथ्वी के राजाओं से अधिक शुद्ध बना लेते हैं और उसके साथ अच्छे गुणों को जोड़ देते और बुरों को निकाल देते हैं। मानो भले का बुरे से पृथक् रहना संभव है, मानो अंधकार के ज्ञान के बिना प्रकाश का ज्ञान होना संभव है!

सारे द्वैतसिद्धांतों में पहले तो यह कठिनाई पड़ती है कि यह संभव कैसे हो सकता है कि ऐसे न्यायी और

दयालु ईश्वर के राज्य में जो अनंत शुभ गुणों का भांडार है संसार में इतनी बुराइयाँ क्यों हैं ? यह प्रश्न लगभग सभी द्वैत मतों में उठा, पर हिंदुओं ने इसके समाधान के लिये शैतान की कल्पना नहीं की। हिंदुओं ने इसका दोष मनुष्य पर ही आरोपण किया और ऐसा करना उनके लिये सहज था। इसका कारण यही है कि जैसा मैं बतला चुका हूँ कि हिंदुओं का यह विश्वास नहीं था कि जीवात्मा की उत्पत्ति शून्य से हुई है। हम इसी जन्म में देखते हैं कि हम अपना भविष्य आप बना रहे हैं, सब लोग कल कैसे रहेंगे इसके लिये आज प्रयत्नशील देख पड़ते हैं। आज हम कल के लिये प्रयत्न करते और कल परसों के लिये करते हैं। यह नितांत युक्तियुक्त है कि यही नियम पीछे को भी लगाया जा सकता है। यदि हम अपने कर्म ही से अपने भविष्यत् को बनाते हैं तो यही नियम भूतकाल के विषय में क्यों न लगाया जाय ? यदि एक अनादि अनंत श्रेणी में एक नियत संख्या की कड़ियाँ बार बार आती हैं तो यदि इन कड़ियों में कुछ कड़ियों के समुदाय का हमें बोध हो जाय तब हम सारी श्रेणी के ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार यदि इस अनंत काल के एक अंश को हम ले लें और उसका ज्ञान प्राप्त कर लें तब यदि प्रकृति में साम्य है तो वही नियम काल की शृंखला मात्र पर व्याप्त है और लगेगा। यदि यह ठीक है कि हम अपने भाग्य को इस परिमित काल में बना रहे हैं, यदि यह ठीक है कि बिना कारण के कुछ नहीं होता है

तब तो यह भी बिलकुल ठीक है कि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे पूर्व के कर्मों का फल वा कार्य्य है। अतः मनुष्य के भाग्य के विधान के लिये किसी और व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है, वह अपने भाग्य का आप ही विधाता है। इस संसार में बुराई किसी और के कारण से नहीं है, इसके कारण हम ही हैं। हमही ने इस बुराई को बुलाया है; हम नित्य देखते आते हैं कि बुरे कर्मों का परिणाम दुःख होता है इससे हम यह जान सकते हैं कि संसार में जो दुःख और बुराई है वह हमारे ही पिछले बुरे कर्मों का फल है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्यों ही का इसमें दोष है, ईश्वर का दोष कुछ भी नहीं है। वह दयामय परम पिता है, भला उसका क्या दोष हो सकता है। हम जो बोते हैं वह काटते हैं।

दूसरा अद्भुत सिद्धांत द्वैतवादियों का यह है कि सब आत्माएं अंत को मोक्ष लाभ करेंगी। कोई बंधन में न रह जाँयगी। अनेक प्रकार के सुख दुःख को झेलते झेलते सबका परिणाम अच्छा ही होगा, सब मुक्त हो जाँयगी। पर वह मुक्त किससे होंगी? हिंदू धर्म के सारे संप्रदायों का यह एक विश्वास है कि संसार वा विश्व के बंधन से सब आत्माओं को मोक्ष प्राप्त करना है। न तो यह प्रत्यक्ष विश्व, न हमारा कल्पित संसार, सत्य वा वास्तविक है क्योंकि दोनों में भले बुरे का मिश्रण है। द्वैतवादियों के मत में इस विश्व के परे एक और लोक है जहाँ केवल सुख ही सुख है और अच्छा ही अच्छा है, जब उस लोक को प्राप्त हो जाते हैं तब जन्म-मरण

के दुःख से, जन्म-जन्मांतर से छूट जाते हैं। यह सिद्धांत उन्हें बड़ा ही मनभावना है। न वहाँ रोग है न मृत्यु। वहाँ अनंत सुख है, ईश्वर के सामने रह कर हम नित्य आनंद भोगेंगे। उनका विश्वास है कि कीट पतंग से लेकर देवयोनि तक के सब लोग कभी न कभी उस लोक में जहाँ दुःख का लेशमात्र नहीं है पहुँचेंगे। पर इस संसार का भी नाश नहीं होगा, इसका प्रवाह अनंत काल तक चला जायगा। यह चक्र कल्प कल्पांत तक चलेगा, इसका अंत नहीं है; मोक्ष की पात्र जीवात्माओं की संख्या भी अनंत ही है, कोई तो स्थावर-योनि में हैं, कोई कीट पतंगादि की योनि में, कोई मनुष्य, कोई देवयोनि में, पर सबके सब, उच्च से उच्च देवताओं तक, मुक्त नहीं हैं, सब बंधन में हैं। बंधन क्या है? यही कि बार बार जन्म लेना और मरना। यहाँ तक कि देवता लोग भी जन्म-मरण के बंधन से मुक्त नहीं हैं। पर देवता हैं क्या? वे केवल एक अवस्था विशेष या पद विशेष मात्र ही हैं। उदाहरण के लिये देवराज इंद्र को ले लीजिए, इंद्र एक पद का नाम है। जिस आत्मा ने उत्कृष्ट पुण्य कर्म किया है वह इस कल्प में इंद्र होती है और कल्पांत में अपने कर्मों के फलों को भोग कर वह इस लोक में आती है और जो यहाँ अत्यंत धर्मात्मा होगा वह अपने कर्मों के फल से दूसरे कल्प में वहाँ जाकर इंद्र होगा। यही दशा अन्य देवताओं की समझ लीजिए। वे केवल पद विशेष हैं; समय समय पर असंख्य प्राणी उन पदों को प्राप्त होते हैं

और कर्मफल के क्षय होने पर पुनः इस लोक में आकर मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। जो लोग इस लोक में फल की इच्छा से, स्वर्ग पाने के लिये या मनुष्य लोक में यश पाने के लिये पुण्य कर्म करते हैं या परहित करते हैं, उन्हें मरणांतर उनके कर्मों का फल मिलता है और वे देवयोनि को प्राप्त होते हैं। पर इसका नाम मोक्ष नहीं है; मोक्ष फल की कामना से कभी नहीं मिलता है। मनुष्य की जो कामना होती है ईश्वर उसे पूरा करता है। मनुष्यों को बल की, यश की और देवलोक के सुखभोग की इच्छा होती है, उनकी कामना पूरी हो जायगी, पर कर्म का कोई फल शाश्वत नहीं हो सकता है। उसके फल का कभी न कभी अंत अवश्य होता है, महाकल्प क्या, ब्रह्मायु तक का काल क्यों न हो, उसके अनंतर उन्हें देवयोनि से पतित होकर मनुष्ययोनि ग्रहण करनी पड़ेगी और उन्हें फिर मोक्ष प्राप्त करने का अवकाश मिलेगा। कीट पतंगादि मनुष्ययोनि में, देवयोनि में जाते और फिर मनुष्य या पशुयोनि में तब तक चक्कर खाया करते हैं जब तक उनकी सुखभोग की इच्छा का, जीवन की तृष्णा का, नाश नहीं हो जाता और अहंकार और ममता बनी रहती है। यही अहंकार और ममता, मैं और मेरा का भाव, संसार में होनेवाली सारी बुराइयों का मूल है। यदि आप द्वैतवादी से प्रश्न करें कि यह आपका लड़का है ? तो वह यही उत्तर देगा कि यह भगवान का है। मेरी वस्तु मेरी नहीं

है, वह भगवान की है, सब कुछ भगवान का है यही मानना चाहिए।

भारतवर्ष में द्वैतवादी लोग अमांसभोजी होते हैं, वे हिंसा का निषेध करते हैं। पर उनमें और बौद्ध के अहिंसा के भाव में बड़ा अंतर है। यदि आप किसी बौद्ध से पूछें कि आप अहिंसा का प्रचार क्यों करते हैं तो वह यही कहेगा कि मुझे किसी के प्राण लेने का अधिकार नहीं है। पर द्वैतवादी इसी प्रश्न पर कि आप हिंसा क्यों नहीं करते यह उत्तर देते हैं कि सब जीव ईश्वर के हैं। द्वैतवादियों का कथन है कि 'मैं और मेरा' शब्द ईश्वर के ही लिये फबते हैं, वही 'मैं' का वाच्यार्थ है और सब उसी का है। जब मनुष्य उस दशा को प्राप्त हो जाता है जब उसमें 'मैं और मेरा' का भाव नहीं रह जाता, जब वह सब कुछ भगवदर्पण कर देता है, जब बिना किसी फल की आकांक्षा के वह सब से प्रेम करता है और एक क्षुद्र पशु तक के लिये अपने प्राण देने को उद्यत रहता है, उस समय उसका अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। जब अंतःकरण शुद्ध हो जाता है तब उसके अंतःकरण में ईश्वर का प्रेम आता है। ईश्वर सारी जीवात्माओं के आकर्षण का केंद्र है। द्वैतवादियों का कथन है कि यदि लोहे की सुई पर मोर्चा लगा है तो चुंबक उसे आकर्षित नहीं कर सकता है पर ज्योंही मोर्चा साफ़ कर दिया जाय तो वह आकर्षित हो जाती है। ईश्वर चुंबक है, जीवात्मा सूई है, और उसके पाप-कर्म जो उस पर जमे हुए हैं मोर्चा हैं। ज्योंही जीवात्मा शुद्ध हो

जाती है वह अपने स्वाभाविक आकर्षण से ईश्वर के पास पहुँच जायगी और सदा उसीके पास बनी रहेगी, पर रहेगी सदा अलग ही। मुक्तात्मा यदि चाहे तो चाहे जैसा रूप ले सकती है। वह सैकड़ों शरीर धारण कर सकती है और एक भी नहीं ग्रहण कर सकती, यह उसकी इच्छा की बात है। वह लगभग सर्वशक्तिमती बन जाती है, भेद इतना ही है कि वह सृष्टि नहीं कर सकती है; यह विशेषता केवल ईश्वर के लिये है। पर सारी आत्माएं जो मोक्ष लाभ कर लेती हैं सदा के लिये आनंदित रहती हैं और नित्य ईश्वर के साथ विचरती हैं। यही द्वैतवादियों का कथन है।

द्वैतवादी लोग एक और सिद्धांत का प्रचार करते हैं। वह यह है कि वे ईश्वर से प्रार्थना करने के घोर विरोधी हैं। जैसे भगवन्, मुझे यह दीजिए, वह दीजिए इस प्रकार की प्रार्थना करने का वे निषेध करते हैं। उनका कथन है कि यदि मनुष्य को कुछ माँगना ही है तो छोटों से माँग सकता है; देवता, देवियाँ, साधु, महात्मा उनकी सांसारिक कामनाओं को पूरा कर सकते हैं। ईश्वर से केवल प्रेम करना चाहिए। ईश्वर से यह प्रार्थना करना कि भगवन्, मुझे यह दीजिए, वह दीजिए, उसका अपमान करना है। अतः द्वैतमत के अनुसार यदि मनुष्य को कोई कामना है तो वह देवताओं से प्रार्थना करने पर कभी न कभी पूरी हो सकती है पर यदि उसे मोक्ष की इच्छा है तो वह अवश्य ईश्वर की उपासना करे। यही भारतवर्ष में सर्वसाधारण का धर्म है।

वास्तव में वेदांत दर्शन का आरंभ विशिष्टाद्वैतवादियों से होता है। उन लोगों का कथन है कि कार्य्य कारण से भिन्न नहीं है। कार्य्य कारण ही का रूपांतर मात्र है। यदि विश्व कार्य्य है और ब्रह्म कारण है तो विश्व ब्रह्म ही है और सिवाय उसके और कुछ नहीं है। वे ईश्वर ही को विश्व का निमित्त और उपादान दोनों कारण मानते हैं; उनके मत में ईश्वर ही स्रष्टा है और ईश्वर ही प्रकृति है जिससे सारी सृष्टि हुई है। अंगरेज़ी के क्रिएशन (=सृष्टि) का कोई पर्य्यायवाची शब्द संस्कृत भाषा में नहीं है। कारण यह है कि आपके यहाँ यह मानते हैं कि शून्य से सृष्टि हुई, सृष्टि इस अर्थ में भारतीय लोग नहीं मानते। पहले किसी समय कुछ लोगों की ऐसी धारणा थी पर उनका मुँह बंद कर दिया गया और अब तो मेरी जान में कोई ऐसा संप्रदाय नहीं रह गया है जिसका यह विचार हो। हम लोगों का सृष्टि से यही तात्पर्य है कि जो कुछ पहले था वही प्रगट हुआ। विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के अनुसार सारा विश्व ब्रह्म ही है। वही विश्व का उपादान है। वेदों में लिखा है कि जैसे मकड़ी अपने शरीर से तंतु निकाल कर जाला बनाती है उसी प्रकार विश्व आत्मा से प्रादुर्भूत होता है।

अब यदि कार्य्य स्थूल दशा को प्राप्त वा व्यक्त कारण ही है तो यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि फिर ऐसे स्थूल, जड़ और अचेतन विश्व की सृष्टि उस ब्रह्म से कैसे हो सकती है जो भौतिक नहीं है और नित्य चेतनस्वरूप है ? जब कारण शुद्ध और

पूर्ण है तब उसका कार्य्य इतना विरुद्ध कैसे है ? इसपर विशिष्टाद्वैतवादी क्या कहते हैं ? उनका सिद्धांत ही विलक्षण है । वे कहते हैं कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों एक ही सत्ता हैं, ईश्वर मानों आत्मा है और प्रकृति और जीव ईश्वर के शरीर हैं । जैसे हमारे शरीर भी है और आत्मा भी है इसी प्रकार सारा विश्व और सारी आत्माएं ईश्वर के शरीर हैं और ईश्वर आत्माओं की भी आत्मा है । इस प्रकार ईश्वर विश्व का उपादान कारण है । शरीर में परिवर्तन होता है, शरीर ही बालक और वृद्ध, प्रबल निर्बल, होता है, पर इससे आत्मा को क्या ? वह तो सदा एकरस बनी रहती है और शरीर द्वारा व्यक्त होती रहती है । शरीर बनता और बिगड़ता है पर आत्मा सदा निर्विकार बनी रहती है । यों ही सारा विश्व ब्रह्म का शरीर है और इस अर्थ में ब्रह्म ही है । पर विश्व के परिवर्तन से ब्रह्म पर कोई परिणाम नहीं आता । इसी उपादान से ब्रह्म विश्व की रचना करता है और कल्पांत में उसका वही शरीर सूक्ष्म रूप धारण करता और संकुचित होजाता है; फिर दूसरे कल्प के आदि में वही फिर प्रपंचावस्था को प्राप्त होता है और उससे नाना लोकों का प्रादुर्भाव होता है ।

द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी दोनों का इस विषय पर एकमत है कि जीवात्मा स्वभाव से शुद्ध है पर अपने कर्म के मल से उस पर मलीनता आगई है । विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादियों से कहीं अच्छी तरह, इस भाव को इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि

जोवात्मा की शुद्धता और पूर्णता, व्यक्त और अव्यक्त होती रहती है। हम लोगों का यही परम पुरुषार्थ है कि शक्ति, ज्ञान और निर्मलता को जो उसके स्वाभाविक गुण हैं व्यक्त और प्रादुर्भूत करें। जीवात्मा में कई गुण हैं किंतु सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता उसके गुण नहीं हैं। बुरे कर्म से जीव की प्रकृति का तिरोभाव और शुभ कर्म से आविर्भाव होता है। ये आत्माएं ब्रह्म के अंश हैं। जैसे आग से अनेक प्रकाशमान चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही उस अनंत ब्रह्म से आत्माएं निकली हैं। सब अंत को उसी में लय हो जायेंगी। विशिष्टाद्वैतवादियों का ब्रह्म वा ईश्वर भी पुरुषविशेष ही है, वह अनंत शुभ गुणों का आकर है, भेद यही है कि वह विश्व के समस्त पदार्थों में व्याप्त है। वह सब पदार्थों में और सर्वत्र व्याप्त है। जहाँ जहाँ श्रुतियों में यह कहा गया है कि ईश्वर सब कुछ है वहाँ वहाँ उनका यही तात्पर्य्य है कि वह सब में व्याप्त है, यह नहीं कि ईश्वर ही दीवाल बन गया है किंतु वह दीवाल में भी व्याप्त है। विश्व में एक कण, एक अणु और परमाणु ऐसा नहीं है जिसमें वह व्याप्त न हो। जीवात्माएं परिमित हैं, वे सर्वगत नहीं हैं। जब वे शुद्ध हो जाती हैं, उनकी शक्तियों का विकाश हो जाता है तब वे जन्म-मरण से छुटकारा पा जाती हैं और सदा ब्रह्म में आनंद भोगती हैं।

अब हम अद्वैतवाद पर आते हैं। यह अंतिम होने पर भी धर्म और दर्शनों का सारभूत है। इससे बढ़ कर श्रेष्ठ विचार किसी देश में,

किसी काल में, न हुआ, न हो सकता है। इसमें मनुष्य का विचार पराकाष्ठा को पहुँच जाता और दुर्भेद्य रहस्य को पार कर जाता है। यह अद्वैतवाद है। यह अत्यंत गूढ़ और नितांत उच्च विचार है, सर्वसाधारण लोग इसे समझ नहीं सकते, यह उनका धर्म नहीं हो सकता। यहाँ तक कि भारतवर्ष में जहाँ इसका जन्म हुआ है और जहाँ इसका तीन सहस्र वर्ष से साम्राज्य है वहीं इसका प्रचार सर्वसाधारण में न हो सका तो दूसरे देशों की तो कथा ही क्या है। आगे चल कर जान पड़ेगा कि संसार में बड़े बड़े समझदार मनुष्यों की समझ में यह नहीं आ सकता है। हम लोग इतने दुर्बल और इतने हीन दशा को प्राप्त हो गए हैं कि हम चाहे जितना बढ़ बढ़ कर दावे करें अंत को हमें किसी न किसी का आश्रय लेना ही पड़ता है। हमारी अवस्था उन छोटे निर्बल पौधों की सी हो रही है जो बिना टक्के के खड़े नहीं रह सकते हैं। अनेक बार मुझ से कहा गया है कि कोई 'सुभीते का धर्म' बता दो! बहुत कम लोगों ने सत्य की जिज्ञासा की है, उनमें भी बहुत ही कम लोगों को सत्य के ग्रहण करने का साहस हुआ है, और उनमें भी बहुत ही कम लोग उसपर आचरण कर सकते हैं। इसमें उनका कोई दोष नहीं है; यह केवल मानसिक दुर्बलता के कारण है। किसी नए विचार के, विशेषतः उच्च विचारों के, उत्पन्न होते ही बड़ी हो हलचल मचती है, वह मानो लोगों के मस्तिष्क में अपने लिये रास्ता निकालने लगता है और इससे सारे क्रम में विपर्यय

हो जाता है, लोगों के हाथ पैर ढीले पड़ जाते हैं, औसान जाता रहता है, लोग घबड़ा जाते हैं। उन्हें नित्य की बातों से जिनसे उनका संसर्ग रहता है राग उत्पन्न हो जाता है, उन्हें अनेक प्रकार के पुराने पच्चपातों को दबाना पड़ता है, जैसे पैत्रिक पच्चपात, जाति का पच्चपात, देश का पच्चपात, नगर का पच्चपात और सबके अनंतर उस पच्चपातों की गठरी को जो लोगों की प्रकृति बन रही है। इतने पर भी संसार में इने गिने वीर पुरुष हैं जो सत्य को समझ सकते हैं, जो उसे स्वीकार करते हैं और आजन्म उसके अनुसार अनुष्ठान करने का साहस करते हैं।

अद्वैतवाद क्या कहता है? उसका कथन है कि यदि कोई ईश्वर है तो वह ईश्वर अवश्य विश्व का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है। न वह केवल स्रष्टा ही है अपि तु वही सृष्टि भी है। वह स्वयं यह विश्व है। पर यह हो कैसे सकता है? ईश्वर तो शुद्ध और चेतन स्वरूप है, भला वह विश्व कैसे बना? यह ठीक है, बाहर से तो ऐसा ही जान पड़ता है। बात यह है कि अज्ञानियों को जो विश्व का प्रत्यच्च होता है वह तो है ही नहीं, उसकी तो सत्ता ही नहीं है। आप, मैं और इस विश्व के अन्य लोग और पदार्थ जिन्हें हम देखते हैं वे हैं क्या? ये सब केवल भ्रममात्र हैं; सत्ता तो केवल एक ही है, उसी अनंत और आनंदघन की। उसकी सत्ता में पड़े हुए हम ये कई स्वप्न देख रहे हैं। इनसे परे, अनंत, ज्ञात और ज्ञेय से परे,वह आत्मा है, उसीमें हमें इस विश्व का भान हो रहा है। वही एक सत् है।

वही यह मेज़ है, वही श्रोता है, वही दीवाल है, नाम रूप निकाल दो तो वही रह जाता है। मेज़ का रूप निकाल दो, नाम निकाल दो, जो बच रहता है वह यह है। वेदांती उसे स्त्री या पुरुष नहीं समझते हैं; ये सब तो मनुष्यों के मस्तिष्क के विकार और भ्रममात्र हैं, उसमें तो कोई लिंग नहीं है, भला आत्मा में लिंग कहाँ ? जिन्हें भ्रम हैं, जो पशुत्व को प्राप्त हो गए हैं उन्हीं लोगों को स्त्री और पुरुष देखाई पड़ते हैं; देवताओं को स्त्री पुरुष नहीं देख पड़ते हैं। भला जो सब से परे हैं उन्हें लिंग का भेद कहाँ ? उनकी दृष्टि में तो सब कुछ आत्मा, अलिंग निर्विकार आनंदघन है। नाम, रूप और शरीर भौतिक हैं, ये ही भेद के कारण हैं। यदि नाम रूप के भेद को अलग कर दो तो सारा विश्व एक है, कहीं दो का नाम नहीं, केवल एक ही एक सब जगह है। आप और मैं एक ही हैं। न कहीं प्रकृति है, न ईश्वर है और न विश्व है, पर है तो एक अनंत सत्तामात्र, उसी सत्ता के नाम और रूप की उपाधि से सब उत्पन्न होते हैं। भला ज्ञाता को कैसे जानें ? वह जाना नहीं जा सकता। आप अपने रूप को देख कैसे सकते हैं ? आप केवल अपनी परछाँई देख सकते हैं। इसी प्रकार यह सारा विश्व उसी नित्य आत्मा की छायामात्र है और जैसे अच्छे या बुरे आदर्श पर प्रतिबिंब पड़ता है वैसा ही भला या बुरा चित्र देखाई पड़ता है। जैसे, हिंसक का आदर्श (दर्पण) बुरा है आत्मा बुरी नहीं है। साधु में आदर्श अच्छा है। आत्मा तो स्वभाव से ही शुद्ध है।

कीट पतंगादि लेकर उत्कृष्ट और आप्त पुरुष तक में वही एक, विश्व की एक मात्र सत्ता, प्रतिबिंबित हो रही है। यह सारा विश्व, भौतिक, मानसिक, धार्मिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार से, एक है, एक ही सत्ता है। हम एक ही सत्ता को भिन्न भिन्न रूपों में देख रहे हैं और उसपर नाना प्रकार के प्रतिबिंबों की कल्पना कर रहे हैं। जो लोग मनुष्य की अवस्था को प्राप्त हैं, मनुष्य दशा में आबद्ध हैं, उन्हें वह मर्त्यलोक देखाई पड़ती है। जो लोग मनुष्यों से उच्च पद को प्राप्त हैं उन्हें वही स्वर्ग के रूप में भासमान हो रही है। पर इस विश्व में आत्मा एक ही है, दो नहीं है। वह न कहीं आती है न कहीं जाती है। न उसका जन्म है, न मरण, न आवागमन। भला वह मर कैसे सकती है? वह जाय तो कहाँ जाय? सारे स्वर्ग, पृथ्वी, लोक लोकांतर सब मन की व्यर्थ कल्पनाएं मात्र हैं। उनकी कहीं सत्ता नहीं है; न वे कभी थे और न आगे रहेंगे।

मैं सर्वगत अचल हूँ। मैं जाऊँ तो कहाँ जाऊँ? भला मैं हूँ कहाँ नहीं? मैं ही तो प्रकृति के इस शास्त्र को पढ़ रहा हूँ। पन्ने के पन्ने पढ़ता और उलटता जा रहा हूँ, और जीवन के स्वप्न पर स्वप्न देख रहा हूँ। जीवन का एक पन्ना उलटता हूँ; एक जीवन का स्वप्न सामने आता है; वह गया, दूसरा आया; इसी प्रकार पन्ने उलटता जा रहा हूँ। जब मैं इस पुस्तक का पढ़ना समाप्त करूँगा तो छोड़ कर अलग हो जाऊँगा, पुस्तक को फेंक

दूँगा और सारे प्रपंच की इति श्री हो जायगी। अद्वैतवाद की शिक्षा क्या है? वह सारे देवताओं को, जो कभी थे, हैं या होंगे एक सिरे से दूसरे सिरे तक गद्दी पर से उतारता है और उनके स्थान पर आत्मा को बैठाता है जो मनुष्य की आत्मा है, जो सूर्य्य, चंद्र, आकाश और विश्व से भी ऊँची है। किसी पुस्तक, किसी शास्त्र, किसी दर्शन को कभी उस आत्मा के महत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता है जो मनुष्य के रूप में प्रगट होती है, जो सब से बड़ा देवता है, जो एकमात्र ईश्वर है, जिसके अतिरिक्त ईश्वर कभी न था, न है और न होगा। मुझे आत्मा को छोड़ कर किसी की उपासना नहीं करनी चाहिए। अद्वैतवादी कहता है "मैं आत्मा की उपासना करता हूँ मैं अपना सिर किसके आगे झुकाऊँ? मैं अपनी आत्मा को नमस्कार करता हूँ। मैं किसका आश्रय लूँ? मेरा सहायक कौन हो सकता है? मैं तो इस विश्व की एक मात्र अनंत सत्ता हूँ।" ये मूर्खता की बातें हैं, भ्रममात्र है; भला किसीने कभी किसीकी सहायता की है? किसी ने नहीं। जहाँ कहीं आपको कोई दुर्बल, द्वैतवादी सहायता के लिये रोता बिललाता, किसी स्वर्ग पर रहनेवाले से प्रार्थना करता, मिले तो समझ जाइए कि यह उसकी मूर्खता है, अज्ञान है, उसे इसका बोध नहीं है कि स्वर्ग भी तो उसीमें है, उससे बाहर कहाँ? वह ऊपर से सहायता चाहता है, उसे सहायता मिलती है। हम भी देखते हैं कि उसे सहायता मिली; पर वह सहायता उसके भीतर से मिली और

उसने अज्ञानवश यह समझा कि वह कहीं बाहर से मिली है। मान लीजिए कि एक रोगी खाट पर पड़ा है, उसे द्वार पर खटखटाहट होती सुनाई देती है। वह उठता है और किवाड़ खोल कर देखता है तो वहाँ कोई नहीं देखाई देता। वह आकर फिर खाट पर पड़ जाता है और फिर खटखटाहट सुनता है। वह उसे सुन कर फिर किवाड़ खोलता है और वहाँ उसे कोई नहीं देखाई पड़ता है। अंत को उसको ज्ञान हो जाता है कि यह किवाड़ की खटखटाहट न थी, केवल उसके कलेजे की धकधकी थी जिसे उसने भ्रमवश किवाड़ की खटखटाहट समझा था। इसी प्रकार मनुष्य, जब अपने से बाहर अनेक देवी देवताओं को ढूँढ़ कर थक जाता है और चारों ओर चक्कर लगा लेता है तब वह वहीं लौट आता है जहाँ से वह चला था, अर्थात् अपनी आत्मा पर, तब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि ईश्वर जिसे वह पहाड़, जंगल, नदियों के घाटों, मंदिरों, गिरजों और स्वर्गादि लोकों में ढूँढ़ता फिरा, जिसे वह स्वर्ग के सिंहासन पर विराजमान और विश्व का शासक समझ रहा था वह उसी में है, उसी की आत्मा है। मैं वह हूँ, वह मैं है, दूसरा नहीं, मैं ही ईश्वर हूँ। मैं बेचारा था ही नहीं। मैं नहीं था, न हूँ।

पर यह तो कहिए पूर्ण ब्रह्म को भ्रम कैसे हुआ? उत्तर यही है कि उसे कभी भ्रम नहीं हुआ। यह तो बतलाइए उसे स्वप्न कहाँ से हुआ? उसे तो स्वप्न नहीं दीखा। सत्य को स्वप्न नहीं होता। यह बात ही कि भ्रम कहाँ से हुआ, असंगत है। भ्रम भ्रम से

उत्पन्न होता है। ज्यों ही सत्य का ज्ञान हुआ भ्रम कहाँ ? भ्रम भ्रम ही में रहता है। ईश्वर में, ब्रह्म में, जो सत्य और आत्मा है, भ्रम नहीं है। आप कभी भ्रम में नहीं हैं, भ्रम आप में या आप के सामने है। एक बादल का टुकड़ा आया, दूसरा आया, उसने पहले को हटाया, तीसरा आया, उसने दूसरे को हटाया। जैसे नित्य निर्मल आकाश में नाना वर्ण के मेघ आते रहते हैं और कुछ देर रह कर हट जाते हैं पर वह स्वच्छ ही बना रहता है, उसकी निर्मलता में अंतर नहीं पड़ता, वैसे ही आप सदा निर्मल और नित्य शुद्ध हैं। आप ही विश्व के देव हैं; आप में और उसमें कोई अंतर नहीं, यहाँ तो दो नहीं हैं, एक ही सत्ता है। आप और हैं, मैं और हूँ, यही मिथ्यात्व है; 'मैं' ही कहो। मैं ही तो सहस्रों मुँह से भोजन कर रहा हूँ; मैं फिर भूखा कैसे ? मैं ही तो असंख्य हाथों से कर्म कर रहा हूँ, मैं अक्रिय कैसे ? मैं ही तो विश्व का जीवन हूँ, मेरी मृत्यु कहाँ है ? मैं जीवन और मरण से परे हूँ। मैं मुक्ति कहाँ ढूँढूँ ? मैं तो स्वयं मुक्तस्वभाव हूँ। मुझे बंधन किसका ? मैं तो इस विश्व का देवाधिदेव हूँ। संसार के सब शास्त्र छोटे छोटे चित्र हैं जिनमें मेरे महत्त्व के चित्रण का यत्न किया गया है, मैं इस विश्व की एकमात्र सत्ता हूँ। फिर इन पुस्तकों से मुझे क्या ? अद्वैतवादी का यह कथन है।

ज्ञान प्राप्त करो, ज्ञान ही से मुक्ति है। ज्ञान ही से अंधकार नाश होगा। जब मनुष्य अपने को ब्रह्म से एक स्वरूप देखता है,

जब भेद का नाश हो जाता है, जब सब स्त्री पुरुष, ईश्वर देवता स्थावर जंगम सब एक ही देख पड़ते हैं, एक में लीन हो जाते हैं, तब सब भय मिट जाते हैं। क्या मैं अपने आप को चोट पहुँचा सकता हूँ? क्या मैं अपने आप को मारूँगा? क्या मैं अपने आप को हानि पहुँचाऊँगा? मुझे भय किसका है? क्या मैं अपने आप से डरूँगा? उसी समय सब शोकों का नाश हो जायगा। मुझे शोक किससे हो सकता? विश्व में मैं ही मैं तो अकेला हूँ। तभी सारी ईर्ष्याओं का नाश होगा। मैं ईर्ष्या किससे करूँ? अपने ही से? तभी सब दुष्ट विचारों का अंत हो जाता है। मैं किस से द्वेष करूँगा? क्या अपने ही से? विश्व में तो सिवाय मेरे कोई दूसरा है ही नहीं। वेदांती कहता है कि ज्ञान के प्राप्त करने का यही एक उपाय है। इस भेदभाव को नाश करो, इस पक्षपात को छोड़ो कि अनेक हैं। जो इस नानात्व में एकत्व देखता है, जो इस अचेतन में एक चेतनात्मा को देखता है, जो इस मिथ्यात्व की परछाँही में सत्य का ग्रहण करता है उसीको शाश्वत शांति मिलती है, दूसरे को नहीं, दूसरे को नहीं।

भारतवर्ष के धार्मिक विचार ने ईश्वर के संबंध में जो तीन निश्चय क्रम से किए हैं उनकी मुख्य बातें हैं। यह दिखलाया जा चुका है कि किस प्रकार द्वैतवाद में पुरुष विशेष ईश्वर सृष्टि के बाहर माना गया और वही विशिष्टाद्वैत में बाहर से भीतर गया, सारे विश्व में व्यापक आत्मा बना और अंत को अद्वैतवाद में जीवात्मा परमात्मा की एकता स्थापन करके जगत् की सारी

अभिव्यक्तियों का एक रूप आत्मा ही बना दिया गया। सब कुछ उसी ब्रह्म की विभूति और ब्रह्म ही हो गया। यही वेदांत, वेदों का अंत, है। यह द्वैतवाद से प्रारंभ होता है और विशिष्टाद्वैत से हो अंत को-अद्वैतवाद का रूप धारण कर लेता है। यह स्पष्ट है कि जगत् के बहुत कम लोग इस अंत के सिद्धांत पर पहुँचते या उसे मानने का साहस कर सकते हैं और उनमें भी बहुत कम लोग उसका अनुष्ठान कर सकते हैं। फिर भी हम जानते हैं कि इसी में इस विश्व भर के सारे आचार, सारे धर्म, सारे अध्यात्म का रहस्य भरा है। सब लोग यह क्यों कहते हैं कि दूसरों के साथ भलाई करो? इसका समाधान क्या है? संसार के सारे महात्माओं ने मनुष्यमात्र की समता और उनसे भी बड़े महात्मा लोगों ने प्राणी मात्र की समता का प्रचार क्यों किया है? इसका कारण यही है, चाहे उन्हें इसका बोध रहा हो या न रहा हो, सारे अज्ञान और मूढ़ विश्वास की ओट में, इसी आत्मा का नित्य प्रकाश झलकता था जो नानात्व का निषेध और सारे विश्व की एकता का प्रतिपादन कर रहा था।

वेदांत से हमें एक ही विश्व का बोध होता है, उसीको जब इंद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं तो हम प्रकृति वा द्रव्य कहते हैं, जब मन द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं तो जीव कहते हैं और जब उसीको आत्मा द्वारा साक्षात् करते हैं तो ईश्वर कहते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिये, जो अपने को आवरणों से, जिन्हें पाप कहते हैं, आवृत करते हैं, यह नरकरूप दिखाई पड़ता है; जो भोग का अभिलाषी है उसके

लिये यह रूप बदल कर स्वर्ग बन जाता है, और आप्त पुरुष के लिये यह कुछ नहीं है, अपनी ही आत्मा है, ब्रह्म ही ब्रह्म दीखता है।

अब आजकल जैसी समाज की दशा है तीनों प्रकार के वेदांत की आवश्यकता है। इनमें एक दूसरे का निषेधक नहीं है, अपि तु पूरक है। अद्वैतवादी वा विशिष्टाद्वैतवादी द्वैतवाद को मिथ्या नहीं कहते। वे उसे ठीक कहते हैं, पर नीच कोटि का बतलाते हैं। वह भी सत्य के मार्ग पर है; इसलिये जिसे जो भावे वैसा समझे, करे। किसी को हानि न पहुँचाओ, न किसी के पक्ष की निंदा करो, जो जहाँ है उसे छेड़ो मत, वहीं उसे ग्रहण करो, यदि हो सके तो उसे सहारा देकर ऊपर चढ़ाओ, पर हानि न पहुँचाओ, गिराओ मत। सब कभी न कभी सत्य पर पहुँचेंगे। जब अंतःकरण की सब कामनाओं की निवृत्ति हो जाती है उसी समय मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, तभी मनुष्य ईश्वर वा ब्रह्म हो जाता है।

---

(१५) आत्मा, उसका बंध और मोक्ष।

अद्वैतदर्शन के अनुसार इस विश्व में एक ही सत् पदार्थ है जिसे ब्रह्म कहते हैं। अन्य सारे पदार्थ मिथ्या हैं और माया द्वारा उसी ब्रह्म से अभिव्यक्त हुए और बने हैं। ब्रह्म को प्राप्त

करना ही हमारा उद्देश है। हम सब माया से युक्त वही ब्रह्म, और वही सत्ता हैं। यदि हम इस माया या अज्ञान से छूट जाँय तो हम जो हैं वही फिर हो जाँय। इस दर्शन के अनुसार सब मनुष्यों के तीन प्रधान अंग हैं—(१) शरीर (२) अंत:करण वा मन और (३) इन सब के परे आत्मा। शरीर आत्मा* का बाह्य आवरण है और मन आंतरिक आवरण है और इनके भीतर आत्मा है जो द्रष्टा, भोक्ता और शरीर में सत्ता है। वही अंत:करण या मन का, शरीर का प्रेरक है।

आत्मा ही मनुष्य के शरीर में एक ऐसी सत्ता है जो भौतिक नहीं है। जो भौतिक नहीं है वह संयोगज भी नहीं है, जो संयोगज नहीं वह कार्य्य कारण के नियम के बाहर है और अत: अमर है। जो अमर है उसका आदि नहीं क्योंकि जिसका आदि होता है उसका अंत भी होता है। इससे यह भी आता है कि वह अमूर्त अरूप अवश्य है। बिना द्रव्य के कोई मूर्ति या रूप हो ही नहीं सकता। जिसके रूप है उसके आदि और अंत भी होते हैं। ऐसा कोई रूप देखा ही नहीं गया जिसका आदि

---

* यहाँ आत्मा से अभिप्राय ब्रह्म से है क्योंकि अद्वैत वेदांत में जीव और ब्रह्म में कोई वास्तव भेद नहीं माना जाता। अप्रमेय में कोई क्रिया नहीं होती इसलिये ब्रह्म में क्रिया (बुद्धि, संवेदना, ज्ञान, भोग आदि) आदि कल्पना केवल अध्यारोपमात्र है क्योंकि ब्रह्म की चेतनात्मक स्वयं प्रकाश शक्ति स्वयं कर्म में संग न रख कर भी कर्म को संभव कर सकती है।

और अंत न हो। रूप, द्रव्य और शक्ति के संयोग से उत्पन्न होता है। इस कुर्सी के रूप है अर्थात् कुछ द्रव्य पर कुछ शक्ति लगी है, दोनों मिल कर एक रूप बना हुआ है। रूप, द्रव्य और शक्ति के संयोग का परिणाम है। यह संयोग नित्य नहीं हो सकता; प्रत्येक संयोग का कभी न कभी वियोग वा नाश अवश्य है। अतः सब रूपों का आदि और अंत है। हम यह जानते हैं कि शरीर का नाश ध्रुव है; इसका आदि है तो अंत अवश्य होगा। पर आत्मा का रूप नहीं है, इससे यह आदि और अंत के बंधन में नहीं आ सकता। यह अनादि काल से है, जैसे काल नित्य है वैसे आत्मा भी नित्य है। दूसरे यह सर्वगत वा व्यापक भी अवश्य है। रूप ही में देश का बंधन होता है। जो अरूप है वह देश से बद्ध कहाँ? अतः अद्वैतदर्शन के अनुसार आत्मा, तुममें, मुझमें और सबमें व्याप्त है। वह सर्वव्यापी है। आप जैसे इस पृथ्वी में हैं वैसे ही सूर्य्य में हैं, जैसे इंगलिस्तान में हैं, वैसे ही अमरिका में, पर आत्मा मन और शरीर द्वारा कर्म करता है। जहाँ शरीर और मन है वहीं उसके कर्म देखाई पड़ते हैं।

हमारे प्रत्येक कर्म और विचार से मन में एक संस्कार उत्पन्न होता है इन्हीं संस्कारों से मिलकर एक प्रबल शक्ति बन जाती है जिसे 'कर्म' कहते हैं। कर्म मनुष्य का आत्मोपार्जित है; वह उसके जन्म भर किए हुए कायिक और मानसिक कर्मों का विपाक है। सब संस्कारों को मिलाकर वह शक्ति उत्पन्न होती है जो मनुष्य को मरने पर यथा-

योग्य शरीरांतर में ले जाती है। मनुष्य मरता है; शरीर पंचत्व को प्राप्त होता है और तत्त्व तत्त्व में मिल जाते हैं पर संस्कार मन के साथ लगा रह जाता है; मन सूक्ष्म द्रव्यों से बना है, उसका तुरंत नाश नहीं होता क्योंकि जो द्रव्य जितने सूक्ष्म होते हैं वे उतने ही अधिक स्थायी होते हैं। पर बहुत दिनों पीछे मन का भी नाश होता है और उसी के नाश करने का हम लोग प्रयत्न कर रहे हैं। इस संबंध में तो मुझे सबसे अच्छा उदाहरण बवंडर का जान पड़ता है। सब ओर से वायु के भिन्न भिन्न झोंके आकर मिलते हैं और एक जगह मिलकर एक हो जाते हैं और चक्कर मारने लगते हैं; ज्यों वे घूमते हैं धूल का स्तंभाकार बन जाता है। वे आस पास के कागज के टुकड़ों और पत्तियों को खींच लेते हैं और ज्यों ज्यों चक्कर खाते हैं उन्हें गिराते और आगे बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार वे आगे जाते हैं और जो चीज़ें उनके मार्ग में आती हैं उन्हें लेते और गिराते उसी प्रकार से चले जाते हैं। इसी प्रकार वे शक्तियाँ जिन्हें प्राण कहते हैं इकट्ठी होकर प्रकृति से मन और शरीर की कल्पना करती हैं या बना लेती हैं और जब तक शरीर का पात नहीं होता गति करती जाती हैं। फिर वे प्रकृति से नए नए शरीरों की रचना करती जाती हैं। एक शरीर गिरा, दूसरा बना, योंही चलता रहता है। शक्ति बिना द्रव्य के आगे नहीं चल सकती है। अतः जब शरीर का पात हो जाता है मन रह जाता है और प्राण संस्कार के रूप में मन पर काम करता रहता है फिर वह अन्यत्र जाता है और

नए द्रव्य से नया बवंडर बनाता है और नई गति आरंभ करता है। इस प्रकार मन एक स्थान से दूसरे स्थान पर तब तक फिरता रहता है जब तक कि उसमें शक्तियों का व्यय नहीं हो जाता, तब वह गिर पड़ता है और उसका अंत हो जाता है। इस प्रकार जब मन का अंत हो जाता है, वह छिन्न भिन्न और नितांत संस्कारशून्य हो जाता है, उस समय हम मुक्त हो जाते हैं और उस समय तक ही हम बंधन में रहते हैं। तभी तक आत्मा मन के बवंडर से आच्छादित रहती है और जानती है कि मैं एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई जा रही हूँ। जब बवंडर जाता रहता है आत्मा को बोध हो जाता है कि मैं सर्वव्यापी हूँ, मैं जहाँ चाहूँ जा सकती हूँ, मैं मुक्त हूँ, जितने चाहूँ मन और शरीरों की रचना कर सकती हूँ, पर जब तक ऐसा नहीं होता वह बवंडर के साथ उड़ी फिरती है। यही मुक्ति हमारा लक्ष्य है जिसकी ओर हम जा रहे हैं।

मान लीजिए कि इस घर में एक गेंद है, हम लोग हाथ में चौगान लिए उसे मार रहे हैं, सैकड़ों चोटें पड़ती हैं, गेंद एक ओर से दूसरी ओर मारा मारा फिरता है और होते होते वह कमरे के बाहर निकल जाता है। वह किस बल से किस ओर निकल जाता है इसका पता उन चोटों से चल सकता है जिनके कारण वह कमरे में एक ओर से दूसरी ओर मारा मारा फिरता है। भिन्न भिन्न चोटों से वह भिन्न भिन्न ओर जाता है और सभी चोटों का उस पर प्रभाव पड़ेगा। हमारे सारे मानसिक और

कायिक कर्म मानों एक एक चोट हैं। हमारा मन गेंद है, हम उन्हीं चोटों से इस संसार में एक स्थान से दूसरे स्थान पर सदा मारे मारे फिर रहे हैं; हम किधर निकलेंगे इसका पता इन्हीं चोटों से लग सकता है। जैसे चोट चोट पर गेंद की गति और वेग का अनुमान हो सकता है उसी प्रकार हमारे इस जन्म के कर्मों से हमारे भविष्य जन्मांतर का पता चल सकता है। हमारा वर्तमान जन्म हमारे पूर्वकर्मों का फल है। यह तो एक बात हुई। अब मान लीजिए कि आपको एक ऐसी जंजीर दी गई है जिसके ओर छोर का पता नहीं पर उसमें काली और उजली कड़ियाँ लगातार लगी हैं। अब आपसे यदि कोई पूछे कि जँजीर कैसी है तो पहले तो आपको कठिनाई पड़ेगी, आप चकराएँगे; कहेंगे कि इसके ओर छोर का तो पता नहीं, पर थोड़े ही समय में आपकी समझ में आ जायगा कि यह जंजीर है, काली और उजली कड़ियों को आगे पीछे लगा कर बनी है, सारी जंजीर में दो प्रकार की कड़ियों की आवृत्ति है, येही काली उजली कड़ियाँ अनंत गुनी होकर जंजीर बन जाती हैं। कड़ियों के रंग रूप को जान कर आपको सारी जंजीर कैसी है इसका ज्ञान हो जाता है क्योंकि वैसी ही कड़ियाँ उस जंजीर में लगातार लगती गई हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान के हमारे सारे जन्म मिल कर एक जंजीर बनी हुई है जिसके ओर छोर का पता नहीं। उसी जंजीर की एक एक कड़ी एक एक जन्म है, उत्पत्ति और विनाश उन कड़ियों के दोनों अंत हैं, वेही कड़ियाँ

विना विपर्य्यय के वारंवार आया जाया करती हैं। अब यदि हम इन दोनों कड़ियों को जान लें तब तो हमें इसका ज्ञान हो सकता है कि हम इस संसार में कैसे आ जा रहे हैं। अतः हम देखते हैं कि हमारे वर्तमान आगमन (जन्म) का ज्ञान पहले के आगमनों पर अवलंबित है। इसी प्रकार यह भी निश्चय है कि हम अपने कर्मों ही से संसार में उत्पन्न हुए हैं। जैसे हमारे वर्तमान कर्मों के संचय को लेकर हम आगे जाते हैं वैसे ही हमारे पूर्व के कर्मों के संचय से हमारे इस जन्म का होना निश्चित है; जिसके कारण हम जाते हैं उसीसे हम आते भी हैं, जो हमें ले जाता है वही हमें लाया भी है। हमें लाता कौन है? हमारे पूर्वजन्म के कर्म। हमें ले कौन जाता है? हमारे इस जन्म के कर्म। इसी प्रकार हम आते जाते रहते हैं। जैसे कुसियारी का कीड़ा अपने मुँह से सूत निकाल कर अपने लिये कोसा बनाता है और अंत को उसी कोसे में बंद हो जाता है उसी प्रकार हम अपने कर्मों से बंधन में पड़े हैं, हमने अपने आप कर्म जाल रच कर अपने को बंधन में डाल रखा है। हमने ही परिणाम के नियम या चक्कर को प्रवर्तित किया और अब उसीसे हमें निकलना कठिन पड़ रहा है। हमने ही कोल्हू चलाया और हमारा ही उसमें कचूमर निकल रहा है। इस प्रकार इस दर्शन की यह शिक्षा है कि हम नियत अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण बद्ध हो रहे हैं।

आत्मा न कभी आती है न जाती है, न इसका जन्म है

न मरता। यह प्रकृति है जो आत्मा के सामने फिर रही है, उसकी गति का आभास आत्मा पर पड़ता है और वह अज्ञानवश यह समझे हुए है कि मैं गति कर रही हूं, प्रकृति गति नहीं करती है। इसीसे जब आत्मा अपने को अज्ञानवश बद्ध समझ रही है तब वह बद्ध है। जब उसे यह बोध हो जाता है कि मैं अचल हूँ, मैं सर्वव्यापक हूँ तब वही मुक्त हो जाती है। बद्ध आत्मा ही का नाम जीव है। अतः जब यह कहा जाता है कि आत्मा आती जाती है तो वह समझने की सुगमता के लिये कहा जाता है, जैसे ज्योतिषशास्त्र में सूर्य्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है यह इसलिये मान लेने के लिये कहा जाता है कि अध्ययन में सुगमता पड़े, वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इसी प्रकार जीव की ऊर्ध्वगति और अधोगति की बात है। इसी का नाम आवागमन है और सारी सृष्टि इस नियम में बद्ध है।

इस देश के लोगों को यह सुन कर अचंभा होता है कि पशुयोनि से लोग मनुष्ययोनि को कैसे प्राप्त होते हैं! पर आश्चर्य्य की बात क्या है? चौंकते क्यों हो? इन असंख्य पशुओं की क्या गति होगी? क्या वे कुछ हैं ही नहीं? जैसे हम में जीव है वैसे उनमें भी तो जीव है, यदि उनमें जीव नहीं है तो हम में भी नहीं है। यह असंगत बात है कि मनुष्य में तो जीव है और पशुओं में नहीं। मैंने तो कई मनुष्यों को पशुओं से भी गया बीता देखा है।

मनुष्य की आत्मा ऊँच नीच सभी योनियों में अपने संस्कार-वश भ्रमण करती रहती है, पर मनुष्ययोनि ही सबसे श्रेष्ठ है और इसीमें उसे मुक्ति मिल सकती है। मनुष्ययोनि, देवयोनि और अन्य सारी योनियों से श्रेष्ठ है। मनुष्य से बढ़ कर कोई नहीं है, कारण यह है कि यही कर्मक्षेत्र है इसी में मुक्ति का लाभ होता है।

सारा विश्व ब्रह्म में था, उसी से मानों व्यक्त हुआ और चला जा रहा है, और जैसे बिजली अपने वैद्युत केंद्र से निकल कर, चक्कर लगा कर उसी में लौट जाती है वैसेही यह अंत को घूम फिर कर ब्रह्म ही में जाता है। यही दशा जीवात्मा की भी है। वह ब्रह्म से व्यक्त होता है और जंगम स्थावर योनियों में भ्रमण करता हुआ मनुष्ययोनि में आता है। मनुष्ययोनि ही ब्रह्म को प्राप्त करने का मार्ग है, यह उसके संनिकृष्ट है। जिस ब्रह्म से हम व्यक्त हुए हैं, उस ब्रह्म को प्राप्त करना ही सारा प्रयास है, चाहे लोग जानें या न जानें इसकी चिंता नहीं। इस विश्व में जो कुछ गति और प्रयत्न, क्या जड़, क्या चेतन, क्या जंगम, क्या स्थावर में जहाँ कहीं देखाई पड़ते हैं सब उसी में जाकर शांति लाभ करने के लिये हो रहे हैं। एक शांतावस्था थी, उसमें भंग पड़ गया, सब अंग, सब अणु परमाणु, अपनी उसी खोई हुई शांतावस्था को पाने के लिये छटपटा रहे हैं। इस प्रयास में सबका परस्पर संगम होता है, पुनः संगठन होता है तथा इसीसे प्रकृति के

अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक कृत्य हो रहे हैं। सारे प्रयास और हमाहमी जो जंगम स्थावर में देखाई पड़ती है, सारे सामाजिक झगड़े लड़ाइयाँ, सब कुछ उसी शांति के लाभ के लिये अनादि अनंत छटपटाना ही है।

इस जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म की ओर आने का, इस यात्रापरंपरा का नाम संस्कृत में संसार है। सारी सृष्टि इसी चक्कर में पड़ी है, और सब इस चक्र को पार करके मुक्ति की शांति का लाभ कभी न कभी करेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि सबका मोक्ष हो जायगा तो हम उसे पाने के लिये प्रयास क्यों करें ? यदि सब लोग छुटकारा पा जाँयगे तो हम हाथ पर हाथ धरे बैठे चुपचाप बाट देखेंगे। इसमें तो संदेह ही नहीं कि सब कभी न कभी मुक्त होंगे; कोई छूटेगा तो है ही नहीं। किसी का नाश तो होगा नहीं सब फिर ठीक बन आयँगे। यदि यह ठीक है तो इस हमारे प्रयास की आवश्यकता क्या है? पहली बात तो यह है कि यह सब प्रयास उसी केंद्र तक पहुँचने के लिये एकही उपाय हैं; दूसरी बात यह है कि हमें यह मालूम नहीं कि हम प्रयास क्यों करते हैं ? पर हमें प्रयास करना ही पड़ता है। सहस्रों मनुष्यों में किसी किसी को इसका ज्ञान हो गया है कि वे मुक्त होंगे। बहुसंख्यक लोगों को भौतिक पदार्थ ही सब कुछ हैं पर कुछ ऐसे लोग भी हैं जो जागते हैं और यह चाहते हैं कि अब बहुत खेल खेल चुके, अब तो घर लौटें। वे लोग जान बूझ कर प्रयास

करते हैं पर औरों का प्रयास तो अनजाने ही होता रहता है ।

वेदांत का यही 'अथ' और 'इति श्री' है कि संसार को त्यागो, अर्थात् असत् को छोड़ो और सत् का ग्रहण करो । जो संसार में सुग्ध हैं वे कहेंगे कि यह तो बतलाइए कि हम संसार को छोड़ कर ब्रह्म की ओर क्यों जायँ ? माना कि हम ब्रह्म ही से आए हैं पर हमें तो यह संसार भला और आनंद-प्रद जान पड़ता है। भला ऐसी दशा में हम इसका प्रयत्न क्यों न करें कि हम यहाँ और अधिक काल तक बने रहें और अधिक सुख उठावें ? फिर हम संसार से निकलने का प्रयत्न क्यों करें ? वे यह भी कहते हैं कि देखिए संसार में नित्य नई नई उन्नति हो रही है; नई सुख की सामग्रियाँ बनती जा रही हैं ।यहाँ बड़ा आनंद है; हम यहाँ से क्यों जायँ और ऐसे स्थान के लिये प्रयास क्यों करें जहाँ ये सब सामग्रियाँ नहीं हैं ? उत्तर यह है कि संसार में मरना ध्रुव है, इसका वियोग अवश्य होगा और बार बार हमको वेही भोग भोगने पड़ते हैं। जिन रूपों को हम आज देख रहे हैं वे बार बार बनते बिगड़ते रहते हैं । यह संसार भी तो अनेक बार ऐसा ही बन चुका है। मैं यहाँ सैकड़ों बार इसी प्रकार आप लोगों से बातचीत कर चुका हूँ। आपको जान पड़ेगा कि यह बिलकुल ठीक है। यही बात जो आज आप सुन रहे हैं आप अनेक बार सुन चुके हैं और अनेक बार ऐसा ही होता रहेगा । आत्मा अनेक नहीं हैं, शरीर अवश्य

बार बार बनते बिगड़ते रहते हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसा क्रमशः होता रहता है। मान लीजिए कि हमारे पास तीन चार पासे हैं उन्हें हम डालते हैं; पांच, चार, तीन और दो के दाँव हैं, आप पासे फेंकते जाइए, वही दाँव कभी न कभी अवश्य पड़ेगा। आप फेंकें, पर चाहो जितनी बार का अंतर क्यों न हो, वेही दाँव बार बार पड़ेंगे। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कितने चोट पीछे वही दाँव पड़ेगा, यह तो दैवाधीन है पर वह कभी न कभी पड़ेगा अवश्य। यही दशा आत्मा और उसके संग की है। काल का अंतर कुछ ही क्यों न हो पर वही संयोग बारंबार होता रहेगा। वही जन्म लेना, वही खाना पीना, वही मरना, बार बार होते रहते हैं। कुछ लोगों की समझ में संसार से बढ़कर कहीं सुख ही नहीं है पर कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो और ऊपर जाते हैं, उन्हें संसार का सुख पर्य्याप्त नहीं जान पड़ता और राह चलना समझ पड़ता है।

प्रत्येक योनि, कीट पतंग से लेकर मनुष्ययोनि तक, मानों शिकागो के चक्कर की एक एक कोठरी है जो सदा चलती फिरती रहती है, केवल चढ़नेवाले बदला करते हैं। एक आदमी चढ़ा, चक्कर पर चला और फिर आकर उतरा, पर चक्कर चला ही जाता है। एक जीव एक शरीर धारण करता है, कुछ दिन उसमें रह कर फिर उसे छोड़ दूसरे में चलता बनता है, इसी प्रकार आना जाना लगा रहता है। इसी प्रकार आते जाते

जीव चक्कर लगाता रहता और अंत को संसार चक्र से अलग होकर मुक्त हो जाता है।

संसार में मनुष्य के भूत भविष्य के ज्ञान की उत्कंठा सदा से सब जगह रही है। इसका समझौता यही है कि आत्मा वा जीवात्मा जब तक परिणाम की धारा में बहता रहता है, यद्यपि वह मुक्तस्वभाव है और वह स्वभाव बना रहता है, तो भी तब तक वह प्रयत्न करता रहता है। परिणाम धारा से निकलने के लिये वह मनुष्य रूप धारण कर मुक्त होने का प्रयत्न करता है पर उसकी क्रिया पर परिणाम नियम का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः चतुर और कुशाग्रबुद्धि पुरुष के लिये यह बहुत संभव है कि कार्य्य कारण के तत्त्व को समझ कर किसी भूत और भविष्य को जान ले।

जब तक मनुष्य में इच्छा बनी है मुक्ति मिलना कठिन है। मुक्त आत्मा में इच्छा कहाँ ? ईश्वर को कुछ इच्छा नहीं है। यदि उसमें इच्छा हो तो वह ईश्वर कैसा? वह तो संसारी ठहरा। अतः ये सब बातें कि ईश्वर यह चाहता है, वह चाहता है इसपर क्रोध किया, उसपर प्रसन्न हुआ, बच्चों की सी बातें हैं, इनका कुछ अर्थ ही नहीं। अतः सब उपदेशकों ने यही कहा है कि किसी पदार्थ की इच्छा न करो, सब आकांक्षा त्यागो और संतुष्ट रहो।

बच्चा बिना दाँत घुटनों के बल आता है और बुड्ढा बिना दाँत घुटनों के बल जाता है। दोनों बातें एक सी हैं पर एक को अनुभव प्राप्त करना है, दूसरा अनुभव प्राप्त कर चुका है।

जब ईथर की लहरें बहुत धीमी होती हैं हमें प्रकाश नहीं देख पड़ता, अंधकार रहता है, पर जब लहरें बहुत वेग से उठती हैं तब भी अंधकार रहता है। दोनों अंत बराबर से हैं, उनमें सुमेरु और कुमेरु का अंतर क्यों न हो। जैसे दीवाल में इच्छा नहीं वैसे ही मुक्त पुरुष में इच्छा नहीं। कितने ही मुग्ध हैं जिन्हें कुछ इच्छा नहीं; कारण यह है कि उनका मस्तिष्क ठीक नहीं है। ऐसे ही सबसे उत्कृष्ट अवस्था वह है जिसमें हमें इच्छा न हो। बात एक ही है पर दोनों एक ही सत्ता के भिन्न भिन्न अंत हैं। एक पशुता के सन्निकट है, दूसरा ब्रह्म के सन्निकट।

---

(१६) दृश्य और वास्तव ब्रह्म।

हम यहाँ खड़े हैं और हमारी आँख कभी कभी मीलों तक पहुँचती है। जबसे मनुष्य सोचने लगा है तभी से वह ऐसा करता आ रहा है। वह आगे हो देखता है, उसकी दृष्टि सामने ही पड़ती है। वह यह जानना चाहता है कि मैं जा कहाँ रहा हूँ, जीते जागते ही नहीं, इस शरीर के न रहने पर भी। इसके ऊपर नाना प्रकार के विचार उत्पन्न हुए, इसके समाधान के लिये दर्शन के दर्शन बने। उनमें कितनों को तो लोगों ने माना और कितनों को नहीं माना। यह बात तब तक होती जायगी जब तक मनुष्य की स्थिति इस संसार में है और जब तक उसमें चिंतन शक्ति है। इन सब दर्शनों में कुछ न कुछ तथ्य अवश्य है पर उनमें

बहुत कुछ मिथ्या भी है। मैं आपके सामने उन विचारों का सारांश और निचोड़ रखने का प्रयत्न करूँगा जो इस विषय में भारतवर्ष में हुए हैं। मैं इन सब विचारों को जो भारतवर्ष में समय समय पर होते आए हैं मिलाने का प्रयत्न करूँगा। मैं इसका भी प्रयास करूँगा कि मैं उन्हें आधुनिक मनोविज्ञान और अध्यात्मवादियों के विचार से मिलाऊँ और यह भी उद्योग करूँगा कि आधुनिक वैज्ञानिकों के विचारों से उनकी समता स्थापित करूँ।

वेदांत का प्रधान उद्देश है एकता की जिज्ञासा करना। हिंदू लोग विशेष की चिंता नहीं करते, वे सामान्य को देखते हैं, उनकी दृष्टि विश्वव्यापी बातों पर पड़ती है। "वह क्या है जिस एक को जानने से यह सब जाना जाय?" "जैसे मिट्टी के एक ढेले के जानने से सब मिट्टी का विषय जाना जाता है वैसे वह क्या है जिसे जानने से विश्व का सब विषय जाना जाय ?" यही उनकी जिज्ञासा का विषय था। हिंदू दार्शनिकों के मत में यह विश्व एक तत्त्व में, जिसका नाम आकाश है, संनिहित था। सारा संसार, जिसका बोध हमें स्पर्शादि द्वारा होता है, इसी आकाश का विकारमात्र है, वह व्यापक है, सूक्ष्म है; घन, तरल, वाष्प, रूप, आकार, पिंड, पृथ्वी, सूर्य्य, चंद्र और तारा सब इसी आकाश से निर्मित हैं।

वह शक्ति कौन सी है जिसके प्रभाव से आकाश से इस विश्व का प्रादुर्भाव होता है ? इस आकाश के साथ ही एक

विश्वव्यापिनी शक्ति भी है—संसार में जो कुछ शक्ति दीखती है, प्रभाव हो, आकर्षण हो, कुछ हो, यहाँ तक कि विचार भी, सब उसी विश्वव्यापिनी शक्ति की भिन्न भिन्न अभिव्यक्ति मात्र हैं जिसे प्राण कहते हैं, इसी प्राण के प्रभाव से आकाश से सारे विश्व का प्रादुर्भाव होता है। कल्पादि में यही प्राण मानों आकाश के समुद्र में पड़ा हुआ सोता रहता है। आरंभ में इसमें गति का अभाव रहता है। तब आकाश में इसी प्राण से कंप उत्पन्न होता है। आकाश में क्षोभ या गति उत्पन्न होती है, और फिर आकाश से अनेक ब्रह्मांडों की सृष्टि होती है, सूर्य, चंद्र, तारे, पृथ्वी, मनुष्य, जंगम, स्थावर नाना भाँति की शक्तियों और व्यक्तियों की उत्पत्ति सब इसी आकाश और प्राण के विकारमात्र हैं। हिंदुओं का मत है कि शक्ति की सारी अभिव्यक्तियाँ प्राण के विकार हैं और भौतिक अभिव्यक्तियाँ आकाश के विकार हैं। सारे भौतिक घन पदार्थ कल्पांत में पहले द्रव, फिर वाष्प, फिर और सूक्ष्म ताप कंप रूप में होते होते आकाश में लय को प्राप्त हो जायँगे और उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गति आदि शक्तियाँ प्राण में लय हो जायँगी। फिर प्राण एक समय तक प्रसुप्त दशा में शयन करता है और दूसरे कल्प के आदि में वह पुनः अपने कंप द्वारा सबका प्रादुर्भाव करता है तथा कल्पांत में सब पुनः उसी प्रकार लय को प्राप्त हुआ करते हैं। इस प्रकार सृष्टि और संहार बार बार होता रहेगा। आकुंचन और प्रसारण की क्रिया से उत्पत्ति और विनाश का प्रवाह चला

जायगा; इसीका नाम आधुनिक विज्ञान की भाषा में एक बार गति दशा में और पुनः स्थिति दशा में प्राप्त होना है। इसको प्राण का एक समय अक्रिय और दूसरे समय सक्रिय होना भी कहा करते हैं। यह परिवर्तन अनादि काल से होता आ रहा है और अनंत काल तक होता रहेगा।

पर यह एकदेशी विवेचन है। आधुनिक भौतिक विज्ञानों ने यहीं तक जान पाया है। इसके आगे विज्ञान की पहुँच नहीं है। पर इतने मात्र से जिज्ञासा पूरी नहीं होती। हमें अभी तक वह नहीं मिला जिसके जानने से सबका ज्ञान हो जाय। हमने सारे विश्व को दो घटकों में समाविष्ट कर लिया जिन्हें द्रव्य और शक्ति कहते हैं, जिन्हें प्राचीन दार्शनिकों ने आकाश और प्राण कहा था। अब दूसरा काम यह रह गया है कि इन दोनों, प्राण और आकाश, को अपनी प्रकृति में लय करना। दोनों एक और सूक्ष्म पदार्थ में लय हो सकते हैं जिसका नाम मन या महत्तत्त्व है। इसी महत्तत्त्व से ये दोनों उत्पन्न होते हैं। यह आकाश और प्राण दोनों से भी अधिक सूक्ष्म है। यही महत्तत्त्व आरंभ में रहता है और इसीसे आकाश और प्राण दोनों का विकास होता है और उन्हीं दोनों का संघात यह सृष्टि है।

अब मनोविज्ञान की दृष्टि से देखिए। मैं आपकी ओर देखता हूँ। बाहर के विषयों की वेदना मेरी आँख में पहुँचती है। ज्ञाननाड़ियाँ उसे मस्तिष्क में ले जाती हैं। आँख चक्षु इंद्रिय नहीं है, वह तो गोलकमात्र है, कारण यह है कि चक्षु

इंद्रिय इसके भीतर है, वही वेदना को मस्तिष्क में पहुँचाती है, यदि वह नष्ट हो जाय तो बीस आँखें होते हुए भी मैं नहीं देख सकता। संभव है कि आपकी आँख की पुतली में यथार्थ प्रतिबिंब पड़े पर फिर भी आपको सुझाई न दे। अतः जान पड़ता है कि इंद्रिय गोलक से भिन्न है, वह इंद्रिय अवश्य गोलक से परे है। यही दशा अन्य वेदनाओं की जान लीजिए। नाक इंद्रिय नहीं है, वह भी गोलकमात्र है, घ्राणेंद्रिय इसके भीतर, इससे परे है। शरीर की सारी इंद्रियों में बाहर तो इंद्रियगोलक और उनके परे इंद्रियाँ हैं। पर इतने से काम नहीं चलता। मान लीजिए कि मैं आपसे बातें कर रहा हूँ, आप मेरी बातें ध्यान से सुन रहे हैं। घंटी बजी, आपने संभवतः उसे सुना नहीं। उसके शब्द का प्रस्फुरण आपके कानों में गया, पर्दे पर लगा, संस्कार मस्तिष्क में पहुँचा, सारी बातें हो गईं, पर आपने सुना नहीं; यह क्यों ? किसी बात की कमी रह गई। हाँ, मन कान की ओर नहीं था। मन जब इंद्रिय की ओर नहीं रहता तो इंद्रियाँ बाह्य विषयों को उसके पास भले ही लावें पर वह उनको ग्रहण नहीं करता। जब मन इंद्रियोन्मुख रहता है उसी समय मन को विषय का ज्ञान होने की संभावना होती है। पर इतने से भी काम पूरा नहीं पड़ता। संभव है कि इंद्रियगोलकों से विषय को इंद्रियाँ भीतर ले जायें, मन भी इंद्रियोन्मुख हो, पर फिर भी ज्ञान न हो। अब क्या रह गया ? यही कि मन में वेदना का होना। इसी वेदना के साथ ज्ञान

होता है। बाहर के गोलक से विषय का प्रवाह मस्तिष्क में जाता है। मन उसे ग्रहण करके बुद्धि को दे देता है, वह उसे पूर्व के संचित संस्कारों के अनुसार वर्गीकरण करती है और उनके स्थान पर वेदना का प्रवाह पलटाती है, तब कहीं ज्ञान होता है। तभी संकल्प वा इच्छा उत्पन्न होती है। मन की वह अवस्था, जिसमें वेदना उत्पन्न होती है, बुद्धि कहलाती है। पर यह भी पर्य्याप्त नहीं है, एक बात और रह गई है। मान लीजिए कि फोटो का एक केमरा है और उसमें चित्रपट लगा है, उस पर हमें चित्र वा प्रतिकृति लेनी है। इसमें हमें करना क्या है? हमें यह चाहिए कि जिससे बाहर के प्रकाश की किरणें केमरे में जाकर उस चित्रपट पर पड़ें। इसके लिये यह चाहिए कि हम ऐसी वस्तु पर प्रतिकृति लें जो हिले डुले नहीं, प्रतिकृति ऐसी वस्तु पर नहीं पड़ेगी जो हिलती डोलती हो; उसका स्थिर होना आवश्यक है, कारण यह है कि यदि वह हिले डुलेगी तो उस पर किरणें पड़ें होंगी नहीं; और प्रकाश की इन चंचल किरणों का उस पर एकत्र होना आवश्यक है। यही दशा कुल उन वेदनाओं की है जिन्हें हमारी इंद्रियाँ मन के पास ले जाती हैं और मन बुद्धि को दे देता है। क्रिया की तब तक पूर्णता नहीं होती जब तक कि उन वेदनाओं के पीछे कोई ऐसा स्थायी पदार्थ जिस पर संस्कार चित्र की भाँति जमकर अंकित हो सकें, न हो। वह कौन सा पदार्थ है जो हमारी क्षणिक सत्ता में एकता उत्पन्न करता है? वह कौन वस्तु है जिस पर

हमारे सारे संस्कार अंकित होते हैं, जहाँ वेदनाएँ पहुँच कर एकत्रित होती और रहती हैं और मिल कर एकीभूत हो जाती हैं ? हमें यह भी जान पड़ता है कि इस काम के लिये अवश्य कुछ वस्तु है और वह शरीर और मन की अपेक्षा निश्चल है। चित्रपट जिस पर केमरे में प्रतिकृति पड़ती है प्रकाश की किरणों की अपेक्षा निश्चल होता है, अन्यथा प्रतिबिंब अंकित हो ही नहीं सकता। सारांश यह कि द्रष्टा कोई अवश्य होना चाहिए। यह पदार्थ, जिस पर मन सबके चित्र अंकित करता है, जिसके पास मन और बुद्धि वेदनाओं को ले जाते हैं और जहाँ वे सब एकत्रित होती, वर्गीकृत होती और एकता को प्राप्त होती हैं, जीवात्मा है।

हम यह दिखला चुके हैं कि महत्तत्त्व से या जिसे विश्व का मनस्तत्त्व कहते हैं, आकाश और प्राण दो भाग हो जाते हैं और हमारे मन से परे हमारी जीवात्मा है। विश्व में भी इस महत्तत्त्व के परे विश्व की आत्मा है जिसका नाम ईश्वर है। प्राणियों में वही जीवरूप है। जैसे महत्तत्त्व से आकाश और प्राण निकलते हैं वैसे ही विश्वात्मा से मन का प्रादुर्भाव होता है। पर क्या सचमुच प्राणियों में वैसा ही है ? क्या प्राणी का मन शरीर की और उसका जीव मन की सृष्टि करता है ? अर्थात् क्या शरीर, मन और जीव तीनों भिन्न भिन्न सत्ताएँ हैं ? अथवा तीनों एक ही हैं ? या वे एक ही सत्ता की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ हैं ? हम अभी इन प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा करेंगे। अभी हम यहीं तक पहुँचे हैं कि पहले यह स्थूल शरीर

है, इस स्थूल शरीर के परे इंद्रियाँ हैं, फिर मन, फिर बुद्धि और अंत को सबसे परे जीवात्मा है। इससे हमें यह तो जान पड़ा है कि जीवात्मा शरीर से और मन से पृथक् है। धार्मिक संसार में लोगों का इस विषय में मत-भेद है और वह भेद यह है कि जो लोग द्वैतवादी कहलाते हैं उनका मत है कि जीवात्मा सगुण है, इसमें अनेक गुण हैं, सुख दुःख सब कुछ इसी जीवात्मा को भुगतना पड़ता है, यही सबका भोक्ता है। अद्वैतवादी कहते हैं कि ऐसा नहीं है, जीवात्मा निर्गुण है।

सबसे पहले हम द्वैतवाद को लेते हैं और जीव और उसके परिणाम के संबंध में उसके विचार का पक्ष आपके सामने रखते हैं। फिर उस पक्ष को लेंगे जो द्वैतवाद का खंडन करनेवाला है और अंत को हम यह दिखलावेंगे कि अद्वैतवाद उनका समीकरण कैसे करता है। मनुष्य का जीव, शरीर और मन से पृथक् है, वह आकाश और प्राण से नहीं बना है, अत: वह अविनाशी है। क्यों? नाश कहते हैं किसे? विकार को। विकार ऐसे ही पदार्थों में होता है जो कई वस्तुओं से मिलकर बनते हैं; जो दो वा तीन घटकों के संयोग से बनता है वही विकार को प्राप्त होता है; जो असंग है, जो घटकों के संयोग से बना नहीं, उसमें विकार कैसा? उसका नाश कहाँ? वह अविनाशी है। वह अनादि काल से है, अनंत काल तक बना रहेगा। वह अजन्मा है। सृष्टि का नाम ही संयोग है; आज तक किसी ने असत् से सत् होते वा कुछ उत्पन्न होते देखा नहीं है। जहाँ

तक हम जानते हैं पहले से उपस्थित पदार्थों को मिलाकर एक नई चीज़ बना देने को ही सृष्टि वा उत्पन्न करना कहते हैं। यदि ऐसा है तो मनुष्य का जीव जो केवल वा असंग है अनादि काल से है तथा अनंत काल तक रहेगा। इस शरीर के पात होने पर जीव रह जाता है। वेदांतियों के अनुसार जब शरीर का नाश होता है तब मनुष्य की सारी शक्तियाँ सिमिट कर मन में चली जाती हैं और मन मानों प्राण में लय हो जाता है, प्राण मनुष्य के जीव में और जीव सूक्ष्म शरीर से लिपटा हुआ स्थूल शरीर से बाहर निकल जाता है—इसी सूक्ष्म शरीर को लोग लिंग-शरीर और मानसिक वा आध्यात्मिक शरीर आदि कहते हैं। इसी लिंगशरीर में मनुष्य के संस्कार रहते हैं। पर संस्कार कहते हैं किसे? मन एक झील है और प्रत्येक विचार इसी झील की एक लहर के समान है। जैसे झील में लहर उठती और विलीन होती रहती है वैसे ही इस मन की झील में भी विचार की लहरें उठती और विलीन होती रहती हैं। पर वे विचार सदा के लिये नष्ट नहीं हो जाते, वे सूक्ष्म से सूक्ष्म होते जाते हैं और पुनः दूसरे समय जब उठाए जायँ उठने योग्य बने रहते हैं। उन्हीं पूर्व विचारों को जो सूक्ष्मरूप से बने रहते हैं पुनरुद्भावित करने को स्मरण करना कहते हैं। यों हमारे सारे मानसिक और कायिक कर्मों के जिन्हें हम पहले कर चुके हैं, संस्कार हमारे मन में बने रहते हैं, ये संस्कार सदा सूक्ष्म रूप से मन में बने रहते हैं। जब मनुष्य मर जाता है तब इन संस्कारों की समष्टि मन में

रहती है और मन किसी सूक्ष्म तत्त्व पर भाव डालता रहता है। जीवात्मा इन्हीं सूक्ष्म संस्कारों और अपने लिंगशरीर के साथ स्थूल शरीर से बाहर निकल जाता है और भिन्न भिन्न संस्कारों के प्रभाव के अनुसार उसके भविष्य का परिणाम होता है। इस मत के अनुसार जीव की तीन गति होती हैं।

जो लोग उत्तम होते हैं वे मरने पर सूर्य्य की किरणों को प्राप्त होते हैं। फिर सूर्य्यलोक में आते हैं, सूर्य्यलोक से होकर चंद्रलोक को प्राप्त होते हैं, चंद्रलोक से विद्युतलोक को जाते हैं। वहाँ उन्हें और पुण्य आत्माएँ मिलती हैं जो उन्हें और भी श्रेष्ठलोक में जिसे ब्रह्मलोक कहते हैं ले जाती हैं। वहाँ उनको ईश्वर के सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता आदि गुण प्राप्त होते हैं और वे लगभग ईश्वर के समान ही सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो जाते हैं। द्वैतवादियों के मत के अनुसार वे वहाँ बने रहते हैं और अद्वैतवादियों के मत में कल्पांत में ब्रह्म में लय को प्राप्त हो जाते हैं। दूसरे प्रकार के प्राणी मध्यम कोटि के होते हैं। ऐसे लोग जो किसी फल के उद्देश से शुभ कर्मों को करते हैं वे अपने पुण्य फल से मरने पर चंद्रलोक में जाते हैं। उस लोक में विविध स्वर्ग लोक हैं, उन्हीं लोकों में वे शरीर ग्रहण करते हैं और देवयोनि में जन्म लेते हैं। वे देवता के रूप में बहुत काल तक स्वर्ग के सुख भोगते हैं और भोगकाल के अनंतर अपने पुण्य कर्म के क्षय होने पर शेष संचित कर्म के अनुसार इस पृथ्वी पर फिर पतित होते हैं, वे मेघ और

वायु से होकर वृष्टि-बिंदुओं के द्वारा पृथ्वी पर आते हैं और यहाँ अन्न होकर ऐसे लोगों के शरीर में प्रवेश करते हैं जिनमें उनके लिये नया शरीर उत्पन्न करने की सामग्री होती है। अब अधम कोटि के प्राणी रहे। ऐसे पापी मरने पर असुर या राक्षस योनि को प्राप्त होते हैं और चंद्रलोक और पृथ्वी के मध्य अंतरिक्ष लोक में रहते हैं। कितने तो उनमें मनुष्यों को दुःख देते हैं और कितने उन पर अनुग्रह करते हैं और वहाँ कुछ काल तक पापफल भोग कर पृथ्वी पर पतित होते हैं और पशुयोनि को प्राप्त होते हैं। पशुयोनि से होकर वे पुनः मनुष्ययोनि में आते हैं और उन्हें फिर मोक्ष की प्राप्ति का अवसर मिलता है। यों हम देखते हैं कि जो लोग लगभग विशुद्ध हो जाते हैं, जिनमें मल का लेशमात्र रह जाता है, वे ब्रह्मलोक को सूर्य्यकिरणों द्वारा प्राप्त होते हैं और जो लोग मध्यम कोटि के होते हैं, जो स्वर्गप्राप्ति के लिये पुण्य कर्म करते हैं, वे चंद्रलोक में होकर स्वर्ग को प्राप्त होते हैं और वहाँ देवयोनि धारण करते हैं। उन्हें पुनः मनुष्य का शरीर ग्रहण करने और विशुद्धि लाभ करने का अवसर मिलता है। जो लोग अधर्मी हैं वे असुर राक्षस शरीर को प्राप्त होते हैं और फिर पशुयोनि में आते हैं। फिर उन्हें मनुष्य का जन्म ग्रहण कर शुद्धता प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इस पृथ्वी का नाम कर्मभूमि है। मनुष्य शुभाशुभ कर्म यहीं कर सकता है। जब मनुष्य स्वर्ग की कामना करता है और उस इच्छा से शुभ कर्म

करता है तब वह देवयोनि को प्राप्त होता है और उस दशा में पहुँच कर कुकर्म संचय नहीं करता; वहाँ अपने कृत पुण्य-कर्मों का फल भोगता है और पुण्य के क्षय होने पर उसके संचित पाप कर्मों का उदय होता है और उनके प्रभाव से वह फिर इसी पृथ्वी पर आता है। इसी प्रकार वे लोग भी जो आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं बिना नवीन कर्म किए अपने पूर्वकृत पापों का फल भोगते हैं और वहाँ से आकर पशुयोनि में भी नया कर्म किए बिना अपने अशुभ कर्मों का फल भोगते हैं। पशुयोनि के अनंतर उन्हें पुन: मनुष्य का शरीर मिलता है। पाप और पुण्य के फल भोग की दशा में कोई नवीन कर्म नहीं होते हैं; वहाँ केवल सुख दु:ख मात्र मिलता है। यदि कोई तीव्र शुभ वा अशुभ कर्म होता है तो उसका फल चट मिलता है। मान लीजिए कोई मनुष्य आजन्म बुरे कर्म करता रहा और उसने केवल एक शुभ कर्म किया तो उसे उस शुभ कर्म का भोग पहले मिलेगा पर उसके अनंतर उसे अपने सारे पापों का फल भोगना पड़ेगा। जो लोग अच्छे और बड़े काम करते हैं पर जिनके जीवन का ढंग अच्छा नहीं रहा है वे उन कर्मों के प्रभाव से देवयोनि को प्राप्त होते हैं और वहाँ देवलोक के सुख भोग कर मनुष्ययोनि में आते हैं। जब शुभ कर्मों वा पुण्यों का क्षय हो जाता है तब पापों का उदय होता है और उनका भोग भोगना पड़ता है। जो लोग तीव्र पापों को करते हैं वे असुरयोनि को प्राप्त होते हैं और जब पाप कर्मों का भोग हो जाता है तब वे थोड़े

बहुत संचित पुण्य कर्मों के उदय से पुनः मनुष्ययोनि को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मलोक के मार्ग को जहाँ से पतन या पुनरागमन नहीं होता देवयान कहते हैं और स्वर्गलोक के मार्ग का नाम पितृयान है।

वेदांत के अनुसार मनुष्ययोनि इस विश्व में उत्तम योनि है और इस विश्व में यह कर्मलोक सबसे श्रेष्ठ लोक है क्योंकि यहाँ ही प्राणियों को मोक्ष प्राप्त करने का शुभ अवसर मिलता है। देवताओं तक को मोक्ष के लिये यहाँ ही मनुष्ययोनि धारण करनी होती है। यह मनुष्ययोनि बड़ी ही श्रेष्ठ है, यहीं शुभ अवसर प्राप्त होता है, सब इसी की कामना करते हैं, इसके तुल्य और नहीं है।

अब हम दर्शन के दूसरे पक्षों की ओर आते हैं। बौद्ध लोग उस जीवात्मा की सत्ता ही नहीं मानते जिसे अभी हम प्रतिपादित कर चुके हैं। बौद्धों का कहना है कि शरीर और मन से परे किसी और आधार को मानने की आवश्यकता क्या है? हम चित्त वा मन ही को नित्य क्यों न मानें? इसके अनंतर तीसरे पदार्थ जीव के मानने की आवश्यकता कौन सी है? क्या शरीर और मन से हमारा काम नहीं निकल जाता?। हम तीसरे को मानें तो क्यों मानें? यह बात तो पक्की है। यह तर्क तो बड़ा ही प्रबल है। जहाँ तक कि बाह्यदृष्टि से देखा जाता है शरीर और मन से हमारा काम तो चल जाता है; हममें बहुतों का ऐसा ही विचार भी है। फिर जीव के मानने की आवश्यकता ही क्या है? हम क्यों शरीर

और मन के परे इनसे अतिरिक्त एक तीसरे पदार्थ जीव को मानें ? शरीर और मन बस यही दो मानो। निरंतर परिणामी द्रव्य को शरीर कह लीजिए और निरंतर परिवर्तन-शील ज्ञानप्रवाह का नाम मन वा चित्त रख लीजिए। पर यह तो बतलाइए कि उन दोनों में एकता किससे होगी ? साम्यभाव कहाँ से आवेगा ? अच्छा हम यह कहते हैं कि यह एकता तो कुछ है ही नहीं। यह अलातचक्रवत् भासती है। एक बनेठी लीजिए और उसे दोनों ओर जला कर घुमाइए आपको अलात चक्र वा अग्नि का वृत्त देख पड़ेगा। वह चक्र वास्तव में है नहीं, उसकी सत्ता ही नहीं है, जलती हुई बनेठी के लगातार घूमने से वह चक्रवत् दिखाई पड़ती है, पर है वह मिथ्या। इसी प्रकार यह जीवन भी असद् है, मिथ्या है, यह द्रव्यों की गति का कारण है जो तुम्हें सद्भासमान हो रहा है और तुम उसे एक सत्ता माने हुए हो, पर वह है कुछ नहीं। इसी प्रकार मन को समझ लीजिए; प्रत्येक विचार दूसरे से अलग अलग है पर गति के कारण हमें उनमें एकता भासित होती है। फिर तीसरे के मानने की आवश्यकता क्या पड़ी है ? येही शरीर और मन जैसे कुछ हैं वेही हैं, इनके परे कुछ कल्पना मत करो। आपको जान पड़ेगा कि बौद्धों के इसी सिद्धांत को आजकल कितने ही लोग अपना निज का सिद्धांत बतलाते हैं अर्थात् कहते हैं कि यह हमारा ही निकाला हुआ है। सारे बौद्धदर्शनों का यही मूल सिद्धांत रहा है कि यही संसारमात्र है; आपको इसका आधार

अर्थात् इसके पीछे क्या है जानने की आवश्यकता नहीं है, जो कुछ है यही लोक है; इसके किसी आधार के चिंतन की क्या आवश्यकता है? सब सत्ता गुणों का समुदायमात्र है; उनके आश्रय-भूत किसी द्रव्य की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? गुणों के तीव्र आवर्त के कारण वे द्रव्य से भासमान होते हैं, द्रव्य कोई नियत पदार्थ नहीं है। देखने में ये बातें बड़ी युक्तियुक्त प्रतीत होती हैं और साधारण मनुष्यों पर उनका प्रभाव भी पड़ता है; बात तो यह है कि करोड़ों में किसी एक ही की दृष्टि दृश्य से बाहर वा आगे जाती है। मनुष्यों में बहुतेरे तो परिवर्तमान, श्रोत प्रोत, परिणामों के संघात मात्र को देखते हैं। हममें बहुत कम लोगों की दृष्टि उस प्रशांत सागर तक पहुँचती है जो उनकी आड़ में है। हमारे लिये तो यह लहरों से पूर्ण है; यह संसार तो हमें चकराती हुई लहरें ही लहरें जान पड़ता है। अब इस विषय पर दो मत हुए—एक तो यह कि मन और शरीर के परे कोई अविनाशी और ध्रुव पदार्थ है; दूसरा यह कि कोई पदार्थ अचल है ही नहीं, संसार में अविनाशता है ही नहीं, जो है सब क्षणिक, सब अपायी, केवल क्षणिक, क्षणभंगुर। इन दोनों मतभेदों का समाधान तीसरे में मिलता है जिसे अद्वैतवाद कहते हैं।

उसका कथन है कि द्वैतवादियों का यह विचार ठीक है कि सबके परे एक नियत स्थायी सत्ता है; यह इस अंश में ठीक है कि बिना किसी अविनाशी ध्रुव पदार्थ के हमें परिणाम कुछ बोधही नहीं हो सकता। हमें किसी परिवर्तनशील

पदार्थ का ज्ञान किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा ही से होता है जो उससे कम परिवर्तनशील हो, और वह उसकी अपेक्षा, जो उससे कम परिवर्तनशील है परिवर्तनशील जान पड़ता है इसी प्रकार सापेक्षता चली जाती है और अंत को किसी अचल और निर्विकार पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है। यह सारी अभिव्यक्ति जो जान पड़ती है अवश्य पहले अनभिव्यक्त अवस्था में, जो अचल और शांत है, रही होगी जहाँ सारी विरुद्ध शक्तियाँ साम्यभाव को प्राप्त अर्थात् अक्रिया दशा में रहती हैं। कारण यह है कि शक्तियाँ अपना प्रभाव तभी डाल सकती हैं जब समावस्था में कुछ हलचल हो। यह विश्व उसी साम्यावस्था को फिर प्राप्त होने के लिये शीघ्रता कर रहा है। यदि हमें किसी घटना की प्रतीत हो सकती है तो वह इसी की है कि विश्व उसी साम्यावस्था को पाने के लिये छटपटा रहा है। द्वैतवादी का यह कहना कि एक निर्विकार पदार्थ है बिलकुल ठीक है पर उसकी यह बात कि वह उसका आधारभूत है जिसे मन और शरीर कहते हैं और उन दोनों से पृथक् है, ठीक नहीं है। बौद्धों का यह कहना कि सारा विश्व क्षणभंगुर है ठीक है क्योंकि जब तक हम अपने को विश्व से पृथक् जानते हैं, जब तक हम अलग होकर अपने सामने के पदार्थों को देखते हैं और जब तक द्रष्टा और दृश्य का भेद बना है, तब तक सारा विश्व क्षण क्षण में परिणाम को प्राप्त होता हुआ क्षणिक और क्षणभंगुर जान पड़ता है। पर बात सच्ची यह है कि संसार

में विकार और निर्विकार दोनों हैं। मन शरीर और जीव तीन भिन्न भिन्न पदार्थ नहीं हैं क्योंकि वह अंगी जिसके ये तीनों अंग हैं वस्तुतः एक ही है। जो आपको शरीर, मन और मन और शरीर से परे जीव, जान पड़ता है वह सब एक ही है पर सदा एक काल में तीनोंही नहीं है। जिसे शरीर देख पड़ता है उसे मन नहीं दिखाई पड़ता है; जो मन को देखता है उसे शरीर दिखाई नहीं पड़ता है और जो जीवात्मा को देखता है उसे शरीर और मन दोनों नहीं जान पड़ते। जिसे गति ही दिखाई पड़ती है वह अचल ध्रुव को नहीं देखता और जो अचल ध्रुव को देखता है उसे गति दिखाई ही नहीं पड़ती। रज्जुसर्प के दृष्टांत को लीजिए। जिसे रस्सी में साँप दिखाई देता है उसके लिये वह रस्सी नहीं और जिसे भ्रम नहीं, जो रस्सी को रस्सी देखता है उसके लिये वह साँप नहीं।

केवल एक व्यापक सत्तामात्र है और वही नाना रूपों में भासमान है। इस विश्व में आत्मा वा जीव या प्रकृति ही सब कुछ है। इसी आत्मा जीव वा प्रकृति को अद्वैतवादी ब्रह्म कहते हैं और वही ब्रह्म नाम रूप की उपाधि से अनेक होकर भासमान हो रहा है। समुद्र की लहरों को देखिए। कोई लहर समुद्र से पृथक् नहीं है पर लहर अलग क्यों जान पड़ती है ? केवल नाम रूप की उपाधि से—रूप जो हमें देख पड़ता है और नाम-जिससे हम उस रूप को 'लहर' निर्दिष्ट करते हैं। इसी नाम-रूप की उपाधि से वह समुद्र से भिन्न जान पड़ती है।

नाम-रूप की उपाधि गई कि फिर समुद्र का समुद्र। समुद्र और उसकी लहर में भेद कौन कर सकता है? यों ही सारा विश्व एक ही सत्तामात्र है; नाम-रूप की उपाधि से वही सत्ता नाना होकर भासित हो रही है। जिस प्रकार अनेक जलपूर्ण घड़ों में सूर्य्य का प्रतिबिंब अलग अलग दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार उस एक सत्ता विश्वात्मा का प्रतिबिंब भिन्न भिन्न नाम-रूप की उपाधि के जलपूर्ण घड़ों में भासमान हो रहा है और वह अनेक दिखाई पड़ता है। पर है वह एक ही। 'मैं' और 'तू' कहीं नहीं है, सब एक है। या तो 'मैं' ही हूँ या 'तू' ही है। यह द्वैतभाव नितांत मिथ्या है और सारा विश्व जिसका हमें बोध हो रहा है इसी मिथ्यात्व के कारण होता है। जब विवेक का उदय होता है, जब मनुष्य यह जान जाता है कि दो नहीं हैं, एक ही है, वह अपने को विश्वरूप समझने लगता है। "जो प्रति क्षण निरंतर विकार को प्राप्त हो रहा है वह विश्व मैं ही हूँ और मैं ही सारे विकारों से परे निर्गुण शुद्ध सनातन आनंदघन हूँ।"

अतः केवल एकही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव निर्विकार परिणामरहित आत्मा है। न उसमें कभी विकार हो सकता है, न है और न होगा; और संसार में जो कुछ परिवर्तन भासमान होता है वह उसी एक आत्मा में भासित होता है।

उसी पर नाम-रूप की उपाधि ने ये सब स्वप्नवत् चित्र बना दिए हैं; रूप ही के कारण लहरें समुद्र से विलग कही जाती

हैं। लहर के गिरने पर रूप कहाँ रहा? कहीं नहीं, उसका लोप हो गया। लहर की सत्ता समुद्र की सत्ता के अधीन थी, पर समुद्र की सत्ता लहरों की सत्ता पर अवलंबित नहीं थी। रूप तभी तक रहता है जब तक कि लहर रहती है, लहर गई कि रूप का विनाश हुआ, वह रह नहीं सकता। यह नाम-रूप की उपाधि माया से संभूत है। यही माया है जिसके कारण व्यक्तता भासित होती है, एक दूसरे से विलग विलग देख पड़ते हैं। पर इसकी कहीं सत्ता नहीं है। माया कहीं कुछ है ही नहीं। रूप की सत्ता नहीं है क्योंकि इसकी सत्ता किसी दूसरी सत्ता के आश्रित है। सारी भिन्नता इससे ही देख पड़ती है इसलिये यह है ही नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता। अद्वैतवाद के अनुसार इसी माया या अज्ञान के कारण एक अनंत सत्ता अनेक होकर विश्वरूप दिखाई पड़ती है—इसी माया को नाम-रूप की उपाधि कहते हैं और इसी को यूरोप के विद्वान् देश, काल और परिणाम कहते हैं। वस्तुतः विश्व में एकता ही है, नानात्व नहीं है। जब तक यह भेद बना है कि एक नहीं, दो हैं तब तक भ्रम बना रहता है। जब एकता का ज्ञान हो जाता है तब मनुष्य सत्य को जान लेता है। इसी का हमें दिन दिन प्रमाण मिलता जाता है,— चाहे भौतिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से। आज आपको यह प्रमाणित हुआ है कि मैं, तू, सूर्य्य, चंद्र, तारे, सब इस प्रकृति के समुद्र में भिन्न भिन्न देशों के नाम मात्र हैं और प्रकृति सतत अपनी दशा में परिवर्तन करती जा रही है। शक्ति का वह

अंश जो कई महीने पूर्व सूर्य्य में था आज संभव है कि मनुष्य में हो; कल वही पशु में जाय और परसों वनस्पति में और इसी प्रकार सदा एक से दूसरे में स्थान-परिवर्तन करता रहे। प्रकृति एक ही अविच्छिन्न है जो नाम रूप से भिन्नता को प्राप्त हो रही है। एक देश का नाम सूर्य्य, दूसरे का चंद्र, तीसरे का तारा, किसी का मनुष्य, किसी का पशु, किसी का वनस्पति, किसी का कुछ, किसी का कुछ, नाम है। यही विश्व दूसरी दृष्टि से चेतना का एक समुद्र है उसके एक एक बिंदु को भिन्न भिन्न मन कहते हैं। आप भी मन हैं, मैं भी मन हूँ, जितनी व्यक्तियाँ हैं उतने मन हैं; वही विश्व ज्ञान की दृष्टि से, जब भ्रम का आवरण चक्षु से हट जाता है, जब मन निर्मल और शुद्ध हो जाता है, तब विभु, नित्य, शुद्ध, निर्विकार, अविनाशी, ब्रह्मस्वरूप दिखाई पड़ता है।

तो फिर द्वैतवादियों के देवयान, पितृयान और मर्त्यलोक नामक त्रिविधिगति की क्या दशा होगी, जो कहा करते हैं कि मनुष्य मरकर इस लोक में जाता है, उस लोक में जाता है, असुर, पशु, वनस्पति आदि योनियों में जाता है? अद्वैतवादी का कथन है कि न कोई आता है न जाता है। तुम आ जा कैसे सकते हो? आप अनंत हैं, आपके जाने का स्थान कहाँ है? किसी पाठशाला में लड़कों की परीचा हो रही थी। परीचक ने बेचारे छोटे छोटे बच्चों से बहुत से कठिन प्रश्न किए। उन्हीं प्रश्नों में एक प्रश्न यह भी था कि "पृथ्वी गिरती क्यों नहीं?" परीचक चाहता

था कि बच्चे गुरुत्वाकर्षण या विज्ञान के किसी जटिल सिद्धांत को वर्णन करे। पर उनमें से कितनों के तो वह प्रश्न समझ में ही न आया, उन्होंने असंबद्ध उत्तर दिए; पर उन्हींमें एक बड़ी बुद्धिमान लड़की थी, उसने उत्तर में यह प्रश्न किया 'कि पृथ्वी गिरे तो कहाँ गिरे ?' परीक्षक का प्रश्न ही इसके सामने अनर्थक हो गया; विश्व में किसे ऊपर और किसे नीचे कहें ? ऊपर नीचे आदि की बातें सापेक्ष हैं। यही दशा जीव की भी है; इसके संबंध में जन्म और मरण का भाव ही असंगत है। कौन जाता है और कौन आता है ? तुम हो कहाँ नहीं ? वह स्वर्ग कौन है जिसमें तुम नहीं हो ? मनुष्य का जीव सर्वव्यापी है ; वह जाय कहाँ और कहाँ न जाय ? वह तो सब जगह है। अतः यह सब बच्चों की सी स्वप्न की बातें, जन्म और मरण की बालकल्पना, स्वर्ग और देवयान और नरक की गंधर्वनगरी ज्ञान प्राप्त होते ही सब जाती रहती हैं; ऐसे लोगों के लिये जो पूर्ण परिपक्व नहीं होते यह ब्रह्मलोकादि के दृश्य दिखा कर जाती रहती हैं पर अज्ञानियों के लिये सदा बनी रहती हैं।

फिर सब लोग स्वर्ग, नरक, जन्म, मरण आदि को क्या मानते हैं ? मैं एक पुस्तक पढ़ रहा हूँ, पढ़ पढ़ के उसके पन्ने उलटता जाता हूँ; एक पन्ना पढ़ लिया उसे उलट दिया, दूसरा पढ़ लिया उसे लौटा, अब बदला कौन ? कौन आया और कौन गया ? मैं तो ज्यों का त्यों बैठा हूँ, उलटे गए

तो पुस्तक के पन्ने। इसी प्रकार जीव के सामने सारा विश्व वा प्रकृति पुस्तक रूप है, वह अध्याय के अध्याय पढ़ता, पन्ने उलटता जाता है; प्रत्येक बार एक नया दृश्य सामने आता है। एक देख लिया उलट दिया, दूसरा देखा उसे उलटा। नये नये दृश्य सामने आते हैं पर देखनेवाला जीव वही है। प्रकृति परिणाम को प्राप्त होती है जीवात्मा नहीं। वह अविनाशी, नित्य, निर्विकार है। जन्म मरण प्रकृति में होते हैं, आपमें नहीं होते। अतः यह सब भ्रममात्र है; जैसे हम रेलगाड़ी में चढ़ते हैं तो हमें भ्रम से खेत भागते दिखाई पड़ते हैं, वैसेही हमें जन्म और मरण का भ्रममात्र दिखाई पड़ता है। जब मनुष्य के मन में किसी विशेष वृत्ति का उदय रहता है तब उसे यह पृथ्वी है, यह सूर्य्य है, यह चंद्र है, ये तारे हैं, ऐसा भासमान होता है और जिन लोगों में चित्त में उसी वृत्ति का उदय रहता है उन्हें वैसा ही भासता है। आपके और हमारे बीच में करोड़ों ऐसे सत्त्व हो सकते हैं जो सत्ता की भिन्न भूमिकाओं में हों, जो न हमें देखते हों और न हम उन्हें। हमें वेही दिखाई पड़ते हैं जिनकी वृत्ति और भूमि में हमसे समानता है। उन्हीं बाजों से राग निकलता है जो समान लय के हों, यदि कंप की अवस्था जिसे हम 'मानव कंप' कह सकते हैं बदल जाय तो मनुष्य देखाई ही नहीं पड़ेंगें; मनुष्य विश्व के चिह्न उड़ जायँगे और कुछ और ही देखाई पड़ेगा—देवविश्व या असुरविश्व। इसी विश्व को हम मानव भूमिका से पृथ्वी सूर्य्य चंद्रादि के रूप में देखते हैं; यही विश्व

पापियों की भूमिका से यातनागार दिखाई पड़ता है। जिन्हें स्वर्ग की कामना है उन्हें यही विश्व स्वर्ग रूप देखाई पड़ता है। जिन लोगों के ये भाव हैं कि वे ईश्वर के पास जायेंगे, वह सिंहासन पर विराजमान होगा और वे सदा उसके सामने खड़े खड़े स्तुतियाँ करेंगे, शरीर छोड़ने पर उन्हें वैसा ही स्वप्न देख पड़ेगा; यही विश्व उनके लिये स्वर्ग रूप धारण कर लेगा और उन्हें इसीमें उड़ते देव और सिंहासनारूढ ईश्वर दिखाई देगा। ये सब स्वर्ग मनुष्यों की ही कल्पनामात्र हैं, अतः अद्वैतवादी का कथन है कि द्वैतवादियों का कहना ठीक है पर वह उन्हीं की कल्पनामात्र है। ये लोक, लोकांतर, देव, असुर, पुनर्जन्म, आवागमन सब पुराण की बातें हैं और वैसे ही मानव जीवन भी पौराणिक कल्पनामात्र है। मनुष्य सदा से ये बड़ी भूल करते आए हैं कि वे यह समझते हैं कि यही जीवन सत्य है; जब औरों को पुराणों की कल्पना कहते हैं तो वे उसे ठीक मान लेते हैं पर वे अपनी दशा को वैसे ही कल्पना मानने पर कभी उद्यत नहीं होते। सब कुछ जो दिखाई पड़ रहा है पुराणों की कल्पना मात्र सा है और सबसे बड़ी मिथ्या बात यह है कि हम शरीर हैं जो न हम कभी थे और न हो सकते हैं। सब मिथ्याओं से बड़ी मिथ्या तो यह है कि हम मनुष्य हैं; हम तो विश्वेश्वर हैं। ईश्वर को पूजने में हम अपनी ही गुप्त आत्मा की पूजा करते आए हैं। सबसे निकृष्ट मिथ्या बात जो आप अपने से कहते हैं यह है कि हम पापी होकर जन्मे हैं, हम बुराई लेकर

जन्मे हैं। पापी वही है जो दूसरे में पापी की भावना रखता है। मान लीजिए कि एक अनजान बालक है। आप मेज़ पर अशर्फियों की एक थैली डाल दीजिए। एक चोर आवे और थैली लेकर चलता बने। बालक के लिये सब बराबर है, जब भीतर चोर नहीं तो बाहर भी नहीं है। पापी और दुष्टों को बाहर दुष्टता ही दुष्टता है पर पुण्यात्मा को कहीं नहीं। अतः अधमों को संसार नरकरूप है, मध्यम कोटिवालों को स्वर्गरूप है और परिपक्वकषाय को यह ब्रह्मरूप है, उन्हें ब्रह्म ही देख पड़ता है। उस समय ही आँखों का पर्दा हट जाता है, मनुष्य धूतपाप और शुद्ध हो जाता है, उसके सारे दृश्य बदल जाते हैं। जो दुःस्वप्न उसे असंख्य वर्षों से दुःख दे रहे थे जाते रहते हैं और वही जो अपने को मनुष्य, देवता, वा राक्षस समझ रहा था, जो अपने नरक को स्वर्ग और मर्त्यलोक आदि में रहता समझता था अब अपने को सर्वव्यापक, काल का भी काल और काल-रहित पाता है; वह अपने को स्वर्ग का अधिष्ठान जानता है स्वर्गस्थ नहीं; सारे देवताओं को जिन्हें मनुष्य पूजते हैं वह आत्मगत देखता है और अपने को किसी एक देवता के रूप में नहीं देखता। वह देवता, राक्षस, मनुष्य, जंगम, स्थावर, कंकर, पत्थर, सबका रचनेवाला था; अब वह अपने रूप को देखता है जो स्वर्ग से भी ऊँचा, विश्व से भी पूर्ण, काल से भी अनंत और वायु से भी व्यापक है। ऐसा असंग होकर ही मनुष्य निर्भय और मुक्त हो जाता है। तब सब भ्रम हट जाते हैं, सारे दुःख दूर हो जाते

हैं, सब भय नाश हो जाते हैं, जन्म और उसके साथ मरण छूट जाता है, दुख और उसीके साथ सुख भी रफूचक्कर हो जाते हैं, पृथ्वी और उसीके साथ स्वर्ग का लोप हो जाता है; शरीर के साथ के मन का भी तिरोभाव हो जाता है। ऐसे मनुष्य के लिये मानों सारा विश्व लुप्त हो जाता है। यह जिज्ञासा, यह गति और यह शक्तियों की निरंतर चेष्टाएँ सदा के लिये मिट जाती हैं; जो कुछ द्रव्य वा शक्ति के रूप में, प्रकृति के प्रयास के रूप में, वा प्रकृति के रूप में, स्वर्ग, पृथ्वी, स्थावर, जंगम, मनुष्य, देवता आदि के रूप में व्यक्त हो रहे थे वे अब सब उसे अनंत अविछिन्न और निर्विकार सत्ता दिखाई पड़ते हैं और ज्ञाता अपने को उस सत्ता में एकीभूत पाता है। जैसे वर्षा वर्षा के मेघ आकाश में दिखाई पड़ते हैं और क्षणमात्र में विलुप्त हो जाते हैं वैसे ही इस आत्मा के सामने पृथ्वी, स्वर्ग, चंद्रलोक, देवलोक, सुख और दुःख के दृश्य आते हैं और चले जाते हैं और वही अनंत,नीला, अविनाशी आकाश ज्यों का त्यों बना रहता है। आकाश कभी बदलता नहीं है, केवल मेघ आते जाते रहते हैं। यह भ्रम है कि यह समझें कि आकाश बदलता है। यह समझना भ्रम है कि हम अशुद्ध हैं, परिमित हैं और विलग हैं। आत्मा ही एक अद्वितीय सत्ता है।

अब दो प्रश्न उठते हैं। एक यह है कि क्या इस बात का साक्षात् करना संभव है? यह मत वा दार्शनिक सिद्धांत तो है पर क्या इसका साक्षात् करना भी संभव है? उत्तर है कि-

संभव है इस संसार में ऐसे लोग विद्यमान हैं जिनके भ्रम सदा के लिये मिट गए हैं। तो क्या वे लोग ब्रह्मसाक्षात्कार होते ही मर जाते हैं ? इतने शीघ्र नहीं जितना कि हम समझते हैं। दो पहिये एक धुरे में लगे लुढ़के जा रहे हैं। यदि हम एक पहिया पकड़ लें और धुरी को कुल्हाड़ी से काट कर गिरा दें तो वह पहिया जिसे हम पकड़े हैं रुक जायगा किंतु दूसरे पहिये में पूर्व की शक्ति बनी है वह कुछ दूर चलेगा और फिर गिर पड़ेगा। यह शुद्ध और पूर्ण सत्ता, आत्मा, एक पहिया है और बाह्य भ्रम जो शरीर और मन का बना हुआ है दूसरा पहिया है और दोनों कर्मरूप धुरी से जुड़े हुए हैं। ज्ञान कुल्हाड़ी है जिससे दोनों काट कर अलग अलग कर दिए जाते हैं; आत्मा का पहिया तो रुक जायगा—वह आवागमन, जन्म-मरण के विचार को त्याग देगा, उसे ज्ञान होजाता है कि इच्छा और आकांक्षा प्रकृति के धर्म हैं, वह स्वयं पूर्ण और इच्छा से रहित निरीह है। पर दूसरे पहिये पर; जो मन और शरीर का है, पूर्व कर्म का प्रभाव बना रहता है; अतः वह तब तक जीता रहता है जब तक कि पूर्वजन्म के कर्मों का क्षय नहीं हो जाता; जब तक पूर्व जन्म के कर्म का भोग रहता है वह जीता है और भोग हो चुकने पर शरीर और मन के बंधन छूट कर आत्मा मुक्त हो जाती है। फिर उसे आवागमन नहीं रह जाता है, न वह स्वर्ग जाती और वहाँ से लौटती है, न ब्रह्मलोक न किसी और लोक लोकांतर में आती जाती है; वह कहाँ आवे,

कहाँ जाय ? वह मनुष्य, जो इसी जन्म में उस दशा को प्राप्त हो जाता है, जिसके लिये चणमात्र के लिये भी संसार का साधारण दृश्य बदल जाता है और इसका यथार्थ रूप देखाई देता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। वेदांत का यही उद्देश है अर्थात् जीवन्-मुक्ति का लाभ करना।

एक बार की बात है कि मैं पश्चिमीय भारत में भारत के सागर के किनारे मरुभूमि में जा रहा था। कई दिन तक मरुभूमि में पैदल चलना पड़ा। वहाँ मैंने प्रतिदिन सुंदर झीलें देखीं जिनके किनारे चारों ओर वृक्ष देख पड़ते थे और उनकी छाया स्वच्छ सरोवर के जल में हिलती दिखाई पड़ती थी। मैंने कहा, कैसी उलटी बात है ऐसे अच्छे प्रदेश को लोग मरुस्थल कहते हैं। इस प्रकार एक महीना भर मैं उस प्रदेश में चलता रहा और जब देखता तो सामने वही दृश्य दिखाई पड़ता—सुंदर स्वच्छ जल-पूर्ण सरोवर और किनारे किनारे हरे भरे वृक्ष। एक दिन मुझे प्यास लगी, पानी की आवश्यकता पड़ी, मैं एक सुंदर सरोवर की ओर बढ़ा। मेरा पहुँचना था कि वह लुप्त हो गया। कहीं पता नहीं। अब तो मैं समझ गया कि यही मृगतृष्णा है जिसके विषय में मैं पहले पढ़ चुका था। उसी समय मुझे जान पड़ा कि मैं महीने भर इसी सिरोह के दृश्य को देखता रहा पर जानता न था। दूसरे दिन मैं फिर आगे चला, फिर भी वही सरोवर सामने। तब मुझे यह प्रतीत हो गया कि यह मृगतृष्णा वा सिरोह है, सबा

सरोवर नहीं हैं। यही दशा इस विश्व की है, हम संसार की इस मृगतृष्णा के पीछे नित्य दौड़ते रहते हैं और यह नहीं समझते कि यह यथार्थ नहीं है। एक दिन यह टूट जायगी, पर फिर वही बात सामने आवेगी, शरीर तो पूर्व कर्म के अधीन रहे ही गा और मृगतृष्णा पुनः पुनः देख पड़ती रहेगी। जब तक हम कर्म के बंधन में हैं तब तक यह फिर फिर आती रहेगी। स्त्री पुरुष, वृक्ष वनस्पति, हमारे अभिनिवेश और धर्म वा कर्तव्य सब रहेंगे पर उनका वह प्रभाव न रहेगा। नए ज्ञान के प्रभाव से कर्म का बल टूट जायगा, इसका विष जाता रहेगा। इसका भाव बदल जाता है और साथ ही यह ज्ञान हो जाता है कि सत्य क्या है और मृगतृष्णा क्या है, इसका हमें विवेक उत्पन्न हो गया है।

यह संसार तब हमारे लेखे वैसा नहीं रह जायगा जैसा पहले था। इसमें यह एक भय भी है। सब देशों में लोग इस दर्शन को लेकर कहने लग जाँय कि 'मैं तो पाप और पुण्य से परे हूँ। किसी धर्मशास्त्र का मुझ पर बंधन नहीं है; मैं जो चाहे सो कर सकता हूँ'। आपको इस देश में कितने मूर्ख आज भी यह कहते मिलेंगे 'मैं बद्ध नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ। मुझे जो मन में आवे करने दो'। यह ठीक नहीं है; इसमें संदेह नहीं कि इतना तो ठीक है कि आत्मा सारे नियमों से परे है, उसपर भौतिक, मानसिक, धार्मिक कोई बंधन नहीं है। बंधन तो नियम में होने ही को कहते हैं; नियम से छूटना ही मोक्ष है। यह भी ठीक है कि मनुष्य का स्वभाव ही मुक्त है, वही इसका स्वरूप है,

वही उसका सत्य मुक्त स्वभाव इस प्रकृति की आड़ से लौकिक स्वतंत्रता के रूप में अपना प्रकाश फेंकता है। आपको अपने जीवन में प्रति क्षण यह जान पड़ता है कि आप स्वतंत्र हैं। हम जब तक अपने को स्वतंत्र न समझ लें हम न जी सकते हैं, न बातें कर सकते हैं, न सांस ले सकते हैं। पर इसके साथ कुछ विचार से यह प्रगट होता है कि हम दूसरे के हाथ की कठपुतली हैं, स्वतंत्र तो नहीं हैं। सच्ची बात क्या है ? क्या यह स्वतंत्रता का भाव मिथ्या भ्रम है ? एक पक्षवालों का विचार है कि यह स्वतंत्रता भ्रममात्र की है; दूसरे पक्षवाले कहते हैं कि बंधन की बात ही भ्रम है। इसका कारण क्या है ? बात यह है कि जीवात्मा केवल मुक्तस्वभाव है; पर जब वह माया में ग्रस्त होकर संसार, नाम रूप की उपाधि को धारण करती है तो वह बद्ध हो जाती है। स्वेच्छा का शब्द ही अचरितार्थ है। इच्छा में कभी स्वतंत्रता हो नहीं सकती। यह संभव ही कैसे है ? जीवात्मा के बंधन में आने ही पर तो उसमें इच्छा उत्पन्न होती है। वह पहले कहाँ थी ? मनुष्य की इच्छा बद्ध है। पर उस इच्छा का मूल नित्यमुक्त है। अतः बद्धदशा में भी, जिसे हम मनुष्ययोनि, देवयोनि, वा स्वर्ग वा पृथ्वी पर जन्म की दशा कहते हैं, हमें उसी अपनी स्वतंत्रता का स्मरण बना रहता है जो हमारा स्वरूप और स्वभाव है। जान कर या अनजान में हम उसी के लिये सारा प्रयास कर रहे हैं। जब मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है तो वह किसी नियम के

बंधन में कैसे आ सकता है ? इस विश्व का कोई नियम उसे बंधन में नहीं रख सकता है, क्योंकि यह विश्व तो स्वयं उसी का है।

वही सारा विश्व है। चाहे उसे सारा विश्व मानो वा यों कहो कि उसके लिये विश्व ही नहीं है। भला तब जाति देशादि के समान तुच्छ विचार उसे कैसे बाँध सकते हैं ? यह वह कैसे कह सकता है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं बालक हूँ ? क्या ये मिथ्या नहीं हैं ? वह उन्हें मिथ्या समझता है। यह वह कैसे कह सकता है कि ये पुरुष के अधिकार हैं। और ये स्त्री के अधिकार हैं ? किसी का कोई अधिकार नहीं; कोई अलग तो है ही नहीं। न वहाँ पुरुष है, न स्त्री है, आत्मा अलिंग और नित्य शुद्ध है। यह कहना कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं इस देश का हूँ, मैं उस देश का हूँ, मिथ्या है। सारा संसार अपना ही देश है, सारा विश्व अपना ही है क्योंकि वेही तो मेरा शरीर है जो मुझे आवृत किए हुए है। फिर भी हमें इस संसार में ऐसे लोग मिलते हैं जो इस सिद्धांत को मानने के लिये तो तैयार हैं पर ऐसे कर्म करते हैं जो बड़े ही घृणित कहे जाने योग्य हैं; और यदि उनसे पूछिए कि आप यह काम क्यों करते हैं तो वे कहते हैं कि आपको भ्रम से ऐसा जान पड़ता है, हम तो कोई बुरा काम कर ही नहीं सकते। अब ऐसे लोगों की पारिख क्या है ? वह यह है।

इसमें संदेह नहीं कि भला और बुरा दोनों आत्मा की अन्योन्याश्रित अभिव्यंजनाएं हैं पर अशुभ कर्म मनुष्य की आत्मा का बाह्य आवरण और शुभ कर्म आंतरिक और समीपतर आवरण है। जब तक अशुभ कर्म का आवरण दूर नहीं होता शुभ कर्म का आवरण प्रगट नहीं होता है और जब तक दोनों शुभाशुभ आवरणों का चय न हो आत्मा का रूप स्वच्छ दिखाई नहीं पड़ सकता। जब कोई आत्मा तक पहुँच गया तब क्या हटाना रह जाता है, किसका ध्वंस करना शेष रहता है? केवल थोड़े से पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कारमात्र का, जो शुभ कर्मों ही का होता है। जब तक पूर्व के पाप कर्मों का भोग नहीं हो जाता, पहले के मलों का चय नहीं हो जाता, वे बिलकुल भस्म नहीं हो जाते, तब तक कोई सत्य को न साचात् कर सकता है न उसे देख ही सकता है। जो मनुष्य आत्मा को प्राप्त कर लेता है, सत्य का साचात्कार कर लेता है, उसमें केवल अच्छे पूर्व जन्म के संचित कर्म ही बच रहते हैं। ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष जब तक जीवित रहता है निरंतर अच्छे काम ही करता रहता है, सबके लिये हितकर वचन कहता, हाथों से परोपकार करता, मन से सबके लिये शुभचिंतन करता रहता है; उसकी उपस्थिति जहाँ वह रहता है सबके लिये कल्याणकर रहती है। वह स्वयं कल्याण का रूप है। ऐसा पुरुष अपने दर्शनमात्र से महा मलीन दुष्टात्मा को सज्जन और महात्मा बना सकता है। यदि वह कुछ न भी कहे तो उसकी

उपस्थिति ही सबके लिये कल्याण का कारण है। क्या ऐसा पुरुष कोई बुराई कर सकता है; क्या उससे पाप कर्म हो सकते हैं? आप स्मरण रखिए कि साक्षात् करने और बातें बनाने में सुमेरु कुमेरु का अंतर है, आकाश पाताल का अंतर है। मूर्ख मनुष्य बातें कर सकता है; तोते भी बकवाद कर सकते हैं। बकना और बात है और साक्षात् करना और बात है। दर्शन और सिद्धांत, तर्क और ग्रंथ, विचार और मंदिर और संप्रदाय इत्यादि सब अपने अपने ढंग पर अच्छे हैं; पर साक्षात्कार होने पर ये सब बातें जाती रहती हैं। जैसे नकशे वा मानचित्र बहुत अच्छे हैं पर जब आप किसी देश को देख लेते हैं और फिर मानचित्र को देखते हैं तो कितना अंतर दिखाई पड़ता है! अतः जो लोग सत्य का साक्षात् कर लेते हैं उन्हें तर्क की युक्ति की अपेक्षा नहीं रहती, उन्हें सत्य के स्पष्टीकरण के लिये किसी तर्कयुक्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती; मूर्तिमान् सत्य उनके जीवन का जीवन है और उनके लिये बहुत ही स्पष्ट प्रतीत होता है। वेदांत कहता है उन्हें सब 'हस्तामलक' हो जाता है और वे सब कुछ स्पष्ट देखते हैं। अतः जो सत्य को साक्षात् कर लेते हैं उन्हें आत्मा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। आप उनसे वर्षों तर्क करते रहें, पर वे आप पर हँसेंगे; वे उसे बच्चों की बातें समझेंगे और आपके बकने पर ध्यान न देंगे। उन्हें सत्य का साक्षात् हो गया है और उनकी तृप्ति हो गई है। मान लीजिए आपने किसी देश को देखा है, अब कोई आकर आपसे तर्क

और वाद करे कि वह देश है ही नहीं; वह तर्क करता रहे, वर्षों बका करे, पर आपके विचार में वह पागल है और पागल-खाने जाने योग्य है। अत: आत्मज्ञानी कहते हैं कि संसार की सारी बकवाद कि यह धर्म अच्छा है, वह धर्म अच्छा है, व्यर्थ है; धर्म का सार आत्मज्ञान है। धर्म का साक्षात्कार हो सकता है। आप साक्षात्कार करने को उद्यत हैं? आपको इसकी आवश्यकता है? आप यदि चाहें तो इसको साक्षात् कर सकते हैं और साक्षात् करने पर ही आप सच्चे धार्मिक हो सकेंगे। जब तक आप साक्षात्कार न कर लें आपमें और नास्तिक में भेद क्या है? नास्तिक तो सच्चे हैं पर वह मनुष्य जो धर्म की डोंड़ी पीटता है और धर्म का साक्षात्कार नहीं करता झूठा है।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि साक्षात्कार के अनंतर होता क्या है? मान लीजिए कि हमने यह साक्षात् कर लिया कि विश्व में एक ही सत्ता है और हमही वह अनंत सत्ता हैं; मान लीजिए कि हमें उस विश्वव्यापी सत्ता का बोध हो गया और हम यह जान गए कि संसार में जो कुछ देख पड़ता है सब उसी की अभि-व्यक्तियाँ हैं तो फिर इसका फल क्या है? क्या हम अक्रिय बनकर एक कोने में बैठ रहें और वहीं आजन्म पड़े रहें? इससे संसार का क्या लाभ होगा? फिर वही पुराना प्रश्न आता है! पहले यह तो बतलाइए कि हम संसार की भलाई करें तो क्यों करें? क्या कोई हेतु है कि हम करें ही? किसी को हमसे यह पूछने का अधिकार ही क्या है कि इससे संसार का क्या

लाभ है ? इसका अभिप्राय क्या है ? एक बच्चे को मिसरी प्रिय है । मान लीजिए कि आप विद्युत् संबंधी किसी विषय की खोज कर रहे हैं और बच्चा आपसे कहे कि 'क्या इससे मिसरी मिल जायगी' ? तो आप उसका उत्तर देंगे कि 'मिसरी इससे न मिलेगी' । तो बच्चा आपसे यही कह सकता है कि 'फिर इससे लाभ क्या है ?' इसी प्रकार लोग यह प्रश्न करेंगे कि 'इससे जगत् का क्या लाभ है; इससे रुपया तो नहीं मिलेगा ?' इसका उत्तर आप इसके सिवा क्या देंगे कि 'नहीं' ? फिर वही प्रश्न घूम फिर कर आवेगा 'कि फिर इससे लाभ क्या है' ? संसार को लाभ पहुँचाने का वही अर्थ है जो बालक के बिजली की खोज से मिसरी पाने का है । पर धर्म के साक्षात्कार से संसार का सारा लाभ है । लोगों को भय है कि जब वे इसे प्राप्त कर लेंगे, जब वे यह साक्षात् कर लेंगे कि 'एक ही' है, तब प्रेम का स्रोत सूख जायगा, इस जीवन की सारी बातें जाती रहेंगी, जो बातें उन्हें प्रिय जान पड़ रही हैं उनका मानों इस जन्म में और भावी जन्म के लिये लोप हो जायगा । लोग यह बात सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि संसार में बड़े बड़े काम करनेवाले वे ही लोग हो गए हैं जिन्होंने अपनी व्यक्तिता पर तनिक भी ध्यान न दिया है। मनुष्य तभी प्रेम करता है जब वह यह जानता है कि जिससे हम प्रेम कर रहे हैं वह मिट्टी की डली नहीं है अपितु सचमुच स्वयं ईश्वर ही है। पत्नी पति

से तभी अधिक प्रेम करेगी जब वह यह जानेगी कि पति स्वयं ईश्वर है और तभी पति का प्रेम पत्नी पर विशेषरूप से होगा जब वह उसे ईश्वर समझेगा। वह माता जो अपनी संतान को ईश्वर समझे उनसे अधिक प्रेम करेगी । वही मनुष्य अपने शत्रु से प्रेम करेगा जो यह जानेगा कि वह शत्रु ईश्वर है। वही पुरुष महात्मा से प्रेम करेगा जो उस महात्मा को ईश्वर समझेगा और वही मनुष्य अति जघन्य पुरुष से प्रेम रखेगा जो यह समझे कि उस जघन्य में भी वही भगवान् है। ऐसा ही मनुष्य संसार का संचालक बनता है जिसमें उसका क्षुद्र आत्मभाव नष्ट होकर उसके स्थान में ब्रह्म के भाव का उदय होगया है। उसके सामने सारा विश्व कुछ और ही रूप धारण कर लेगा। जो कुछ कष्टकारक और दुखदायी है सब क्षय को प्राप्त हो जायगा; सारे झगड़े निवृत्त हो जायँगे, भाग जायँगे। यह संसार जो बंदीगृह बना है, जिसमें हम नित्य एक टुकड़ा रोटी के लिये लड़ते झगड़ते रहते हैं, तब क्रीड़ागार बन जायगा। तब विश्व सुंदर रूप धारण कर लेगा, सुहावना जान पड़ेगा। ऐसे मनुष्य को उठ कर यह कहने का अधिकार है कि 'यह संसार कैसा सुहावना है ?' उसी अकेले को यह कहने का अधिकार है कि सब भला ही भला है । ऐसे साक्षात्कार से संसार का बड़ा हा उपकार होगा; यदि आजकल के लोग इस सत्य के अंशमात्र का साक्षात्कार कर लें तो यही संसार जहाँ दिन रात रगड़ा झगड़ा मचा रहता है, कुछ और ही हो जाय,

उसकी दशा फिर जाय, इस संसार में जहाँ लड़ाई झगड़े मच रहे हैं शांति का साम्राज्य विराजने लग जाय। यह अशिष्ट और पशुओं के समान न्यमता जिससे लोग ठेलमठेला कर रहे हैं इस संसार में न दिखाई पड़े। इसी के साथ सारे झगड़े, सारी घृणा, सारी ईर्ष्या, सारी बुराइयाँ सदा के लिये जड़ से विदा हो जायँ। तब इस पृथ्वी पर ईश्वर विराजमान होगा। यही भूमि तब स्वर्ग हो जायगी और वहाँ कौन सी बुराई रह जायगी जहाँ देवता देवताओं के साथ खेलेंगे, देवता देवताओं के साथ काम करेंगे, और देवता देवताओं से प्रेम करेंगे? दैवी साक्षात्कार की यही बड़ी उपयोगिता है। सब कुछ जो आपको समाज में दिखाई पड़ रहा है बदल जायगा, कुछ और ही हो जायगा। सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि आप फिर मनुष्य को बुरा न समझेंगे। फिर आप किसी बेचारे पर उसकी भूल के कारण खड़े हो कर दांत न पीसेंगे, ताना न मारेंगे, और लाल लाल आँखें न निकालेंगे। कुलीन स्त्रियाँ किसी गरीबिन को नीच दृष्टि न देखेंगी जो रात को गलियों में मारी मारी फिरती हैं क्योंकि आपको उसमें ईश्वर ही दिखाई पड़ेगा। ईर्ष्या और दंड का नाम न रहेगा। वे सब लुप्त हो जायँगे और प्रेम, प्रेम का बड़ा आदर्श, इतना प्रबल हो जायगा कि मनुष्यों को सन्मार्ग पर ले जाने के लिये किसी दंड या बंधन की आवश्यकता न रह जायगी।

यदि इस संसार में रहनेवाले स्त्री पुरुषों में करोड़ पीछे एक क्षण भर के लिये बैठ कर यह कहे कि हे मनुष्यो, हे पशुओ,

प्राणियो, तुम सब ब्रह्म हो, उसी एक ब्रह्म की अभिव्यक्तिमात्र हो, तो आधे घंटे में संसार की दशा और से और हो जावे। सर्व देशों में लोग चारों ओर कोने कोने घृणा का बंब फेंकने और ईर्ष्या और अनिष्ट चिंतन का प्रवाह बहाने की जगह चारों ओर से यहा समझने लग जायें कि सब वही है। जो तुम देखते और समझते हो वह वही है। भला तुम्हें कोई बुरा कैसे देख पड़ेगा जब तक तुम्हारे भीतर ही बुरा न हो ? तुम्हें कोई चोर देख कहां से पड़ेगा जब तक वह तुम्हारे मन के भीतर न बैठा हो ? तुम्हें कोई घातक कैसे देख पड़ेगा जब तक कि तुम स्वयं घातक न हो ? अच्छे बनो, बुराई आपसे आप भाग जायगी। सारा विश्व इस प्रकार बदल जायगा। यही समाज के लिये बड़ा लाभ है। यह मनुष्य समुदाय का बड़ा लाभ है। भारतवर्ष के प्राचीन काल के लोगों ने इन बातों का विचार किया है, इनका आचरण किया है। अनेक कारणों से, जैसे आचार्य्यों के रहस्य गुप्त रखने और विदेशियों के आक्रमणों से, इन विचारों का प्रचार न हो सका, उसमें बाधा पड़ गई। पर वे परम सत्य थे, जहाँ जहाँ उनका प्रभाव पड़ा मनुष्य देवता हो गए। ऐसे ही एक महात्मा के संसर्ग से मेरा तो जीवन बदल गया। मैं उस महापुरुष के विषय में अगले रविवार को कहूँगा। अब वह समय आ रहा है कि इन विचारों का प्रचार सारे संसार में कोने कोने में होगा। मठों में बंद रहने, और दर्शनों के ग्रंथों में जिन्हें विद्वान् लोग ही अध्ययन कर सकें धरे रहने, संप्रदाय विशेष और इने गिने विद्वानों की

संपत्ति बने रहने के स्थान पर अब उनका प्रचार सारे संसार में डंके की चोट होगा; उन्हें सब लोग देखेंगे, वे सज्जन असज्जन आबाल वृद्ध, स्त्री पुरुष, पंडित मूर्ख, सबकी साझे की संपत्ति बनेंगे। सारे विश्व के आकाश में वे व्याप्त हो जायँगे और हमारे सांस लेने की वायु के प्रत्येक प्रकंपन से यही 'तत्त्वमसि' वाक्य निकलेगा। और सारा विश्व, अपने अनगिनत सूर्य्य चंद्रादि के साथ, जितने बोलनेवाले हैं उतनों के मुँह से, 'तत्त्वमसि' वाक्य का उच्चारण करेगा।